Ph.D Thesis

समकालीन हिंदी कविता में जीवन - मूल्य

SAMAKALEEN HINDI KAVITA MEIN JEEVAN MOOLYA

Thesis

Submitted to

Cochin University of Science & Technology

For The Degree of

Doctor of Philosophy

In

Hindi

By

RESHMA V C

DEPARTMENT OF HINDI

Cochin University of Science &Technology

Cochin 22

MAY 2018

COCHIN UNIVERSITY OF SCEINCE AND TECHNOLOGY

DEPARTMENT OF HINDI

Prof. Dr. Devaki N.G(Rtd) Ph. No. 0484- 2575954

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **'SAMAKALEEN HINDI KAVITA MEIN JEEVAN MOOLYA'** is a bonafide record of research work carried out by **Smt.RESHMA V C** under my guidance for Ph.D Degree and no part of this has hitherto been submitted for a Degree in any University. All the relevant corrections and modification suggested by the audience during pre-submission seminar and recommended by the Doctoral Committee of the candidate has been incorporated in the thesis.

Dr. N G Devaki

Supervising Guide

Place : Cochin

Date : / 05 /2018

DECLARATION

I hereby declare that the thesis entitled '**SAMAKALEEN HINDI KAVITA MEIN JEEVAN MOOLYA'** based on the original work done by me under the guidance of **Prof.Dr. Devaki N G**, Faculty of Humanities, Dept. of Hindi, Cochin University of Science and Technology, Cochin – 68 20 22 no part of this thesis has been included in any other thesis submitted previously for the award of any degree, in any other University.

Smt. RESHMA V C

Dept. of Hindi

Cochin University of Science and Technology

Cochin-682022

Place: Cochin-22

Date : / 05 / 2018

“सिक्कों का मूल्य यहाँ सब जानते हैं
मनुष्य का मूल्य कोई नहीं जानता।”
(एकांत श्रीवास्तव - बीज से फूल तक - पृ. 23)

शोधार्थिनी द्वारा प्रकाशित शोध प्रपत्र

- 'भवानी प्रसाद मिश्र की काव्य - भाषा' - अनुशीलन हिंदी विभाग, कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्यौगिकी विश्वविद्यालय, जुलाई - 2013
- 'नागकेसर का देश यह में लोकजीवन की अभिव्यक्ति' - अनुशीलन, हिंदी विभाग, कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, जुलाई - 2014
- 'समकालीन कविता का प्रतिरोधी स्वर : जीवन - मूल्यों के विशेष संदर्भ में' - अनुशीलन , हिंदी विभाग , कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, जुलाई - 2016
- 'समकालीन हिंदी कविता में जीवन मूल्य' - अभिज्ञान देवार्पणा प्रकाशन, केरल, ISBN 978 - 93 - 5212 - 830 - 3

भूमिका

मनुष्य को मानवीयता की दृष्टि से देखने का पाठ मूल्यों से ही विकसित हुआ है। विश्व मानवीय संस्कृति का आधार जीवन - मूल्य है। जीवन मूल्य मनुष्य को मनुष्य बनानेवाला तत्त्व है। मनुष्य में मानवीयता का गुण पैदा करने का स्रोत है। इसका एकमात्र लक्ष्य मनुष्य जीवन की सार्थकता है तथा यह सभी मानवीय संबंधों को सकारात्मक रूप देने के प्रक्षधर है। वैसे तो प्रारंभिक युग से लेकर आज तक साहित्य भी मानवीयता को प्रोत्साहन देने में महत्वपूर्ण कार्य करता आ रहा है। मानवीयता के संदेश को जन सामान्य तक पहूँचाने के सशक्त माध्यम के रूप में साहित्य की स्वीकृति हुई है। साहित्य की सभी विधाओं ने इसमें सराहनीय योगदान किया है। कविता इसमें विशेष स्थान के अधिकारी है। पहले से लेकर जीवन - मूल्यों के निर्वाह में कविता ने महती भूमिका निभाई है।

हिंदी कविता साहित्य के आदिकाल से लेकर समकालीन समय तक के इतिहास को देखें तो समझ जाएँगे कि इसके केंद्र में मनुष्य है, मानव - जीवन एवं जीवन - मूल्य है। युगीन परिवर्तन के अनुकूल जीवन के प्रति मनुष्य का दृष्टिकोण बदल जाता है। समय एवं परिवेश से उपलब्ध होनेवाली सुविधाएँ कभी - कभी मनुष्य के आचरण पर नकारात्मक प्रभाव डालती है। इसका असर उसके वैयक्तिक एवं सामाजिक संबंधों पर पड़ता है साथ ही सभी मानवीय संवेदनाओं के अस्तित्व को भी मिटा देता है। इसका दबाव मानव जीवन से जुड़े सभी पक्षों को भोगना पड़ता है। समकालीन संदर्भ में वैयक्तिक, सामाजिक, सांस्कृतिक,

राजनीतिक, आर्थिक जीवन - मूल्यों में हुए नगण्य परिवर्तन इस तथ्य को सही स्थापित कर देनेवाले हैं।

आज हम इक्कीसवीं सदी में पहूच गए हैं। मनुष्य ज़िन्दगी के हर कदम में प्रगति कर रहा है। विज्ञान एवं तकनीक ने मनुष्य को बहुत ही समृद्ध एवं विलासितापूर्ण जीवन बिताने का अवसर प्रदान किया है। इस भोगविलास में पड़कर मनुष्य के आचरण से इनसानियत, प्यार, भरोसा, परदुःखकातरता, प्रतिक्रियात्मकता, प्रतिबद्धता आदि भावनाएँ नष्ट हो गई है। इन सबको लेकर समकालीन हिंदी कविगण चिंतित है। उनकी आकांक्षाएँ उनकी कविताओं में हम देख सकते हैं। **समकालीन हिंदी कविता में जीवन मूल्य** शीर्षक प्रस्तुत यह शोध प्रबंध जीवन मूल्यों के प्रति सजगता बनाये रखने केलिए किया गया विनम्र प्रयास है।

जीवन - मूल्य एक विस्तृत एवं व्यापक परिकल्पना है इसकी जड़ें मानव जीवन की सभी दिशाओं में व्याप्त है। विषय की समग्रता को ध्यान में रखकर प्रस्तुत शोध प्रबंध को पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है। शोध प्रबंध का पहला अध्याय है **'जीवन - मूल्य की अवधारणा'**। इसमें जीवन मूल्य के स्वरूप एवं परिभाषा, जीवन - मूल्यों का वर्गीकरण और जीवन - मूल्य एवं हिंदी कविता साहित्य आदि विषयों के आधार पर भूमिका तैयार की गई है। इसके द्वारा हम समझ पाएँगे कि मानव जीवन में जीवन मूल्यों की अहमियत क्या है? और जीवन मूल्यों के संरक्षण में साहित्य का योगदान कैसा है?

दूसरा अध्याय **"समकालीन हिंदी कविता में वैयक्तिक - सामाजिक जीवन - मूल्य"** है। इसमें सबसे पहले व्यक्ति, समाज और जीवन - मूल्यों के अंतः संबंध पर ज़ोर देते हुए वैयक्तिक जीवन - मूल्यों को मानवीय संवेदनाओं एवं मानवीय

संबंधों के आधार पर देखा गया है। जाति, धर्म, लिंग आदि भेदभावों के घेरे में पड़े मानव जीवन की तत्कालीन सामाजिक स्थिति के विकृत चेहरे को प्रकाश में लाने का प्रयास हुआ है। साथ ही उपेक्षित वर्गों की ज़िंदगी को भी इसमें स्थान दिया गया है।

"समकालीन हिंन्दी कविता में सांस्कृतिक जीवन मूल्य" शोध प्रबंध का तीसरा अध्याय है। यहाँ संस्कृति संबंधी भारतीय परिकल्पना पर ज़ोर देते हुए वर्तमान समय के बिगड़े सांस्कृतिक जीवन - मूल्यों का विश्लेषण कविताओं के आधार पर किया गया है। समग्र रूप से इस तथ्य को प्रकाश में लाने केलिए धर्म, कला, नैतिकता आदि में आई रूढ़िवादिता एवं कटट्रता पर प्रकाश डाला गया है साथ ही उपयोगितावादी, बाज़ारू, लाभकेंद्रित, तकनीकी एवं महानगरीय संस्कृति भी यहाँ चर्चा का विषय है।

चौथा अध्याय **"समकालीन हिंदी कविता में राजनीतिक जीवन मूल्य"** है। यहाँ जीवन मूल्यों को वर्तमान राजनीतिक परिवेश में देखने - परखने का प्रयास हुआ है। लोकतंत्र की विशेषताओं एवं चुनौतियों को ध्यान में रखते हुए समकालीन राजनीतिक अव्यवस्था का विश्लेषण किया गया है। समाजवाद, सांप्रदायिकता, भ्रष्टाचार, गुटबंदी नीति न्याय व्यवस्थाओं की त्रुटियाँ, मीडिया का प्रभाव आदि सब मूल्यों के विघटन में पुष्टिकारक घटक के रूप में उपस्थित है। इन पर चर्चाएँ चौथे अध्याय का प्रमुख मुद्धा है।

पाँचवां अध्याय **'समकालीन हिंदी कविता में आर्थिक जीवन मूल्य'** है। यहाँ विश्वबैंक, विश्वव्यापार संगठन, अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष की अर्थनीति के शिकार हुए तीसरी दुनिया के लोगों की आर्थिक बदहालत पर नज़र डाला गया

है। समकालीन संदर्भ में अर्थ संबंधी परिकल्पना किस प्रकार मूल्य से मूल्यहीनता की ओर बढ़ रहा है इस पर विश्लेषण हुआ है।

अंत में उपसंहार है। इसमें प्रस्तुत शोध विषय के सटीक एवं विस्तृत विश्लेषणात्मक अध्ययन के उपरांत प्राप्त निष्कर्षों को प्रस्तुत किया गया है।

उपसंहार के बाद सहायक ग्रंथ - सूची प्रस्तुत की गई है। प्रस्तुत अध्ययन केलिए आवश्यक मूल तथा सहायक सामग्री पंचसूत्री कार्यविधि के आधार पर पेश की गई है।

शोध प्रबंध को आपके सम्मुख इसी आशा के साथ प्रस्तुत कर रही हूँ कि यह प्रयास वर्तमान एवं आगे आने वाली पीढ़ी को मानव मूल्यों के वाहक बनाने में सफल रहेगा।

प्रस्तुत शोध कार्य में अगर कोई त्रुटि या कमी रह गयी हैं तो इसके लिए शोधार्थी क्षमाप्रार्थी है। इसी प्रार्थना के साथ शोध प्रबंध को विद्धानों के सामने सविनय समर्पित कर रही हूँ।

कोच्ची - 22

/05/2018

विनम्र

रेष्मा वी. सी

कृतज्ञता - ज्ञापन

प्रस्तुत शोध प्रबंध कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग की प्रोफसर डॉ. देवकी. एन. जी के निर्देशन में संपन्न हुआ है। उनकी कार्यकुशलता एवं सहयोग ने इस शोध कार्य के विषय चुनाव से लेकर उसकी समाप्ति के चरण तक मेरा साथ दिया है। मुझे आत्मविश्वास के साथ आगे बढ़ाने की प्रेरणा उनसे ही प्राप्त हुई है और इस शोधकार्य को साकार रूप देने में मैं कामयाब हुई। मैं अपनी शोध निर्देशिका के प्रति शुक्रगुज़ार हूँ।

इस शोध कार्य को संपन्न करने में मुझे अपने विषय विशेषज्ञ कोच्चिन विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष प्रोफेसर. डॉ.के अजिताजी का सहयोग प्राप्त हुआ है जिनके प्रति में कृतज्ञ हूँ। विभाग के प्रोफेसर एवं मानविकी संकाय अध्यक्ष महोदया डॉ. के वनजाजी जिन्होंने अपनी व्यस्तता में भी मेरी शंकाओं को दूर करने में अपने बहुमूल्य समय मुझे दिया इसके लिए मैं उनकी आभारी हूँ। प्रोफेसर डॉ. आर शशिधरनजी से भी इस शोधकार्य के संदर्भ में मुझे सहयोग प्राप्त हुआ है जिनके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ। शोधकार्य के संदर्भ में सहयोग देनेवाले विभाग के अन्य अध्यापक गण के प्रति मैं आभार व्यक्त कर रही हूँ।

शोधकार्य की संपन्नता में कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के पुस्तकालय के कर्मचारियों का सहयोग भी अविस्मरणीय है जिनके प्रति मैं आभारी हूँ।

इस शोधकार्य के बीच - बीच में मुझे अपने साथियों का बहुमूल्य सहयोग भी प्राप्त हुआ है जिनके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ। मेरे परिवारवालों जिनके प्रोत्साहन, दुआओं एवं अशीष से ही मैं यह कार्य संपन्न करने में कामयाब हुई हूँ। जिनको मैं हृदय से धन्यवाद दे रही हूँ। इस शोध कार्य की सफलता में मैं विशेष रूप से ईश्वर के प्रति कृतज्ञ हूँ।

रेष्मा वी. सी

शोध छात्रा

हिंदी विभाग

कोच्चिन विज्ञान व

प्रोद्योगिकी विश्वविद्यालय

कोच्चिन - 22

/ 05 /2018

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

पहला अध्याय

जीवन मूल्य की अवधारणा 1 -63

1.1 जीवन मूल्य स्वरूप एवं परिभाषा

1.1.1 मूल्य शब्द की उत्पत्ति एवं व्यापकता

1.1.2 मूल्य की परिभाषाएँ

1.1.3 मानव जीवन और जीवन - मूल्य का अंत : संबंध

1.1.4 जीवन मूल्यों के निर्माणात्मक तत्त्व

1.2 जीवन - मूल्यों का वर्गीकरण

1.2.1 वैयक्तिक और सामाजिक जीवन - मूल्य

1.2.2 सांस्कृतिक जीवन - मूल्य

1.2.3 राजनीतिक जीवन मूल्य

1.2.4 आर्थिक जीवन मूल्य

1.3 जीवन - मूल्य और हिंदी कविता साहित्य

1.3.1 पूर्वाधुनिक हिंदी कविता में जीवन मूल्य

1.3.2 आधुनिक हिंदी कविता में जीवन मूल्य

1.3.3 समकालीन हिंदी कविता में जीवन मूल्य

निष्कर्ष

दूसरा अध्याय 65-184

समकालीन हिंदी कविता में वैयक्तिक - सामाजिक जीवन मूल्य

2.1 व्यक्ति समाज और जीवन - मूल्य

2.2 वैयक्तिक जीवन - मूल्य

2.2.1 मानवीय संवेदनाएँ

2.2.1.1 परदुःखकातरता

2.2.1.2 प्रतिक्रियात्मकता

2.2.1.3 प्रतिबद्धता

2.2.1.4 प्यार

2.2.1.5 भरोसा

2.2.2 मानवीय संबंध

2.2.2.1 पारिवारिक संबंध

2.2.2.2 प्रेम संबंध

2.2.2.3 दोस्ती

2.3 सामाजिक जीवन - मूल्य

2.3.1 जाति भेद का विरोध

2.3.2 धर्म भेद का विरोध

2.3.3 लिंग भेद का विरोध

2.3.4 उपेक्षित वर्गों की सामाजिक स्वीकृति

निष्कर्ष

तीसरा अध्याय

समकालीन हिंदी कविता में सांस्कृतिक जीवन - मूल्य 186 - 324

3.1 संस्कृति स्वरूप एवं अवधारणा

3.1.1 धर्म और संस्कृति

3.1.2 कला और संस्कृति

3.1.3 परंपरा और संस्कृति

3.1.4 दर्शन और संस्कृति

3.1.5 सभ्यता और संस्कृति

3.2 वर्तमान भारतीय संस्कृति और जीवन - मूल्य

3.3 धर्म और सांस्कृतिक जीवन - मूल्य

3.4 कला ,साहित्य एवं भाषा

3.5 संस्कृति एवं रूढ़िवादी परंपराएँ

3.6 नैतिकता और संस्कृति

3.7 उपयोगितावादी संस्कृति

3.8 बाज़ारू एवं धन केंद्रित संस्कृति

3.9 तकनीकी एवं यांत्रिक संस्कृति

3.10 लाभ केंद्रित संस्कृति और प्रकृति

3.11 महानगरीय संस्कृति

3.12 पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण

निष्कर्ष

चौथा अध्यय

समकालीन हिंदी कविता में राजनीतिक जीवन - मूल्य 326 - 424

4.1 जीवन मूल्य और भारतीय राजनीति की परिकल्पना

4.2 लोकतंत्र और उसकी विशेषताएँ एवं चुनौतियाँ

4.2.1 लोकतंत्र की विशेषताएँ

4.2.1.1 धर्म निरपेक्षता

4.2.1.2 सांप्रदायिकता विरोध

4.2.1.3 जाति और जातीयता

4.2.1.4 वैधता और वैधानिकता

4.2.1.5 मानवाधिकार संरक्षण

4.2.2 लोकतंत्र की चुनौतियाँ

4.3 समाजवाद और आम जनता

4.4 भ्रष्टराजनीति एवं राजनीतिज्ञ

4.5 राजनीतिक गुटबंदी

4.6 नीतिन्याय व्यवस्था एवं मानवाधिकार

4.7 आतंकवाद, युद्ध और अमानवीय हत्याएँ

4.8 राजनीतिक दंगा फसाद एवं युवापीढ़ी

4.9 राजनीति और मीडिया

4.10 सांप्रदायिकता

निष्कर्ष

पाँचवाँ अध्याय

समकालीन हिंदी कविता में आर्थिक जीवन - मूल्य 426 - 485

5.1 भारतीय अर्थ - व्यवस्था

5.1.1 उदारीकण एवं निजीकरण

5.1.2 भूमंडलीकरण और बाज़ारीकरण

5.1.3 राजनीति और अर्थनीति

5.2 आर्थिक असमानताएँ

5.3 गलत अर्थनीति के प्रति सजगता

5.4 गरीबी, बेरोज़गारी और जीवन मूल्यों का ह्रास

5.5 पूँजीवाद का विरोध

5.6 विकास - योजनाएँ एवं भारतीय - जनता

निष्कर्ष

उपसंहार 487-491

संदर्भ ग्रंथ सूची 493 - 508

पहला अध्याय

जीवन - मूल्य की अवधारणा

पहला अध्याय

जीवन - मूल्य की अवधारणा

मूल्य शब्द का संबंध मूलतः आर्थिक क्षेत्र से है लेकिन मानव जीवन के हर पहलू पर इस शब्द का अपना महत्त्व है। आज के उपयोगितावादी समाज में इस शब्द की महनीयता और भी बढ़ गई है। जीवन के हर पहलू को हम उपयोगिता की नज़र से ही आंकते हैं। चाहे वह धार्मिक हो, आर्थिक हो, राजनीतिक हो, सांस्कृतिक हो या सामाजिक साहित्य भी इससे दूर नहीं। कोई भी साहित्यिक रचना तभी सफल बन जाती है जब वह मानव जीवन से जुड़ता है और मानव कल्याण को लक्ष्य करता है। साहित्य के संदर्भ में जीवन-मूल्य, विघटित मूल्य, नवीन मूल्य, नैतिक मूल्य आदि के संबंध में विचार एवं चर्चाएँ बखूबी होती रहती हैं। प्रत्येक रचना में कोई न कोई मूल्य अवश्य होता है या होना चाहिए । तभी वह रचना साहित्य कहने के लिए योग्य बनेगी।

मानवेतर प्राणियों में भूख, प्यास, काम एवं आत्म संरक्षण की प्रवृत्तियाँ ही प्रधान है। प्रागैतिहासिक युग में मानव ने भी इन प्रवृत्तियों को ही जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार किया था। मानव की बौद्धिक क्षमता में विकास होने पर उसमें सोच-विचार की चेतना जागृत हुई। इस बौद्धिक क्षमता की प्रेरणा से मानव ने अपने जीवन को और भी सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित बनाना चाहा। इसके परिणाम स्वरूप संस्कृति, मूल्य जैसी परिकलपनाओं का उद्‌भव हुआ। वास्तव में यह संस्कृति और मूल्य जैसी अवधारणा समय, काल एवं परिस्थिति के अनुसार

बदलने लगे और आज मानव जीवन औद्योगीकरण के आधुनिक संदर्भ में उपयोगितावादी संस्कृति पर पहूँच गए है। जिसका प्रभाव पूरे मानव जीवन पर पड रहे हैं। फलस्वरूप पहले जिन तत्त्वों को हम जीवन मूल्य के रूप में मानकर चले आये, वे सब संक्रमित होकर नए मूल्य के रूप में हमारे सामने उपस्थित हो गए।

परिवार, समाज, रीति - नीति, धर्म आदि व्यवस्थाएँ आत्मसंरक्षण की भावना से प्रेरित होकर ही मानव जीवन में अपनी भूमिका अपनायी है। इसी प्रकार स्वर्ग, मोक्ष तथा परमात्मा की परिकल्पना भी आत्मसंरक्षण की भावना से प्रेरित है। जिस प्रकार समाज में सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए नीति-न्याय व्यवस्थाओं को कायम किया गया है और काल एवं समय के बदलाव के साथ आनेवाले सामाजिक व्यवहार के अनुसार उसका संवर्धन परिवर्धन किया जा रहा है, उसी प्रकार बदलती रही जीवन शैलियों के आधार पर या फिर विभिन्न संस्कृतियों के प्रभाव से होनेवाले परिवर्तन के आधार पर मानव जीवन में भी बदलाव आता है। लेकिन जो सनातन है, मानव जीवन केलिए उसका सदाबहार होना परम आवश्यक है। अगर मानव जीवन इन व्यवस्थाओं को भूलकर आगे बढना प्रारंभ करता है तो समाज अराजग बन जाएगा। सारा का सारा मूल्य विघटित हो जाएगा। समाज में हिंसा, अत्याचार एवं अमानवीयता का सिलसिला शुरू हो जाएगा। इस पर सोच-विचार करने का काम साहित्यकारों ने अर्थात् समाज के बुद्दिजीवी वर्गों ने किया है। परिणाम स्वरूप साहित्य में बदलते जीवन मूल्यों के संरक्षण की चिल्लाहट गूँजती रहती है।

1.1 जीवन-मूल्य स्वरूप एवं परिभाषा

जीवन मूल्य एक व्यापक संकल्पना है। इसकी विराटता को जानने के लिए मूल्य के बारे में आधारभूत जानकारियाँ हासिल करने की ज़रूरत है।

1.1.1 मूल्य शब्द की उत्पत्ति एवं व्यापकता

'मूल्य' शब्द की उत्पत्ति के बारे में संस्कृत हिंदी कोश में कहा गया है कि 'मूल्य' शब्द 'मूल' धातु के साथ 'यत्' प्रत्यय लगाने से बनता है। जिसका अर्थ है उखाड देने योग्य, मोल लेने के योग्य, कीमत, मोल, मज़दूरी, किराया का भाडा वेतन, लाभ, पूँजी, मूलधन आदि।[1] मूल्य केलिए अंग्रेज़ी में प्रयुक्त होनेवाला शब्द है 'वैल्यू'। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार मूल्य शब्द वस्तुतःनीतिशास्त्रीय वैल्यू का पर्यायवाची है। अर्थशास्त्र में वह बाजारवाद के अर्थविनिमय के एक आवश्यक प्रतिमान के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[2] हिंदि शब्द सागर में मूल्य को किसी वस्तु के बदले में मिलनेवाला धन, दाम के रूप में देखा गया है।[3] 'मूल्य' को अर्थशास्त्र के सबसे प्रधान शब्द माना गया है। (Value is the most important word in the whole science of economics)[4] नीतिशास्त्र और तर्कशास्त्र में मूल्य को मानवोचित गुण के रूप में स्वीकार करते हुए कहा है कि 'मूल्य' शब्द की उत्पत्ति लैटिन के 'वेल्यो' शब्द से हुई है जिसका अर्थ है साहसी होना। (The word value is derived from the latin word 'valeo' which means 'be strong')[5]. मूल्य केलिए अनेक समानार्थी शब्द प्रचलित है इसमें एक शब्द है

1. संस्कृत हिंदी कोश, वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसी दास
2. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, हिंदी साहित्य कोश
3. लघु हिंदी शब्द सागर, संपादक - करुणापति त्रिपाठी
4. Encyclopaedia Americana Volume - 27
5. Encyclopaedia of Ethics and Logic Volume - 4

'प्रतिमान'। मुल्य और प्रतिमान इन दो शब्दों के बारे में डॉ.सारस्वत ने अपना मत यों प्रकट किया है। उनके अनुसार 'मूल्य' वस्तुतः वे धारणाएँ है जिनकी हम सिद्धि चाहते हैं और 'मानदण्ड' या 'प्रतिमान' वे साधन है, जिनके द्वारा मूल्यों की सिद्धि प्राप्त होती है।[1] मनोविज्ञान में 'नार्म' को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि "यह वह प्रतिमान है,जो निर्णय के संदर्भ में एक मानक अथवा सिद्धांत के रूप में प्रयुक्त होता है"।[2] मूल्य मीमांसा में गोविंद चंद पाण्डे ने 'मूल्य' शब्द को उपयोगिता के समानार्थी शब्द स्वीकार किया है। उनका मानना है कि "मूल्य का संबंध अर्थशास्त्र से होने के कारण उपयोगिता शब्द भी मूल्य के संदर्भ में काफी मायने रखते हैं। उपयोगिता का संबंध व्यावहारिक मूल्य से है, ना कि शुद्ध नैतिक मूल्य से"।[3] मानव जीवन से संबंधित हर एक क्षेत्र में 'मूल्य' शब्द की अपनी महत्ता है। दर्शन, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र,सौंदर्यशास्त्र, आचार-विज्ञान, साहित्य आदि मानव जीवन के हर एक परिप्रेक्ष्य में मूल्य शब्द बडी व्यापकता के साथ विराजमान है। दर्शन के क्षेत्र में मूल्य आत्मा का विषय है। भारतीय दर्शन में आत्मोपलब्धि को याने की मोक्ष को ही चरम मूल्य के रूप में स्थान दिया गया है। पाश्चात्य दर्शन में इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग फ्रेडरिक नीत्शे तथा हर्मन लोत्से ने किया। पाश्चात्य दर्शन के अनुसार मूल्य शब्द का संबंध भौतिक सुख सुविधाओं की उपलब्धि है। मनोवैज्ञानिकों ने मूल्य शब्द को मानवीय इच्छा एवं चुनाव के साथ जोड दिया है। समाज शास्त्रियों ने मूल्य शब्द को 'आदर्श' अर्थात् 'मोडल' के रूप में अपनाया है। सौंदर्यशास्त्रियों ने मूल्य शब्द

---

1. ओम प्रकाश सारस्वत - बदलते मूल्य और आधुनिक हिंदी नाटक पृ.8
2. Phillip Lawrence Harriman, Dictionary of Psychology
3. गोविंद चंद पाण्डे - मूल्य मीमांसा पृ.8

को कला और सौंदर्य के साथ जोडने का प्रयास किया है। अर्थशास्त्र में मूल्य शब्द को लाभ एवं उपयोगिता के सामानार्थी शब्द माना गया है। आचार विज्ञान केलिए अग्रेज़ी में प्रयुक्त शब्द है 'मॉरल फिलासफी' साहित्य के क्षेत्र में 'मूल्य' शब्द का संबंध मानविकी से है क्योंकि साहित्य के केंद्र में मानव है। मानव जीवन ही साहित्य का लक्ष्य है, अगर हम राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक संदर्भों में मूल्य शब्द को लें तो भी इसके केंद्र में मनुष्य ही विराजमान है।

1.1.2 मूल्य की परिभाषाएँ

मूल्य शब्द के अर्थ विस्तार के अनुरूप विद्वानों ने मूल्य शब्द की परिभाषा भी मानव जीवन के व्यापक परिप्रेक्ष्य के आधार पर देने का परिश्रम किया है। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में "मूल्य" की परिभाषा देते हुए लिखा गया है कि किसी वस्तु, पदार्थ या विषय में किसी प्रकार के गुणविवेचन का निर्धारित करना मूल्य है। ऐसे मूल्यकन में सहजोपलब्ध चाह या प्रवणता अंतर्निहित रहती है। (Value is a determination or quality of an object which involves, any sort of appreciation or interest such appreciation, however involves feeling and ultimately desires of tendencies underlying the feeling. Therefore value is the feeling)[1]

वेबस्टेर्स डिकशनरी के अनुसार मूल्य तर्कशास्त्र की वह अवधारणा है, जिसके आधार पर किसी प्रस्ताव को सही या गलत निर्धारित किया जाता है। (A term or an expression in the logic that may replace a variable in a propositional function so that the resultant is a true or false statement)[2]

---

1. Encyclopaedia Britanica, Volume - 22
2. Webster's Third New International Dictionary Volume III

न्यू स्टान्टेर्ड एनसैक्लोपीडिया ने अर्थ शास्त्र के संदर्भ में मूल्य की व्याख्या यों दी है कि वस्तुओं और सेवाओं की वह शक्ति जो किसी अन्य वस्तु या सेवा के विनिमय के अधिकारी हो। (The power of a commodity or service to command other commodities or service in exchange)[1]

मानवीयता के संदर्भ में मानव जीवन एवं चरित्र को आधार बनाकर लोवेल केल्ली ने मूल्य का परिचय दिया- विभिन्न वस्तुएँ, अनुभव एवं लक्ष्य की प्राप्ति केलिए प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किये जानेवाले प्रयास को ही मूल्य कहते हैं। जैसे - चित्रकार का चरित्र सौंदर्यशास्त्रीय मूल्यों से पुष्ट होता है व्यवसायी आर्थिक एवं व्यावहारिक मूल्यों से समर्थ होता है तथा मंत्रियों एवं समाजसेवी का चरित्र धार्मिक एवं सामाजिक-मानवतावादी मूल्यों से अभिहित होता है। (Value refer to broad classes of objects, experiences and/or goals to word which different persons strive with widely varying degrees of effort and dedication.Thus painters are characterized by high aesthetic values business man by strong economic or utilitarian values, ministers and social workers by religious or socio-humanitarian values) [2]

जॉनसन ने अपनी पुस्तक “Sociology : A systematic Introduction” में मूल्यों की परिभाषा यों दी हैं - मूल्यों को एक धारणा या मानक के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो कि सांस्कृतिक हो सकता है या केवल व्यक्तिगत और जिनके द्वारा चीज़ों की एक दूसरे के साथ तुलना की जाती है

1. New Standard Encyclopaedia Volume - 16
2. E.Lowell.Kelly.Indian Village, Page - 19

और उसकी स्वीकृति या अस्वीकृति हो जाती है, एक दूसरे की तुलना में उचित या अनुचित, अच्छा या बुरा सही या गलत माना जाता है। (Value may be defined as conception or standared, cultural or merely personal, by which things are compared and approved or disapproved relative to one another held to be relatively desirable or undesirable, more meritorious or less, more or less correct)[1]

भारतीय विदूषियों ने भी 'मूल्य' को परिभाषित करके उसे विशाल मानवीयता के धरातल पर स्थापित करने का प्रयास किया है। डॉ. नगेन्द्र ने मूल्य को गुण का पर्यायवाची शब्द स्वीकार किया है। उनके अनुसार "मूल्य उस गुण या गुण समवाय का नाम है जो किसी पदार्थ की अपने लिए, प्रमाता केलिए, अथवा अपने परिवेश केलिए सार्थकता का निर्धारण करता है। पदार्थ का गुण होने के कारण मूल्य की सत्ता वस्तुपरक है, किंतु प्रमातृ सापेक्ष होने के कारण वह व्यक्तिपरक है"।[2] डॉ. बच्चनसिंह "नया यथार्थः नया मूल्यबोध" में कहते हैं -"भौतिक आवश्यकताओं के मूलस्वरूप मानवीय आचार-विचार या आध्यात्मिक आदर्शों का उदय, विलयन और नवीकरण होता रहता है। भौतिक परिस्थितियों के बदल जाने से इन आदर्शों में परिवर्तन हो जाता है। ये आचार-विचार और आदर्श किंचित् अर्थ-भेद के साथ मूल्य कहे जा सकते है।[3] डॉ. रामगोपाल शर्म ने मूल्य को संस्कृति का आधार मानते हुए कहा है कि "मूल्य समाज के वे आधार स्तंभ है जिन पर समाज की सभ्यता एवं संस्कृति का भव्य भवन आधारित होता रहता है"।[4]

---

1. H.M Johnson, Sociology: A Systematic Introduction, Page - 49
2. डॉ. नगेन्द्र, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका पृः 159
3. बच्चन सिंह, समकालीन साहित्य आलोचना को चुनौती पृ:129
4. डॉ. रामगोपाल शर्मा, स्वाधीनताकालीन हिंदी साहित्य में जीवन मूल्य पृः 54

भारतीय मनीषियों ने धर्म, दर्शन, कला एवं साहित्य, आचार-विज्ञान, मनोविज्ञान, समाज शास्त्र, अर्थशास्त्र नीतिशास्त्र आदि मानव जीवन के समग्र पक्षों में जीवन मूल्य की महत्ता को स्वीकार किया है। इन सभी पक्षों के आधार पर यदि मूल्यों को देखा परखा जाए तो इसकी सबसे बडी विशेषता यह होगी कि 'मूल्य' की अवधारणा मानवीयता को आधार बनाकर ही उत्पन्न हुई है।

दर्शन और मूल्य के सह संबंध को ध्यान में रखते हुए डॉ. देवराज कहते है "दर्शन का कार्य मनुष्य या मानव जीवन से संबंधित परम मूल्यों की प्रकृति का अन्वेषण या उद्‌घाटन है"।[1] मानव की सहज प्रवृत्ति है जीवन में सुख की खोज या आनंद प्राप्ति इस आनंद को सौंदर्यशास्त्र में चरम मूल्य के रूप में माना गया है। आचार विज्ञान में मूल्यों को मानव के सामाजिक व्यावहारों के नियामक तत्त्व के रूप में अपनाया गया है डॉ. ईश्वरचंद्र शर्मा कहते है "आचार विज्ञान के अध्ययन का विषय मनुष्य का वह सामाजिक व्यवहार है, जिसके प्रति हम सत् या असत् शुभ या अशुभ होने का निर्णय दे सकते हैं"।[2] मनोविज्ञान के संदर्भ में मूल्य मानव की रुचि एवं चयन की प्रक्रिया पर आधारित है। मानव की यह चयन प्रक्रिया विवेकसम्मत रुचि पर केंद्रित है। यही वह तत्त्व है जो मनुष्य को पशु से अलग कर देता है। विवेक ही रुचि के औचित्य का नियामक है। समाजशास्त्रियों ने मूल्य को उचित और अनुचित का निर्धारण करनेवाले आदर्श के रूप में परिभाषिता किया है। उनके अनुसार मूल्य की सबसे बडी विशेषता यह है कि वह मानव-जीवन एवं चरित्र को परस्पर जोड़ते हैं। मानविकी एवं साहित्य में मूल्य एक

---

1. डॉ. देवराज - संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ:10
2. डॉ.ईश्वरचंद्र शर्मा - पश्चिमीय आचार विज्ञान का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ:10

जीवन दृष्टि है।

'मूल्य' के संदर्भ में इतनी सारी परिभाषाएँ होते हुए भी 'मूल्य' क्या है? इसका निर्धारण करना मुश्किल की बात है, क्योंकि वह समय एवं काल सापेक्ष है। आज की सबसे बडी विडंबना यह है कि आज का वैज्ञानिक युग ने सत्य, अहिंसा, दया, करुणा, स्नेह, संवेदना आदि मानवोचित एवं सनातन मूल्यों को भी बदल दिया है। आज का मानव जीवन अपने-अपने मूल्य को लेकर संघर्षरत है। इसलिए इक्कीसवीं सदी के आधुनिक नव औपनिवेशिक संदर्भ में भी मूल्य केलिए एक समग्र परिभाषा ढूँढ़ना नामुमकिन है।

1.1.3 मानव जीवन और जीवन-मूल्य का अंत : संबंध

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जीवन-मूल्यों के विवेचन विश्लेषण से ही व्यक्ति का विकास होता है। वह समाज का अंग बनता है। उसमें औचित्य अनौचित्य की बात जाग उठती है। अतः जीवन-मूल्यों के विकास के साथ ही मनुष्य में मानवीयता और सामाजिकता जैसे गुणों का विकास हुआ है। जीवन मूल्यों की खास पहचान मानवीयता से ही संभव है। जीवन मूल्य जीवन के प्रति एक सकारात्मक दृष्टिकोण है। वह मनुष्य को श्रेष्ठ आचरण करने की प्रेरणा देता है। जो भी तत्त्व मानवोचित जीवन जीने केलिए उपयोगी है वे सब इसके अंतर्गत आ जाते हैं।

जीवन मूल्यों का लक्ष्य मानव जीवन में नैतिक आचरण का विकास करना होता है। इस संदर्भ में महादेवी वर्मा जी के उद्धरण पर ध्यान देना काफी समीचीन होगा। उनका कहना है "वास्तव में थोडे से सिद्धांत में जो मनुष्य को मनुष्य बनाते

हैं, हम उन्हीं को जीवन मूल्य कहते हैं"।[1] मानव जीवन की प्रारंभिक दशा से लेकर जीवन मूल्य उसके वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों प्रकार के व्यवहारों का नियंत्रण करता है। जिस प्रकार संविधान, कानून की सहायता से समाज की व्यवस्थाओं का नियंत्रण करता है उसी प्रकार जीवन-मूल्य मानव जीवन को श्रेष्ठ आचरण से बाँधने की कोशिश करता है ताकि व्यक्ति का जीवन अराजकता से बच जाए। जीवन-मूल्य की परिकल्पना ही मानवीय संवेदनाओं को जीवंतता प्रदान करती है। मानव की सहज प्रवृत्ति है कि उन्हें एक प्रतिमान मिल सके तो वह उसके अनुकरण पर जीना प्रारंभ करता है। इस संदर्भ में दर्शन, वेद, पुराण, इतिहास सभी ने अपना योगदान दिया है। गोविंदचंद्र पाण्डेय तथा डॉ. हुकुमचंद राजपाल ने मूल्य को पुरुषार्थों के साथ जोड़ दिया है। इनके अनुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों ने ही मानव को जीने का मार्गदर्शन दिया है। इसी के आधार पर मानव अच्छे और बुरे का विवेचन करता है। इसका लक्ष्य मनुष्य का बाहरी एवं आंतरिक शुद्धीकरण है। फलतः मनुष्य सहजीवियों से मानवीयता एवं नैतिकता पर आधारित होकर व्यवहार करना सीखता है। संबंधों को उपयोगिता की नज़र से नहीं बल्कि संवेदनाओं की नज़र से आंकने की कोशिश करता है। समाज को अनीति, भ्रष्टाचार, अराजक वृत्तियों से दूर रखने की कोशिश करता है। और विभिन्न महामारियों से बचाव एवं अपनी प्रकृति और पर्यावरण की रक्षा पर भी ध्यान देता है। अतः जीवन मूल्य से तात्पर्य है मानव जीवन को समग्रता के साथ देखने की सकारात्मक दृष्टि।

जीवन को लेकर इस दृष्टिकोण का विकास अलग-अलग रूप में होता है

1. महादेवी वर्मा, संस्कृति और जीवन-मूल्य, नवनीत जुलाई 1984 पृ.36

और कुछ ऐसे तत्त्व भी है जो हर एक काल में हर एक जीवन में बिना कोई बदलाव के साथ प्रवहमान रहता है। इस तरह की भिन्नता केलिए प्रमुख कारण के रूप में संस्कृति को ही हम देख सकते हैं, क्योंकि संस्कृति का विकास भी जीवन की समग्रता को लेकर ही होता है और पूरे मानव जीवन किसी न किसी संस्कृति पर आधारित है। संस्कृति का निर्माण युगीन जीवन परिस्थितियों एवं भौगोलिक परिस्थितियों के आधार पर ही होता है। इसलिए ही मानव संस्कार में इतनी विभिन्नता पायी जाती है। विभिन्न संस्कृतियों में जीनेवाले लोगों की जीवन चर्या(अर्थात- खान-पान, वेश-भूषा आदि) आचार-विचार, भाषा, कला, साहित्य सब कुछ अलग अलग होते हैं उसी प्रकार उनके जीवन मूल्य भी अलग-अलग हाते हैं। भारतीय एवं पाश्चात्य जीवन मूल्य को लें तो पाश्चात्य जीवन मूल्य मुख्तः तर्क पर आधारित है और भारतीय जीवन मूल्य आध्यात्मिकता पर आधारित है। पाश्चात्य जीवन शैली एवं उनके आचार विचार वैज्ञानिकता पर आधारित है। भारतीय जीवन-शैली एवं उनके आचार-विचार मानवीय संवेदनाओं से जुडे हुए हैं । इसपर अधिक विचार विमर्श जीवन मूल्यों के निर्माणात्मक तत्त्व के संदर्भ में किया जाएगा। यहँ मात्र इनना ही कहना है कि चाहे भारत हो या पश्चिम चाहे उच्चवर्ग हो या निम्नवर्ग चाहे स्त्री हो या पुरुष, दलित हो या आदिवासी सब कहीं मनुष्य ही केंद्र में है, मानव जीवन को ही प्रमुखता है। प्रकृति, संस्कृति, धर्म, राजनीति, समाज, अर्थ सब कुछ मानव जीवन केलिए है। अतः उस जीवन को मानवीयता से जोडनेवाले सारे तत्त्व, वस्तुएँ सिद्धांत सब-कुछ जीवन मूल्य के अंतर्गत आ जाते हैं। मानव जीवन के हित साधन करनेवाली उसके जीवन को सुख, सुरक्षा एवं विकास की ओर ले जानेवाली सभी धारणा को

जीवन-मूल्य कह सकते हैं।

जीवन मूल्य को किसी एक पक्ष के आधार पर या किसी एक सिद्धांत के आधार पर देखना नहीं चाहिए क्योंकि यह एक समग्र जीवन दृष्टि है। इसके केंद्र में समन्वयवादिता का तत्त्व विराजमान है। इसलिए किसी एक नज़रिए से या पक्षधरता के साथ जीवन-मूल्य को आंकना इसके साथ होनेवाला अन्याय होगा।

1.1.4 जीवन-मूल्यों के निर्माणात्मक तत्त्व

जीवन - मूल्यों का निर्माण या निर्धारण के आधारभूत कई तत्त्व होते हैं। अतः जीवन मूल्य के समग्र अध्ययन के संदर्भ में इन तत्त्वों की ओर भी दृष्टि डालने की अनिवार्यता है।

जीवन मूल्यों का निर्माण एवं ह्रास दोनों समाज में ही होता है। समाज की विकास प्रक्रिया के साथ ही मूल्यों का निर्माण, प्रयोग एवं संक्रमण होता रहता है। सामाजिकता मनुष्य का वह गुण है जिसके ज़रिए वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। साथ ही साथ जीवन की असुरक्षा एवं अनिश्चितता से बच पाता है। यह मानव एवं समाज के बीच की एक समझौता है। इन समझौतों के ज़रिए मानव अधिक सुखवादी बन गए हैं। इसके ज़रिए अव्यवस्थित एवं असंगठित मानव जीवन सुव्यवस्थित और मर्यादित बन गए। वास्तव में युगीन परिस्थितियों के अनुसार मानव और समाज के बीच पनप रहे यह समझौता ही नवीन जीवन-मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित हो रहा है। मनुष्य के नैसर्गिक या मूल प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर ही जीवन-मूल्यों का निर्माण होता है। क्योंकि इन प्रवृत्तियों से उत्तेजित मनुष्य में औचित्य अनौचित्य के प्रति श्रद्धा जागृत करने केलिए या इन्हें

मर्यादित करने केलिए जीवन मूल्यों की सख्त ज़रूरत है। मनुष्य की इन मूल प्रवृत्तियों में परिवेशगत बदलाव आने पर वह सभ्यता की संज्ञा से अभिहित होता है। सभ्यता में आनेवाले बदलाव के साथ मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ भी बदल जाती है।

जीवन मूल्यों के निर्माण के प्रेरक तत्त्वों में मनुष्य के जीवन-व्यवहार संबंधी स्वाभाविक और अर्जित दोंनों की सक्रिय भागीदारी देख सकते हैं। स्वाभाविक तत्त्वों के अंतर्गत मनुष्य की शारीरिक संरचना, मूल प्रवृत्तियाँ, संवेग, प्रेरणा, अनुभूतियाँ, अभिवृत्तियाँ, सहानुभूतियाँ, अनुकरण,सुझाव, अभिरुचि, पूर्वधारणा, तर्क आदि सम्मिलित है।

स्वाभाविक तत्त्व

इसमें पहला है शारीरिक संरचना मानव शरीर कोशों से बना है। जैसे ग्राहक कोष, स्नायु-कोष, प्रभावक कोष। इन कोशों और पैतृक विशेषताओं वाले वाहकाणु आदि सब मनुष्य के चरित्र निर्माण एवं जीवन मूल्य के निर्माण में महत्ती भूमिका अदा करती है। दूसरा है मूल प्रवृत्तियाँ यह मनुष्य को उसके पैतृक विशेषताओं से जोडता है और उसमें मानवीय संवेदनाओं का विकास करते हुए नैतिक आचरण केलिए प्रतिबद्ध बनाता है। तीसरा है संवेग। संवेगों का प्रवाह विभिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न अनुपात में होता है। क्रोध, काम, स्नेह आदि भावनाओं के ज़रिए व्यक्ति के संवेगों की भिन्नता को हम पहचान सकते हैं। जीवन-मूल्यों के निर्माण में मनुष्य के संवेगों को विशेष स्थान प्राप्त है। चौथा है प्रेरणा। व्यक्ति को कार्य करने केलिए प्रेरित करनेवाली शक्ति को प्रेरणा कहता है। इसे व्यक्तिगत एवं सामाजिक दो रूपों में देखा जा सकता है। व्यक्तिगत प्रेरणाओं के अंतर्गत

आदत, अभिरुचि, लालसा, मनोवृत्ति जीवन लक्ष्य आदि आते हैं। सामाजिक के अंतर्गत प्रतिष्ठा, सुरक्षा, संरचना, सामाजिकता, प्रभुता आदि आते हैं। वैसे तो भूख, प्यास, काम, सुरक्षा आदि प्रेरणाएँ सभी में एक जैसी होती हैं। लेकिन कुछ अन्य प्रेरणाएँ हैं जिसमें सांस्कृतिगत अंतर पाया जाता है। पाँचवाँ है अनुभूति। मूल्यों के निर्माण में अनुभूतियों या अनुभवों को महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में स्वीकारा गया है। मनुष्य का व्यवहार अनुभवों पर आधारित है। इसलिए वह मूल्यों को स्वयं निर्धारित करता है। अनुभूतियों का प्रभाव भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न रूप से पड़ता है। इसके लिए उदाहरण है गोहत्या को लेकर हिंदुओं और मुसलमानों के बीच होनेवाला तर्क-वितर्क, युद्ध को लेकर दो राज्यों की अनुभूतियों में होनेवाला अंतर। अनुभूति ही वह कारण है जिससे एक व्यक्ति केलिए जो घटना साधारण सी लगती है वही घटना किसी दूसरे व्यक्ति के लिए महत्त्व पूर्ण बन जाता है। छठा है अभिवृत्तियाँ। अभिवृत्तियाँ व्यक्ति, समाज, धर्म, शिक्षा, आर्थिक स्थिति, पारिवारिक संस्कृति, मित्रों एवं अन्य परिचितों की अनुभूतियों एवं विशवासों पर आधारित होती है। तथा इन तत्त्वों में होनेवाली भिन्नता के अनुसार भिन्नताएँ भी उपस्थित होती है। सातवाँ है सहानुभूति। मनुष्य की इस भावना से प्रेरित होकर ही वह नैतिक व्यवहारों को अपनाता है। मनुष्य जितना सहानुभूतिशील होता है उतना ही वह सेवापरायण सहृदय एवं सहनशील बनता है। अगला है अनुकरण। अनुकरण मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है। वह अनुकरण के सहारे अपने चरित्र की न्यूनताओं को कम करता रहता है। समाज में मौजूद वैरुद्धयात्मकता का प्रमुख कारण भी अनुकरण की प्रक्रिया है। उदाहरण केलिए नेपोलियन के अनुकर्ता हिंसा, क्रांति अधिकार को ही अपने श्रेष्ठ गुण मानेंगे। गांधी के अनुकर्त

शांति, अहिंसा, सत्य आदि को श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों के रूप में अपनाएँगे। अगला है सुझाव। मनुष्य को अपने जीवन काल में माता, पिता,अध्यापक, बुजुर्गों एवं धार्मिक, सांस्कृतिक तथा अन्य विषय के ग्रंथों में दिये गए सुझाव को स्वीकारना पड़ता है। इससे उनके जीवन मूल्य पुष्ट एवं विकसित होता है। अगला है अभिरुचि। व्यक्ति की अभिरुचियों का विकास परिवार एवं समाज के परिप्रेक्ष्य में होता है। व्यक्ति में जिस प्रकार की अभिरुचियों का निर्माण होता है उसी के अनुसार उनके मूल्यों का सृजन होता है। अगला है पूर्वधारण। पूर्वधारण को पूर्वाग्रह कहते हैं। इससे तात्पर्य पूर्वनिश्चित धारणाओं से है। इसमें अविवेक भी काम करता है। व्यक्ति सोचे-समझे बिना किसी पूर्वनिश्चित निर्णय पर अडिग रहता है। इसका असर स्वतंत्रता, समानता आदि मूल्यों पर पड़ने की भी संभावना है। पूर्वधारणाएँ कट्टर जड़ता के शिकार है। उसमें गतिशीलता नहीं होती, पूर्वधारणा मानव एवं मानवता केलिए आभिशाप है। इससे प्रभावित होकर संपूर्ण मानव समाज में वर्ण, वर्ग, जाति, धर्म, भाषा, संस्कृति, लिंग, राष्ट्रीयता, सांप्रदायिकता के आधार पर भेद - भाव एवं हिंसा आज भी कायम है। इससे मनुष्य के व्यक्तित्व में संकुचितता एवं सामाजिक-सांस्कृतिक प्रगति में अवरुद्धता आ जाती है। पूर्व धारणाओं के संदर्भ में तर्क, प्रामाणिकता तथा यथार्थता केलिए कोई स्थान नहीं है। मूल्यों की जड़वादिता केलिए पूर्वधारणाएँ प्रमुख कारण बन जाती हैं। उदाहरण केलिए ऊँच-नीचत्व अर्थात् छुआछूत की समस्या का प्रमुख कारण यही पूर्वधारणाएँ हैं। इससे प्रभावित होकर ही पूँजीवाद में पूँजीपतियों एवं श्रमिकों के बीच संघर्ष मौजूद है। अगला है तर्क। तर्क जीवन-मूल्यों को पूर्वधारणाओं एवं रूढिवादिता से बचाता है। जहाँ मनुष्य की तर्क शक्ति प्रबल होगी वहाँ उसके मूल्य पूर्वधारणाओं और अभिव्यक्तियों से संचालित नहीं होंगे; बल्कि उसकी तर्कशक्ति के द्वारा ही निर्धारित होगा।

पारजैविक अथवा अर्जित तत्त्व

जीवन मूल्यों के अर्जित तत्त्वों को सामाजिक, प्राकृतिक तथा मानविकी आधार पर देखना उचित होगा। इसमें सामाजिक के अंतर्गत व्यक्ति, परिवार तथा समाज आदि सामाजिक व्यवस्थाएँ, संस्कार, आदर्श, नार्म, रूढ़ि, परंपरा, सभ्यता और संस्कृति आदि सामाजिक मान्यताएँ। आर्थिक, राजनीतिक, शासन-व्यवस्था, कानून, युद्ध आदि सामाजिक स्थितियों से संबंधित जीवन-मूल्य आ जाते हैं। मानविकी के अंतर्गत शिक्षा, धर्म, दर्शन, नीति, विज्ञान, कला, साहित्य आदि आ जाते हैं ।

पहला है सामाजिक तत्त्व। इसमें सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत व्यक्ति उनके द्वारा निर्मित परिवार तथा समाज जैसी संस्थाएँ आ जाती हैं। व्यक्ति की शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति केलिए उसे परिवार एवं समाज की व्यवस्थाओं का पालन करना पड़ता है। इससे ही वह संयमित जीवन जीना सीखता है। अतः सामाजिक व्यवस्था के ज़रिए ही मनुष्य को उसकी जीवनदृष्टि, आचार-विचार आदि प्राप्त होता है। सामाजिक मान्यताओं में व्यक्ति के व्यवहारों को नियंत्रित करनेवाले, उनके आचरण को निर्धारित करनेवाले एवं श्रेष्ठ आदर्शों से श्रेष्ठतम लक्ष्यों की प्राप्ति की ओर उन्हें प्रेरित करनेवाले तत्त्व आते हैं। जैसे रूढि परंपरा प्रथाएँ संस्कृति और सभ्यता आदि। रूढ़ियाँ समाज कल्याण की भावना पर आधारित होनी चाहिए। परपराएँ पीढ़ियों से प्राप्त संस्कारों को सुरक्षित रखने की कोशिश करती रहती हैं तथा प्रथाएँ एक पीढ़ी की जीवन चर्या को व्यवस्थित रूप से दूसरी पीढ़ी को सौंपने का कार्य करती है। सामाजिक मान्यताओं में सभ्यता और संस्कृति की भी अपनी व्यवस्थित भूमिका है। मानव के

जीवन-मूल्यों का संस्कृति के साथ प्रत्यक्ष संबंध है। संस्कृति में आनेवाले परिवर्तन मूल्यों का भी परिवर्तन है। संस्कृति को बचाने का कार्य मूल्य करता है तो मूल्यों का निर्माण संस्कृति के द्वारा ही संभव है। संस्कृति में परिवर्तन लाने का कार्य मुख्यतः सभ्यता ही करती है। इस दृष्टि से मूल्य निर्माण की प्रक्रिया में सभ्यता की भी सक्रिय भागीदारी होती है। इस प्रकार मनुष्य सभ्यता व संस्कृति के प्रभावानुसार अपने वैयक्तिक मूल्यों का सृजन करता है। सभ्यता और संस्कृति की भिन्नता के अनुरूप ही व्यक्तियों के जीवन-मूल्यों में भी अंतर पाया जाता है।

सामाजिक स्थितियों में सबसे पहले आर्थिक स्थिति आति है। मनुष्य को अपनी मूलभूत आवश्यकताओं के हेतु अर्थ का अर्जन करना पड़ता है। इसलिए जीवन - मूल्यों के आधार रूपी मूल्य है आर्थिक मूल्य। चाहे समाज अविकसित, विकसित या अल्प विकसित हो आर्थिक-व्यवस्था के बिना उसका ठिकाना नामुमकिन है। आर्थिक भिन्नता के आधार पर संस्कृति, राष्ट्र, धर्म, जाति आदि की विचारधाराओं, मान्यताओं और मूल्यों में भी अंतर पाया जाता है। सामाजिक स्थितियों में आनेवाला अगला महत्त्वपूर्ण भाग है राजनीतीक स्थिति। इसमें शासन व्यवस्था, कानून, युद्ध आदि तत्त्व आते हैं। शासन व्यवस्था का संबंध मनुष्य का अस्तित्व और उसके संरक्षण से होने के कारण उसने मानव जीवन को प्रभावित किया है। राजतंत्र, सामंत शाही, प्रजातंत्र, पूँजीवादी, समाजवादी, साम्यवादी जैसे विभिन्न शासन व्यवस्थाओं के नाागरिकों के जीवन-मूल्य भी भिन्न होते हैं। पराधीन भारत और स्वतंत्र भारत के एक ही नागरिक के जीवन - मूल्यों में उल्लेखनीय परिवर्तन आया है। राजनीतिक स्थिति में कानून भी उल्लेखनीय है। कानून मूल्यों के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन लाया है। इससे रूढ़िवादिता का अंत एवं मूल्यों में

परिवर्तनशीलता और गतिशीलता का संचार हुआ है। मूल्यों को बाहरी और आंतरिक प्रकार से प्रभावित करनेवाले राजनीतिक व्यवस्था है युद्ध। इससे एक देश की जनता के जीवन से संपत्ति, सामाजिकता आदि नष्ट हो जाता है। भारतीय जीवन-मूल्यों को परिवर्तित करने में दोनों विश्व युद्धों का अविस्मरणीय योगदान रहा है।

दूसरा है प्राकृतिक आधार एक देश के मूल्यों की बनावट एवं बुनावट में प्रकृति एवं भौगोलिक परिस्थितियों का भी अपना विशेष योगदान रहा है। प्रकृति मानव जीवन को जीवन रस प्रदान करनेवाली शक्ति है, लेकिन इसकी संहारक शक्ति ने भी मानव जीवन को प्रभावित किया है। भूकंप, बाढ़, महामारी, अकाल जैसे प्रकृति क्षोभ सारे के सारे जीवन मूल्यों के स्वरूप को उलट-पुलट कर देते हैं। बंगाल के दुर्भिक्ष, बिहार, असम में प्रतिवर्ष आनेवाली बाढ़, राजस्थान में पड़नेवाले अकाल आदि ने वहाँ की जनता के जीवन - मूल्यों को गहराई से प्रभावित किया है। इसलिए ही वैदिक काल से लेकर ऋषियों ने प्रकृति को देवता या जीवन दायिनी मानकर उसकी पूजा पर ज़ोर दिया है।

एक देश की जलवायु भी वहाँ के नागरिकों के दृष्टिकोण को प्रभावित करती है, क्योंकि जलवायु से भौतिक जीवन प्रभावित होता है, और भौतिक जीवन से उसके विचार आदि। देश की भौतिक समृद्धि के आधार पर वहाँ रहने वाले लोगों के जीवन स्तर में भी भिन्नता पायी जाती है। जो प्रदेश खनिज-संपदाओं से समृद्ध है वहाँ के लोग उच्च स्तर के जीवन जीनेवाले होंगे। उनकी दृष्टि अधिक उपयोगितावादी होगी। जहाँ पर कृषि सभ्यता होगी वहाँ की जनता में सहयोग की भावना समृद्ध होगी और वहाँ के लोगों की जीवन शैली में भी

इसका प्रभाव अवश्य होगा। अतः भौगोलिक परिस्थिति के अनुसार लोगों की जीवन-दृष्टि, रहन-सहन, सोच-विचार, आचार व्यवहार के ढ़ंग में भी अंतर पाया जाता है। उदाहरण केलिए तिबत्त में रहनेवाले 'एस्किमो' लोगों में बहु-पति-प्रथा है। कडी सर्दी में जन्म लेने के कारण अकसर अशक्त बच्चियाँ मर जाती हैं। इसलिए अनेक पुरुषों केलिए एक ही स्त्री रहने की प्रथा चलती है। तमिलनाडू के नीलगिरी पहाडों पर रहनेवाले 'तोडा' जनजातियों के बीच भी बहुपति प्रथा है। ये लोग गरीब है। परिवार में एक बच्ची को वे ज़िंदा रखते हैं। गरीबी एवं दहेज प्रथा के कारण दूसरी बच्ची का जन्म होते ही उसे मार डालते हैं।

तीसरा है मानविकी आधार। मानविकी आधार में जीवन मूल्यों के निर्माण में धर्म, दर्शन, नीति, कला और साहित्य, शिक्षा, विज्ञान आदि तत्त्वों का विशेष योगदान रहा है। यहाँ इन सभी तत्त्वों का सांक्षिप्त परिचय देना समीचीत होगा। इसमें सबसे पहले धर्म आते हैं। संसार में हिंदु, जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम, यहूदी, पारसी आदि अनेक धर्म एवं इनके भीतर अनेक मत, संप्रदाय और पंथ प्रचलित है। उदाहरण केलिए हिंदु धर्म में वैष्णव, शैव, शाक्त, वल्लभ, नाथ, आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, थियोसोफी, प्रार्थना समाज, दादू पंथ आदि अनेक संप्रदायों का विकास हुआ है। सिक्ख धर्म भी इसके अंतर्गत था लेकिन अब वह अपनी अलग पहचान बना रही है। जैन धर्म में दिगम्बर और श्वेताम्बर, बौद्धधर्म में हीनयान और महायान, ईसाइयों में कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट इस्लाम में शिया, सूफी, सुन्नी इनके अतिरिक्त भी प्राचीन मिश्र के बहुदेव प्रधान धर्म बेबिलोनिया के मूर्तीपूजा प्रधान धर्म, सुमेरिया के पुरोहित प्रधान धर्म, चीन के ताओ और कन्फ्यूशियस संप्रदाय, जापान के शिंतो और जैन धर्म आदि ने भी विभिन्न देशों और जातियों को प्रभावित किया है। इसके अतिरिक्त पृथ्वी पर फैली हज़ारों जनजातियों के अपने

रीति-रिवाज़ और आचार-विचार है जिन्हें वे धर्म की प्रतिष्ठा देते हैं। हर धर्म में कुछ वांछनीय और कुछ अवांछनीय तत्त्व हैं। मानव विकास केलिए आवश्यक है कि धर्म के नाम पर प्रचलित अंधविश्वासों तथा सामाजिक कुरीतियों का तिरस्कार किया जाए और उसके लोक कल्याणकारी स्वरूप पर अधिकाधिक बल देकर उसे मानव के बहुआयामी उत्थान का एक सशक्त साधन बनाया जाए। सभ्यताओं के इतिहास में धर्म के अनेक रूप और पहलू मिलते हैं। उनमें से एक पहलू समाज-सेवा और लोक कल्याण का भी है। आज धर्म के इसी पहलू पर ज़ोर देने की ज़रूरत है। जीवन मूल्यों का भी लक्ष्य समाज - सेवा और लोक कल्याण पर आधारित है। अतः जीवन मूल्यों के निर्माण में संसार में प्रचलित सभी धर्मों का भी विशेष योगदान रहा है।

जीवन मूल्यों के मानविकी आधार में दूसरा स्थान दर्शन का है। दर्शन का जीवन मूल्यों के साथ इतना घनिष्ठ संबंध है कि दर्शन के सहारे ही मानव ने मूल्यों की चरम स्थिति को पहचाना। भारत में जितने भी दार्शनिक मत विकसित हुए उन सबका प्रभाव यहाँ के लोगों के जीवन-मूल्यों पर पड़ा है। जीवन और दर्शन का संबंध अटूट है। दर्शन का स्रोत एवं साध्य दोनों जीवन ही है। वैदिक दर्शन में ऋषियों ने जीवन के प्रति आशावादी होने का उपदेश दिया है। वे चाहते हैं कि मनुष्य सौ वर्ष सुखपूर्वक जीवन जी सके(जीवेम शरदः शतम्)। उपनिषद् दर्शन सत्य का उपदेश देता है और ज्ञान प्राप्ति को जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार करता है। गीता का दर्शन कर्म सिद्धांत को महत्त्व देते हैं। इसमें मानव जीवन के भूत, वर्तमान एवं भविष्य का स्वरूप निहित है। ऐसा कोई भी अंश मानव जीवन में नहीं है जिनका प्रतिपादन महाभारत में नहीं हुआ हो। सांख्य दर्शन प्रकृति और

पुरुष के पारस्परिक संयोग पर विचार करते हैं। इस संयोग को सांख्यदर्शनकार सृष्टि मानते हैं और वियोग को प्रलय। प्रकृति एवं पुरुष का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने की स्थिति को मोक्ष कहते हैं। योग दर्शन में योग को चित्तवृत्ति निरोध कहा है। इससे तात्पर्य है मनुष्य के अंतकरण(मन और बुद्धि) की वृत्तियों के निरोध ही योग है। योग दर्शनकार ने मोक्ष प्राप्ति केलिए अष्टांगयोग का आविष्कार किया। न्याय दर्शन के अनुसार तत्त्व का ज्ञान होना ही वास्तविक ज्ञान है। न्याय दर्शनकार ने ईशवर की सत्ता को स्वीकार करने के साथ ही उसकी स्वीकृति में अनेक तर्क-वितर्क भी प्रस्तुत किया है। इस प्रकार मीमांसा दर्शन वैदिक विधि और निषेध वाक्यों की तर्कसंगत व्याख्या करता है। अद्वैद वेदांत दर्शन जीव और ब्रह्म की एकता को सत्य मानते हैं। विशिष्टाद्वैतवादियों ने जीव ब्रह्म एवं जड़ जगत तीनों को सत्य माना है। द्वैताद्वैत में जीव और ब्रह्म की भिन्नता और अभिन्नता का प्रतिपादन मिलता है। शुद्धाद्वैत भी जीव और जगत् को ब्रह्म का ही अंश मानता है। वैशेषिक दर्शन ने संसार के पदार्थों का गुण-विवेचना किया है।

जीवन-मूल्यों के संदर्भ में नास्तिक दर्शन का भी अपना योगदान है। इसके अंतर्गत चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शन महत्त्वपूर्ण है। चार्वाक दर्शन को उसके समय कोई स्वीकार नहीं करता था। आज के उपभोगवादी संस्कृति में इस दर्शन का महत्त्व बढता जा रहा है। जैन दर्शन वहुतत्त्ववादी दर्शन है। इसमें बंधन और मोक्ष पर भी विचार किया गया है। बौद्ध दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद, अनात्मवाद एवं निर्वाण के सिद्धांतों का प्रतिपादन मिलता है। भारतीय जीवन-मूल्यों के निर्माण में पाश्चात्य दर्शनों का भी अपना महत्त्व है।

भारतीय दर्शन की विशेषता यह है कि वह जीवन को आशावादी दृष्टि से देखता है। वह वसुधैव कुडंबकम् की परिकल्पना पर आधारित है। इतनी उदारता पाश्चात्य भौतिकता में नहीं। भौतिकतावाद आवश्यकता पर केंद्रित है। जहाँ पर आवश्यकताएँ बढ़ जाती है मनुष्य उसकी पूर्ति केलिए प्रयत्नरत रहता है उसकी पूर्ति न होने पर निराश हो जाता है। निराशा स्व और पर की हत्या तक करने केलिए विवश कर देती है। भौतिकतावाद जहाँ आवश्यकताओं की पूर्ति करता है वहाँ दर्शन प्रयत्न करने पर भी आवश्यकता की पूर्ति न होने पर निराश नहीं होने देता है। इसी प्रसंग में हमें जीवन - मूल्यों के साथ दर्शन के संबंध को आँकने का परिश्रम करना चाहिए।

समकालीन साहित्य में प्रतिपादित दर्शनों का स्वरूप अलग है। समकालीन दर्शन की पहली विशेषता यह है कि वह विज्ञान पर आधारित है। इसके केंद्र में घोर बुद्धिवादिता है और इसमें मनुष्य के महत्त्व के प्रतिपादन पर विशेष बल दिया गया है। मध्यकाल में जिस ईश्वर को मूल्यों के नियंता स्वीकार करते थे। आजकल के दार्शनिक इसका घोर विरोध करते हैं। वैसे तो समकालीन संदर्भ में अस्तित्ववादी, मार्क्सवादी एवं गाँधीवादी विचारों पर जोर मिलने लगा है। अस्तित्ववादियों में मार्सल मानते हैं कि ईश्वर के अवतार के समान मूल्यों का भी अवतार हुआ है। उनके अनुसार मनुष्य की बुद्धि द्वारा जिन सत्यों को वह पकड पाता है वह मूल्य है। सत्य की रक्षा ही मूल्यों का संरक्षण है। सार्त्र के अनुसार मानव की चयन की भावना से ही मूल्यों का निर्माण हुआ है। लेकिन मार्सल मानते हैं कि मूल्य ही मानव की चयन की भावना को नियंत्रित करता है। मूल्य चयन के आधार है तो भी वह चयन को निश्चित करने केलिए सक्षम नहीं है यह काम मानव की स्वतंत्रता ही करता है। मार्क्सवादी दार्शनिकों में नीत्शे ने 'ईश्वर

की मृत्यु' की घोषणा की। नीत्शे का मानना है कि संसार और मानव जीवन के विषय में शाश्वत नियम-निर्माता नाम की कोई अवांतर सत्य नहीं है। सारे मूल्यों का निर्माण स्वयं मनुष्य ने किया है। मूल्यों के चयन में मनुष्य अपने अतिरिक्त और किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं है। सार्त्र के अनुसार मानव से निरपेक्ष रहकर मूल्यों में स्वतः कोई प्रामाणिकता नहीं है। मनुष्य जब उसका चयन करता है तभी वह सार्थक बन जाता है। मूल्यों का चयन मानवीय स्वतंत्रता पर आधारित होने के कारण स्वतंत्रता ही मूल्यों का आधार है। सार्त्र यह भी मानते हैं कि चाहे तो मनुष्य मूल्यों में परिवर्तन भी कर सकता है। ऐसा कोई मापदण्ड नही जो चयन को सही या गलत निर्धारित करें। यह धारणा मिथ्या है कि मानवीय चयन को समाज द्वारा समर्थन प्राप्त हो जाए तभी वह उचित है। आदर्शवाद विचारों को वस्तु के पूर्ण ज्ञान का आधार सिद्ध करता है। उसमें तथ्यों की अपेक्षा विचारों में स्थित वस्तु को प्रामाणिकता मिलता है। आदर्शवाद ने भी एक हद तक मूल्यों को प्रभावित किया है। अगला दर्शन है व्यक्तिवाद व्यक्तिवाद सामाजिक एवं राजनीतिक दोंनों विचारधारा के केंद्रबिंदु के रूप में व्यक्ति को ही प्रतिष्ठित करते हैं। व्यक्तिवादियों के अनुसार व्यक्ति ही सबके केंद्र में है बाकि सब उनकी ही आवश्यकताओं की पूर्ति केलिए व्यक्ति द्वारा निर्मित है। अतः व्यक्ति पूर्णत : स्वतंत्र है। उसपर किसी का भी परमाधिकार नहीं होता। व्यक्तिवाद इन तथ्यों को भी स्वीकार करते हैं कि व्यक्ति को धार्मिक आचार्यों के आदेशों का आँख मूँदकर मानने की कोई ज़रूरत नहीं। सामाजिक अनुबंधवाद (प्रवृत्तक,हॉब्स, लॉक और रूसो) के व्यक्तिवाद से घनिष्ठ संबंध है। उनके अनुसार शासन की नींव शासितों की सहमति पर निर्भर है और यदि वैसा नहीं हो रहा है तो उसे

बदला जा सकता है। व्यक्तिवाद डार्विन के योग्यतम व्यक्तियों को ही जीवन - संग्राम में टिके रहने का अधिकार है सिद्धांत पर आधारित है। अगला दर्शन समाजवादी दर्शन है। यह व्यक्तिवाद के ठीक उल्टा है। उनके अनुसार राज्य मानव कल्याण केलिए एक अवश्य व्यवस्था है। समाजवाद में व्यक्तिगत लाभ को छोडकर सार्वजनिक कल्याण को महत्त्व दिया गया है। अतः जीवन मूल्यों के निर्माण में इसका भी योगदान रहा है और एक अल्लेखनीय दर्शन गाँधीवादी दर्शन है इसका जड़ सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह है। गाँधी दर्शन समाज में व्यक्ति के आचरण और सार्वजनिक कल्याण को लक्ष्य बनाकर चलते हैं। समकालीन संदर्भ में यथार्थवादी एवं आदर्शवादी दर्शनों का प्रभाव भी जीवन-मूल्यों में बदलाव लाया है। यथार्थवाद पदार्थों की सत्ता को सर्वोपरि मानता है उनके अनुसार जिन वस्तुओं को हम इन्द्रियों से अनुभव कर सके, जिन्हें व्यवहार की कसौटी पर कसा जा सके वही सच है। आदर्शवादियों ने इसका खण्डन किया है। उनके अनुसार सभी वस्तुएँ इन्द्रियों केलिए अनुभवजन्य नहीं होगा। इस प्रकार प्रारंभ काल से लेकर संसार में विकसित दार्शनिक मतों एवं सिद्धांतों का लक्ष्य जीवन-मूल्यों को बनाए रखना ही था। जीवन की गतिशीलता के अनुरूप होनेवाले परिवर्तनों का प्रभाव दार्शनिक विचारों में भी होता है। इन सब बदलावों के बावजूद भी जीवन और दर्शन को अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि दर्शन जीवन को देखने की सही दृष्टि है। अगला है नीति। नीति का संबंध जीवन - मूल्यों के अर्जित तत्त्वों से है। नीति या नैतिकता को मानव-जीवन में प्रमुख स्थान प्राप्त है। नैतिकता से ओतप्रेत जीवन को ही मूल्यवान या श्रेष्ठ कहा जाता है। यही मानव जीवन को सत्यासत्य एवं शुभाशुभ के विवेचन करते हुए श्रेष्ठता

प्रदान करती है। नीति ही मानव को सही कर्मों केलिए प्रेरित करता है तथा सामाजिक व्यवस्था के अधीन जीने को बाध्य करता है। मनुष्य के नौतिक जीवन ही परिवार, समाज एवं राष्ट्र में प्रगति ला सकता है। अर्जित तत्त्वों में विज्ञान भी उल्लेखनीय है। विज्ञान मानव जीवन की दैनंदिन कार्यकलापों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने वाला तत्त्व है। जिसके बिना आधुनिक व्यक्ति एक पल भी जी नहीं सकता। आज का मानव जीवन विज्ञान द्वारा परिचालित है। विज्ञान के सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों पक्षों से आज का मानव जीवन एवं जीवन मूल्य प्रभावित है। अतः जीवन मूल्यों के निर्माण के संदर्भ में विज्ञान का भी सहयोग रहा है। अगला है शिक्षा। शिक्षा से व्यक्ति का व्यक्तित्व रूपायित एवं विकसित होता है और वह एक समूहजीवि बनने की योग्यता प्राप्त करता है। शिक्षा व्यक्ति को विवेकी एवं सुसंस्कृत बनाता है। यह मनुष्य को अपनी तथाकथित मूल्यों से ही नहीं विगत हज़ारों वर्षों की सांस्कृतिक धरोहर से तथा जीवन-मूल्यों से भी जोडते हैं। शिक्षा से ही मानव ने सार्वलौकिक संस्कृतियों से परिचित हो पाया है। डॉ. देवराज का कहना है "शिक्षा का उद्देश्य है व्यक्ति में ऐसी योग्यताओं का उत्पन्न करना जिनके द्वारा वह विभिन्न मूल्यों की सुरक्षा, सृष्टि तथा उपभोग कर सके"।[1] अगल है साहित्य और कला। मानव जीवन एवं साहित्य का संबंध घनिष्ठ है। इसका कारण साहित्य में चित्रित अनुभूतियाँ एवं जीवन यथार्थ है। एक ओर वह जीवन के यथार्थ को सहजता एवं सादगी के साथ प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर कल्पना के सहारे किसी आदर्श को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। साहित्य एवं कला चाहे वह किसी भी युग की हो तथाकथित मानव जीवन की वास्तविकता को शब्दबद्ध

---

1. डॉ.देवराज, संस्कृति का दार्शनिक विवेचन पृ. 368

करता है। मनुष्य के भाव, विचार, संवेदनाएँ एवं जीवन दृष्टि को परिपक्व बनाने में आज तक के साहित्य एवं कला ने अनुपम योगदान किया है। शिक्षा के समान साहित्य ने भी विगत मूल्यों से और उनमें आये परिवर्तनों से मनुष्य को परिचित कराया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जीवन मूल्यों के निर्माणात्मक तत्त्वों में चाहे वह स्वाभाविक हो या अर्जित दोनों का लक्ष्य मूल्यों के सहारे मनुष्य के अस्तित्व की स्थापना एवं उनके जीवन का कल्याण है।

1.2 जीवन-मूल्यों का वर्गीकरण

प्रकृति में जो भी वस्तुएँ पायी जाती हैं उन सबका अपना वैशिष्टय है। वैसे ही हर एक संस्कृति एवं जीवन शैली की भी अपनी निजी विशेषताएँ हैं। ये विशेषताएँ ही मूल्यों में भिन्नता पैदा कर देती है। इन्हीं विशेषताओं के आधार पर ही मूल्यों का वर्गीकरण (Classification) किया गया है। मूल्यों के निर्माण में भिन्न सामाजिक परिस्थितियों की भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इस कारण से मूल्यों के निर्माण एवं व्यवस्थित मूल्यों में परिवर्तन लाने का कार्य सामाजिक आंदोलन या सामाजिक क्रांति से ही होता है। परिणामतः मूल्यों के स्वरूप में भी परिवर्तन आ जाता है, और नवीन मूल्यों की स्थापना हो जाती है। यह निरंतर प्रवहमान प्रक्रिया है। लेकिन कुछ मूल्य ऐसे होते हैं जो शाश्वत एवं सनातन है अर्थात काल एवं परिस्थिति में आनेवाले परिवर्तनों के साथ हम उसकी व्याख्या नहीं दे सकते। अगर ऐसा हो जाता है तो उसे मूल्य के रूप में अपनाया नहीं जा सकता। हर समाज एवं हर संस्कृति में ऐसे मूल्यों का उल्लेख प्राप्त होता है।

जीवन मूल्यों का तर्क-सम्मत और सर्वमान्य वर्गीकरण प्रस्तुत कर पाना जटिल कार्य है। मूल्यों के विभाजन एवं वर्गीकरण विभिन्न विद्वानों भिन्न-भिन्न आधारों पर किया है। इसमें काफी मतभेद भी मौजूद है। मूल्यों का साध्य एवं साधन, वस्तुपरकता तथा आत्मपरकता नकारात्मकता और सकारात्मकता, यथार्थपरकता एवं भावपरकता स्थिरता एवं गतिशीलता आदि कई आधारों पर किया गया है। लेकिन इन सभी वर्गीकरण में तर्क-वितर्क की स्थिति कायम होने के कारण औपचारिक रूप से किसी एक वर्गीकरण को स्वीकारना कठिन कार्य है।

भारतीय विद्वानों ने जीवन मूल्यों के दो रूप प्रस्तुत किया है- साधनात्मक एवं साध्यात्मक। इसका आधार पुरुषार्थ है अर्थात् चार पुरुषार्थों के आधार पर भारतीय विद्वानों ने मूल्यों को इन दो वर्गों में रखा है। धर्म, अर्थ और काम साधानात्मक जीवन-मूल्य है और मोक्ष साध्यात्मक जीवन-मूल्य है। इस संदर्भ में तर्क यह उठता है कि 'मोक्ष' को मूल्य के रूप में इन्होंने स्वीकार किया है कि नहीं। लेकिन मोक्ष मूल्य न होकर जीवन का लक्ष्य, जीवन की चरम परिणति है। मूल्यों की वस्तुपरकता एवं आत्मनिष्ठता के बारे में भी विद्वानों ने अपना मत प्रकट किया है। डॉ. देवराज ने मूल्यों के वस्तुपरक वर्गीकरण के बारे में कहा है कि - "एक अर्थ वस्तुपरक होता है, यदि एक खास संदर्भ में सब सामान्य (Normal) प्रेक्षकों केलिए उसका एक ही वाक्य या अभिप्राय हो"।[1] यहाँ भी मतभेद उत्पन्न होता है क्योंकि एक विषय के बारे में भिन्न व्यक्तियों का भिन्न-भिन्न मत या अभिप्राय होने की संभावना है। डॉ. रमेशचद्र लवानिया नामक विद्वान ने अपनी पुस्तक 'हिंदी - कहानी में जीवन मूल्य' में जीवन मूल्यों को मानविकी के

1. डॉ. देवराज संस्कृति का दर्शनिक विवेचन - पृ. 20

आधार पर वर्गीकृत करने का प्रयास किया है। उन्होंने जीवन-मूल्यों को वैयक्तिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, भौतिक, नैतिक, सौंदर्यमूलक आदि वर्गों में विभाजित करके देखने का प्रयास किया है। 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास में मूल्य संक्रमण' नामक पुस्तक में डॉ हेमेन्द्र कुमार पानेरी ने मूल्यों को स्थिरता और गतिशीलता के आधार पर विभाजित करने को उचित समझा। उन्होंने स्थिर मूल्यों के अंतर्गत नैतिक, सांस्कृतिक, तथा धार्मिक मूल्यों को स्थान दिया है। इसके अंतर्गत रीतिरिवाज़, रूढ़ियाँ एवं प्रथाओं से संबंधित सामाजिक मूल्य एवं सत्य, अस्तेय, बडों का आदर और दूसरों का सम्मान करना जैसे नैतिक मूल्य भी सम्मिलित होते हैं। उनके अनुसार इन मूल्यों में परिवर्तन विरले ही मिलते हैं। गतिशील मूल्यों में आनेवाला राजनीतिक मूल्य, आर्थिक मूल्य, खान-पान, रहन-सहन आदि में परिस्थिति एवं देशकाल के अनुसार परिवर्तन होता रहता है।

मूल्य मीमांसक गोविन्द चंद्र पाण्डेय ने मूल्यों को दो वर्गों में विभाजित किया है- व्यावहारिक और आदर्श । आदर्श मूल्यों को उन्होंने सात्विक मूल्यों की कोटि में रखा है। उनके कथनानुसार "सात्विक मूल्य भावात्मक तथा दर्शनात्मक होते हैं, न कि कर्मात्मक और भोगात्मक, उनमें देशकाल निरपेक्षता, सार्वभौमता, सनातनता का आभास होता है"।[1] डॉ. नगेन्द्र ने 'भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका' नामक ग्रंथ में मूल्यों को आनंदवादी और कल्याणवादी मूल्यों के रूप में वर्गीकृत किया है। इसमें आनंदवादी मूल्यों के अंतर्गत अध्यत्मिक, सौंदर्यमूलक, बौद्धिक, रागात्मक एवं शारीरिक और आनंदवादी मूल्यों के अंतर्गत सांस्कृतिक, नैतिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि मूल्यों को स्थान दिया गया है। आनंद और कल्याण को वे जीवन के दो व्यापक मूल्यों के रूप में स्वीकार करते हैं। जीवन

1. गोविंद चन्द्र पाण्डेय - मूल्य मीमांसा पृ. 76

- मूल्यों के वर्गीकरण अनेक होते हुए भी अधिकांश विद्वानों ने पाश्चात्य चिंतक अर्बन के विभाजन को सर्वाधिक गृहीत माना है। उन्होंने जीवन-मूल्य को जैविक या भौतिक मूल्य, उच्च जैविक या सामाजिक मूल्य, अति जैविक या आध्यात्मिक मूल्य आदि प्रकार बताये हैं। इसमें जैविक के अंतर्गत शारीरिक, आर्थिक, मनोरंजनात्मक उच्च जैविक के अंतर्गत साहचर्यात्मक एवं चारित्रिक अतिजैविक के अंतर्गत बौद्धिक, सौंदर्यात्मक एवं धार्मिक मूल्यों को स्थान दिया गया है। अर्बन का प्रस्तुत वर्गीकरण डार्विन के विकासवाद एवं मनोविज्ञान से प्रभावित है।

उपर्युक्त सभी विवेचन को दृष्टि में रखते हुए समकालीन हिंदी कविता के संदर्भ में बदलते जीवन-मूल्यों की छवि को उद्घाटित करने केलिए जीवन-मूल्यों को विभिन्न जीवन क्षेत्रों की दृष्टि से देखना विषय के साथ न्यायसंगत होगा। अतः जीवन मूल्य को विभिन्न जीवन क्षेत्रों के आधार पर चार वर्गों में विभाजित करके देखने का प्रयास यहाँ किया गया है इसमें पहला है - वैयक्तिक और सामाजिक जीवन मूल्य इसके अंतर्गत व्यक्ति के आचरण, पारिवारिक संबंध, सामाजिक सरोकार, नैतिकता, सदाचार, सामाजिक संगठन, मानवीय संवेदनाएँ आदि पक्षों को महत्त्व दिया जाएगा; दूसरा है आर्थिक जीवन मूल्य इसके अंतर्गत धनोपार्जन की नैतिकता, कालाबाजारी, आज की उदार अर्थनीति आदि पक्षों पर विचार किया जाएगा; तीसरा है राजनीतिक जीवन मूल्य इसमें शासन व्यवस्था, दलबंदी राजनीति और साँप्रदायिकता, जनतांत्रिक शासन व्यवस्था के गुण दोषों पर विचार प्रस्तुत किया जाएगा; चौथा है सांस्कृतिक जीवन मूल्य। इसमें अमानवीयता अति भौतिकता एवं उपभोगवादी संस्कृति, प्राकृतिक धरोहरों पर होनेवाला अत्याचार आदि संदर्भों को देखा जाएगा।

जीवन - मूल्यों को विभिन्न जीवन क्षेत्रों के आधार पर विभाजित करने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह होता है कि मानव जीवन के सभी पक्षों का उल्लेख करना यहाँ संभव हो जाता है क्योंकि विभिन्न आधारों पर श्रेणीबद्ध जीवन-मूल्य मानव जीवन के किसी न किसी क्षेत्र से संबंध रखते हैं और विभिन्न जीवन क्षेत्रों का भी संबंध आपेक्षिक है। इस संदर्भ में शंभू गुप्त के कथन का उल्लेख यहाँ उपयुक्त होगा उनका कहना है "यह एक समय परीक्षित तथ्य है कि समाज, संस्कृति, अर्थव्यवस्था और राजनीति तथा इनसे जुडे हुए अन्य उपागम अपने-अपने क्षेत्र में स्वायत्त होते हुए भी अनिवार्यतः एक दूसरे के सापेक्ष होते हैं। इनके बीच यह सापेक्षता तब से है जब से प्रकृति के साथ संघर्ष और सह अस्तित्व की प्रक्रिया में मनुष्य में विवेक का विकास होना प्रारंभ हुआ। जैसे-जैसे यह विवेक बढता और उन्नत होता गया, यह सापेक्षता भी निरंतर दृढ़ होती गई। यह प्रक्रिया आज भी चालू है"।[1]

जीवन मूल्यों के जिन चारों पक्षों को लेकर यहाँ इसका वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। उन सभी पक्षों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

1.2.1 वैयक्तिक और सामाजिक जीवन - मूल्य

व्यक्ति और समाज जीवन के दो महत्त्वपूर्ण इकाइयाँ हैं। इन दोनों के परस्पर संबंध को बनाये रखनेवाला डोर है जीवन - मूल्य। व्यक्ति में उत्पन्न आत्मरक्षा की भावना से ही समाज की परिकल्पना विकसित हुई। अतः इन दोनों को अलग-अलग रूप में देखने के बजाय एकता के सूत्र में बाँधकर देखना चाहिए।

---

1. शंभू गुप्त - सांस्कृतिक प्रक्रिया में साहित्य, साक्षात्कार जुलाई - 1998

जीवन - मूल्य अधिकतर सामाजिकता को लक्ष्य बनाकर चलते हैं जहाँ पर व्यक्ति की वैयक्तिक स्वतंत्रता को खुलासा नहीं मिलता। इसके अंतर्गत मानव की वैयक्तिक स्वतंत्रता को भी महत्त्व मिल रहा है। इसका अर्थ यह नहीं होता कि व्यक्ति को अपनी स्वार्थता की संपूर्ति केलिए समाज के विरुद्ध कुछ भी करने की स्वतंत्रता प्राप्त है। बल्कि इसका अर्थ यह होता है कि व्यक्ति को समाज कल्याण पर आधारित होकर संयमित व्यवहारों को अपनाना चाहिए। समाज भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का समूह है। यहाँ हर व्यक्ति को अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता प्राप्त है इसलिए हर एक की स्वतंत्रता को बचाये रखने केलिए निरंकुशता, उच्छृंखलता एवं दायित्व हीनता से समाज की मुक्ति केलिए सामाजिक जीवन मूल्यों को बनाया गया है। व्यक्ति में उत्पन्न आत्मरक्षा की भावना जब सामूहिक रक्षा की भावना में तब्दील हो जाती है तब जीवन-मूल्यों की सार्थकता सिद्ध हो जाती है। इससे ही उन्हें समाज में जीनेवाले सभी जीवों के जीवन के महत्त्व का अनुभव हो जाता है। मनुष्य एक भौतिक प्राणी होने के कारण हर बात को लेकर वह औचित्य और अनौचित्य पर विचार करता है। पहले वैयक्तिक दृष्टि से और बाद में समष्टिगत दृष्टि से और अंततः मानवीय दृष्टि से। वैयक्तिक क्षेत्र में व्यक्ति अपनी बौद्धिक क्षमता के ज़रिए सही और गलत का अनुमान लगाता है, और इससे संबंधित तर्क-वितर्क प्रस्तुत करता है, और एक निर्णय लेने में सक्षम बन जाता है। लेकिन सामाजिक क्षेत्र में सभी व्यक्ति दो या अधिक पक्षधर अपना-अपना पक्ष स्पष्ट और सशक्त करने का प्रयास करता है।

वैयक्तिक मूल्यों का प्रमुख आधार व्यक्ति के आचरण की पवित्रता है। इसका मूल तत्त्व व्यक्ति में अंतर्निहित गुण होता है। व्यक्ति के चरित्र में जिन गुणों का समावेश मिलता है वही बाद में समाज सापेक्ष हो जाता है। गुण से

तात्पर्य मनुष्य के व्यक्तित्व की विशिष्टाएँ हैं। गुण दो प्रकार के होते हैं अच्छे और बुरे। सत्य, साहस, दया, सहानुभूति, परोपकार, सहनशीलता आदि अच्छे गुण होते हैं। जबकि चोरी, कपट, छल, झूठ, धूर्तता आदि बुरे गुण होते हैं। अच्छे गुणों से युक्त व्यक्ति द्वारा संचालित समाज में मूल्यों का संरक्षण होता है। बुरे गुणों से युक्त चरित्रों द्वारा संचालित समाज असुरक्षा एवं अराजकताग्रस्त होंगे। जीवन अपने आप में मूल्यवान नहीं बल्कि व्यक्ति किस प्रकार जीवन को जीते है, उसी के आधार पर जीवन मूल्यवान बनता है। अगर व्यक्ति का वैयक्तिक जीवन मूल्यवान है तो स्वाभाविक रूप से उसका सामाजिक सरोकार भी मूल्यवान बन जाता है। व्यक्ति द्वारा निर्मित समाज को जब विकास की गति प्राप्त हाती है तब उसमें काफी परिवर्तन आ जाता है। इसका प्रभाव मानव जीवन और उनके द्वारा निर्मित जीवन - मूल्यों में भी पड़ता है। अतः सामाजिकता ही वह तत्त्व है जो मनुष्य को सृष्टि में वैशिष्टय प्रदान करता है। मनुष्य की सामाजिकता का विकास करनेवाले सारे प्रतिमान सामाजिक जीवन मूल्य कहने योग्य है।

1.2.2 सांस्कृतिक जीवन-मूल्य

मनुष्य इस संसार में जन्म लेता है एक निस्सहाय प्राणी के समान, बाद में वह चलना, बोलना, काम करना, भोजन खाना, रोगों का उपचार करवाना सब कुछ सीख लेता है। बाद में वह अपने व्यक्तित्व को बनाये रखने केलिए, जीवन को व्यवस्था प्रदान करने केलिए एक आचरण संहिता को रूपायित करता है। मनुष्य एक ही जाति में जन्म लेते हैं फिर भी विभिन्न वर्गों एवं समुदायों में बाँटकर रहने के कारण सबकी अपनी अलग आचरण एवं जीवन शैलियाँ होती हैं। इस प्रकार प्रत्येक समाज के सदस्यों के आचरण की कुछ विशिष्ट प्रणालियाँ होती हैं

जिन्हें संस्कृति का नाम दिया जाता है। एक सामाजिक प्राणी होने के कारण मानव द्वारा आचरण में लेने वाले वे सभी विश्वास, विचार, परंपरा, संस्कार, आदेश, आदर्श, कला, तथा अन्य क्षमताएँ एवं निपुणताएँ सब कुछ सांस्कृतिक जीवन मूल्य के अंतर्गत आ जाते हैं। मोटूरी सत्यनारायण ने संस्कृति को व्याख्यायित करते हुए लिखा हैं कि "संस्कृति समस्त मानव जाति के सामाजिक प्रयत्नों का परिणाम है। संस्कृति मनुष्य पर अपना विशेष प्रभाव डालती है तथा मनुष्यों के आचरण, व्यवहार आदि का निर्धारण करती है"।[1]

सामान्यत : लोगों की धारणा है कि सभ्यता माने विद्वता है, अतः सभ्य का अर्थ ऐसा मनुष्य जो विद्वान हो एवं किसी विशेष क्षेत्र जैसे कला, संगीत, साहित्य में निपुण हो। जो मनुष्य अधिक शिक्षित नहीं होता और जिनका व्यवहार कठोर होता है उन्हें जंगली या असभ्य कहा जाता है। किंतु मानविकी के अनुसार मानव का संपूर्ण व्यवहार एवं आचरण ही संस्कृति है तथा इस शब्द में सभ्यता भी सम्मिलित है। मानविकी सभ्य एवं असभ्य में कोई अंतर नहीं मानता। संस्कृति विरासत में उपलब्ध मानव चिंतन और क्रियाओं के उस परिष्कृत और सम्यक रूप की द्योतक होती है, जिसमें समाज की पहचान सन्निहित रहती है। सांस्कृतिक जीवन मूल्यों से समाज की संस्कृति पुष्ट और विकसित होती है। जहाँ पर भारतीय सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों का प्रश्न उठता है इसकी कुछ अपनी निजी विशेषताएँ होती हैं। इसमें पहली विशेषता धार्मिक विविधता है। इससे प्रभावित होकर ही लोगों की शारीरिक एवं मानसिक जीवन मूल्यों का रूपायन होता है। दूसरी विशेषता समन्वयवादिता है। इससे ही अनेकानेक संस्कृतियों में जीनेवाला

1. मोटूरी सत्यनारयण विश्वज्ञान संहिता - 1

भारतीय समाज सहिष्णुता एवं परस्पर सहयोग से जी रहे हैं। इसकी अगली विशेषता कर्मण्यता है इससे प्रभावित होकर ही भारतीय लोगों में नैतिक जीवन-मूल्यों का विकास हुआ है। सत्यवादिता इसकी और एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। सत्य को चिरंतन एवं सनातन मूल्य के रूप में स्थापित किया गया है। अगली विशेषता लोककल्याण की भावना है। भारतीय साहित्य, कला, दर्शन आदि सब सांस्कृतिक विरासतों में इस भावना को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है।

परंपराओं से जो आचरण चलते आ रहे है उसका संबंध काल सापेक्ष है। इन आचरणों को जिन्हें हम संस्कृति के नाम पुकारते हैं कुछ तो समाज केलिए उपयोगी सिद्ध होता है और कुछ तो बिलकुल रूढ़ि के समान व्यवहृद होता है। उपयोगी तत्त्वों का अस्तित्व रहता है जबकि रूढ़ियों में बदलाव ज़रूर आता है। चाहे कोई भी तत्त्व हो उसकी युग सापेक्षता पर विचार विमर्श अवश्य होता है। जर्जरित मूल्यों की पुनः स्थापना इस प्रकार के सांस्कृतिक बदलाव से ही संभव है। जीवन-मूल्यों की सांस्कृतिक छवि को रूपयित करने में उपर्युक्त सभी तत्त्वों पर विचार करने की ज़रूरत है। युगीन परिस्थितियों में जो भी बदलाव हमारे समाज में मौजूद हुए है उन सबको मूल्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता, वे तो एक मनस्थिति है जैसे कि हम आधुनिकता के संदर्भ में कहते हैं। मानव मन की यह अवस्था कई कारणों से आर्विर्भूत होता है, पनपता है मानव इसमें जाने अनजाने पड़ जाता है। अतः कहा जा सकता है कि मनुष्य को सभ्य बनानेवाले उसे पशु से मनुष्य बनानेवाले सारे तत्त्वों को सांस्कृतिक जीवन-मूल्य के अंतर्गत रखा जा सकता है। प्रागैतिहासिक युग से आज के मशीनी एवं उपभोगवादी संस्कृति में जीनेवाले मानव को देखा जाए तो इस कालावधि में बीच-बीच में कई सांस्कृतिक

जीवन - मूल्यों का उपचय एवं अपचय हुआ है। सांस्कृतिक जीवन मूल्य का कार्य इन परिवर्तनों को हमारे सामने उपस्थित करना होता है।

1.2.3 राजनीतिक जीवन-मूल्य

किसी भी देश के क्रमिक विकास केलिए उसको एक सफल नेतृत्व की ज़रूरत पड़ती है। वैसे तो भारत एक ऐसा राज्य है जहाँ की राजनीतिक या शासन की व्यवस्था सबसे पहले साहसी राजाओं फिर पूँजीपतियों, उद्योगपतियों एवं अंत में जनप्रधिनितियों द्वारा संचालित है, इसका इतिहास साक्षी है। देश की शासन व्यवस्था को सुचारू ढंग से चलाने केलिए साम, दाम, दण्ड नीति की व्यवस्था की गयी है। लोग सुरक्षित रह सके, देश की उन्नति में सभी नागरिकों का योगदान मिल सके आदि सब इसका प्रमुख उद्धेश्य रहा। अतः मानव जीवन में राजनीतिक जीवन मूल्यों का स्थान सबसे प्रभावी माना जाता है।

देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत के राजनीतिक जीवन-मूल्यों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश को एक निश्चित संविधान प्राप्त हुआ। उसमें जितने नियम एवं कानून बनाये गए हैं वे सब जनता को लक्ष्य बनाकर ही हुआ है। इसमें जनता को खुद अपने नेता को चुनने का भी अवसर प्राप्त हुआ। जन-जीवन की अनिवार्य शर्तों की पूर्ति केलिए स्वदेशी संविधान सभा द्वारा संविधान को रूपयित किया गया। इसमें मौलिक अधिकारों को भी वैधानिकता प्रदान की गई। इसके परिणामस्वरूप हर एक नागरिक के दस मौलिक कर्तव्य एवं छह मौलिक अधिकारों को कानून द्वारा नियमित किया गया। इस तरह नागरिकों के अधिकारों एवं कर्तव्यों की वैधानीकरण से भारत के राजनीतिक जीवन-मूल्यों को एक नयी दिशा प्राप्त हुई। इन मौलिक अधिकारों और कर्तव्यों के पालन एवं

संरक्षण हेतु दण्ड नीति को भी व्यवस्थित किया गया। अतः दण्ड मिलने के भय से लोग अपने कर्तव्यों का पालन करने लगे और अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए कानून की सहायता लेने लगे। केवल भारत में ही नहीं बीसवीं सदी के मध्य में विश्व भर में राजनीतिक चेतना जागृत हुई। नवीन राजनीतिक मूल्यों ने दुनिया को जीवन-शक्ति प्रदान की। राजनीति जन-सामान्य के जीवन व्यवहार का अंग बनती गयी। राजनीतिक जीवन मूल्यों के अंतर्गत धर्म का राजनीति पर प्रभाव, युद्ध, नैतिकता, राष्ट्रीय संधी एवं सहयोग आदि तत्त्वों को प्रमुखता प्राप्त है।

भारत में जनतंत्रात्मक शासन व्यवस्था चल रही है। जनतंत्र एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें जन साधारण की हित साधना को प्रमुखता दी गई है। एब्रहाम लिंकन के शब्दों में यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें शासन जनता का, जनता केलिए जनता द्वारा किया जाता है। इस शासन व्यवस्था के केंद्र में जनता ही रहती है। जनतंत्रात्मक शासन का उदय राजतंत्र की निरंकुशता और शोषण से मानव को मुक्ति दिलाने के महान उद्धेश्य को लेकर हुआ है। विविध कार्य-योजनाओं की तैयारी के लिए सरकार विभिन्न समितियों का गठन करता है। इन समितियों के रिर्पोट के अनुसार जो कार्य अधिक लोक-हितकारी बन जाता है, उसी को लागू करने की अनुमति देता है और जिस कार्य के निर्णय में तर्क-वितर्क की स्थिति उपस्थित होती है उसके कार्यान्वयन में देरी करता है। लोक हित की भावना का अवहेलन करते हुए लागू करनेवाले नियमों से समाज में हड़ताल अनशन जैसी असामाजिक एवं अराजक स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। किसी भी देश की शांतिपूर्ण उथ्तान एवं सामंजस्यपूर्ण वातावरण केलिए सामूहिक निर्णय को लोकवादी विचारधाराओं पर आधृत होनी चाहिए। इसी सामूहिक निर्णय को लक्ष्य

बनाकर जनतांत्रिक शासन में मतदान की व्यवस्था की गई है। मतदान के ज़रिए जनता शासन व्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी भागीदारी देती है। जनतंत्रात्मक शासन व्यवस्था में जनमत के सिवाय कोई भी सरकार अपने शासन को पूर्ण नहीं कर सकता। अतः अनैतिक शासन के विरुद्ध आवाज़ उठाने का मौका भी यहाँ उपस्थित है।

किसी भी राज्य में राष्ट्र की अखण्डता को बनाये रखने केलिए तथा सहिष्णुता को बरकरार रखने केलिए राजनीतिक जीवन-मूल्यों का योगदान सराहनीय है। राजनीतिक जीवन मूल्यों के संदर्भ में न्यायपालिका को भी सर्वोच्च स्थान प्राप्त है क्योंकि यह भी राजनीति का एक अविच्छिन्न अंग है। न्याय-व्यवस्था का सुदृढ़ होना इसका मतलब है - राज्य में अपराध नगण्यता, न्यायव्यवस्था के चलते कोई किसी का शोषण नहीं कर सकता, किसी पर अत्याचार नहीं कर सकता, और इसके होते हुए देश की व्यवस्था नीतियुक्त एवं सामंजस्यपूर्ण रह पाएगी। राजनीतिक जीवन-मूल्यों का भी उद्देश्य यही है। इनके होने पर ही नीतियुक्त एवं आदर्श शासन संभव हो पाएगा। न्याय व्यवस्था के कारण ही हमारे समाज में राजनीतिक जीवन-मूल्यों का संरक्षण संभव हो पाया है।

1.2.4 आर्थिक जीवन-मूल्य

अर्थ मानव के भौतिक जीवन का संचालक है। भारतीय दर्शनों में पुरुषार्थ चतुष्टय का उल्लेख किया गया है। उसमें अर्थ को दूसरा स्थान प्राप्त है। अर्थ मानव जीवन की एक अनिवार्यता है। कार्ल मार्क्स ने भी वर्ग संघर्ष के मूल कारण के रूप में अर्थ को ही स्वीकारा है। मनुष्य अपने जीवन में आर्थिक पूर्णता हेतु

प्रयास करता रहता है। जिन आर्थिक गतिविधियों से मनुष्य को पूर्णता प्राप्त होती है, वे सब आर्थिक जीवन-मूल्य है। देश के आर्थिक जीवन - मूल्यों का आधार है आर्थिक योजनाएँ जैसे पंचवर्षीय योजना, उत्पादन एवं वितरण के क्षेत्र में सहकारिता आदि। आर्थिक जीवन मूल्यों में व्यक्तिगत संपत्ति का भी उल्लेख मिलता है। व्यक्तिगत संपत्ति का निषेध पहली बार बुद्ध ने किया है। आज के युगीन जीवन-मूल्यों में अर्थ की महत्ता सर्वत्र दिखाई देती है। आज जिसके पास धन है वह समाज में सुखी एवं सम्मानित है। वह सज्जन एवं सभ्य है। अर्थ जीवन की अनिवार्यता तो है लेकिन अर्थ संचय का मार्ग भी उचित होना चाहिए। आर्थिक जीवन मूल्य का मुख्य प्रतिपाद्य यही है। इस भौतिक जगत में ज़िदा रहने केलिए हमें अर्थ की ज़रूरत पडती है। लेकिन अर्थ के उपार्जन में नैतिकता बरतना भी मानव का दायित्व है। मानव जीवन का आत्यंतिक लक्ष्य सुख की प्राप्ति है। सुख की प्राप्ति केलिए एकमात्र माध्यम अर्थ है। लेकिन अर्थ को केवल भोगवादी दृष्टि से आंकना मानवता केलिए ध्वंसनात्मक है। जीवन-मूल्यों के संदर्भ में धर्म से युक्त अर्थ को ही स्वीकारा गया है। अर्थ की अनिवार्यता या मूल्य इस पर आधारित है कि जिसकी प्राप्ति केलिए इसका व्यय होता है। केवल संपत्ति को बटोरकर सदा उसे सुरक्षित रखने की बेचैनी में रहना मूर्खों का काम है। अर्थ जिस प्रकार मानव जीवन केलिए अनिवार्य है उसी प्रकार अर्थ अधिकता मानव जीवन केलिए हानिकारक भी है। अर्थ केलिए या संपत्ति केलिए ही युद्ध होता रहता है।

अर्थशास्त्र में सम्पत्ति को जीवन का लक्ष्य माना जाता है। आर्थिक जीवन-मूल्यों के अंतर्गत जीवन के आधारभूत आवश्यकताओं का उत्पादन उसका वितरण आदि से संबंधित कार्य आता है। उत्पादन का अर्थ उन वस्तुओं के

उत्पादन से है जिसका मनुष्य के उद्धेश्यों से संबंधित मूल्य हो, अर्थात् जो मनुष्य के विशेष उद्धेश्यों की पूर्ति करते हैं जैसे अन्न, कपडा, लौहा आदि। अर्थ एक लाभकेंद्रित मुद्धा है तो भी जब हम मूल्यों के संदर्भ में अर्थ को लेते हैं तब इसकी उपयोगितावादी एवं लाभकेंद्रित छवि को मिटाकर इसके मानवतावादी रूप को ही अपनाते हैं। आज के उपयोगितावादी संस्कार में जीनेवाले मनुष्य ने केवल लाभ को जीवन का एकमात्र लक्ष्य बनाया है। लाभ केलिए वे चीज़ों के समान अपने स्वाभिमान, पहचान एवं संवेदानाओं तक की बिक्री करते हैं। लाखों लोग भूख के कारण मरनेवाले हमारे समाज में खाद्यान्नों को छुपाके रखकर आर्थिक लाभ लेनेवाले अनेकों व्यावसायिक मौजूद है। यह बात हमेशा याद रखनी चहिए कि अर्थ मनुष्य केलिए है, मनुष्य संपत्ति केलिए नहीं। आर्थिक क्षेत्र में बढ रही अनैतिकता से आर्थिक जीवन-मूल्यों में घातक प्रतिघात हुआ है। अर्थ का उद्देश्य मानव की आवश्यकताओं को बढ़ाना नहीं बल्कि कम करना है। गाँधी, बिनोबा बावे जैसे महान चिंतकों ने भी अर्थ को इसी मान्यता के आधार पर स्वीकार किया है। भारत जैसे महान देश त्याग एवं अपरिग्रह की महिमा से मंडित है। जहाँ पर साम्यवाद ने अन्न एवं वस्त्र को मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकताएँ मानकर उसकी प्राप्ति केलिए हिंसा के प्रयोग को उचित समझकर आर्थिक समानता की बात उठायी है तथा पूँजीवाद ने निर्धनों एवं अतृप्त व्यक्तियों की अवहेलना करके समानता की माँग की है, वहाँ अपरिग्रह ने मनुष्य के उदार होने को महत्त्व दिया है। बिना हिंसात्मक रीतियों को अपनाये आर्थिक साम्य तथा सामाजिक समता के उद्देश्यों की पूर्ति करने की चेष्टा की है।

आज व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र में विकास की नीति चल रही है। विकास

से तात्पर्य आर्थिक विकास से है। देश को विकसित, अविकसित एवं अर्धविकसित इन तीन श्रेणियों में बांट कर रख दिया गया है। जब तक यह सीमा निर्धारण कायम रहेगा तब तक आर्थिक जीवन मूल्य पूर्णत; नैतिकता पर आधारित नहीं हो सकता। मनुष्य प्रगति की ओर अग्रसर इसलिए होता है कि प्रगति उसे यह विश्वास दिलाता है कि मनुष्य की पूर्णता संभव है। मनुष्य सुखवादी एवं भोगवादी जीवन चाहते हैं इसलिए वह कम समय में ज़्यादा कमाने की इच्छा रखता है। इसके परिणाम स्वरूप ही समाज में आजकल दिखाई पड़नेवाली सभी अराजकताओं का जन्म हुआ है। युवा पीढियों में इसकी मात्रा बहुत ही बढ गई है। वे शराब, और अन्य हानिकारक नशीले पादार्थों की बिक्री एवं इस्तेमाल करते हैं। इससे देश के विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है। इसका प्रमुख कारण आर्थिक असमानता ही है। मूल्यों में बदलाव केलिए आर्थिक असमानता भी एक महत्त्वपूर्ण कारण बन जाती है। कुछ लोग खूब खाते-पीते मौज करते रह रहे हैं और कुछ भूखे नंगे होकर मर जाते हैं। समत्व एवं सौहार्द के नारे गूँजनेवाले समाज में यह असमानता कायम हुए अनेकों वर्ष बीत गए। जब तक अर्थनीति में स्वावलंबन नहीं प्राप्त होता तब तक व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र पिछडेपन की दशा से आगे नहीं बढ सकता। इसका असर हर एक जीवन के सांस्कृतिक पक्ष पर भी पड़ता है और उनके जीवन मूल्य भी इससे प्रभावित होता है।

अतः जीवन मूल्यों के अध्ययन के संदर्भ में मानव जीवन के इन महत्वपूर्ण चारों पक्षों को लेकर इसका विवेचन विश्लेषण होना चाहिए क्योंकि मानव का संपूर्ण जीवन इन चारों तत्त्वों में ही साकार हो उठता है।

1.3 जीवन मूल्य और हिंदी कविता साहित्य

साहित्य और कला में जीवन-मूल्यों का रूपायन होता है। साहित्य के संदर्भ में जीवन-मूल्यों की अवधारणा बाकी की तुलना में काफी कुछ भिन्नता के साथ उपस्थित होती है। जिस प्रकार ज्ञान-विज्ञान और नीति-धर्म आदि क्षेत्रों में जीवन-मूल्य तर्कपूर्ण और वक्तव्य प्रधान होता है उसी प्रकार साहित्य के संदर्भ में मूल्यों को नहीं लिया जा सकता। जीवन मूल्यों का रूपायन साहित्य के माध्यम से होता है। साहित्य के द्वारा जीवन मूल्य अचेतन मन से चेतना लोक में आते हैं। साहित्य में जीवन-मूल्य सूक्ष्म सिद्धांत के रूप में नहीं बल्कि अनुभूत सत्य के रूप में प्रकट होता है।

साहित्य का लक्ष्य मानव कल्याण है और जीवन- मूल्य की अवधारण भी मानव कल्याण पर निर्भर है। जिसका जीवन में मूल्य है उसका साहित्य में भी मूल्य है। साहित्य मानव जीवन का प्रमाण पत्र है। वैयक्तिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक गतिविधियों के अनुसार मानव जीवन में आनेवाले बदलाव को सबसे पहले साहित्यकार पहचान लेते हैं। साहित्य में मूल्यों की अभिव्यक्ति संवेदनात्मक धरातल पर होती है। साहित्य में अभिव्यक्त मानवीय मूल्य व्यक्ति के माध्यम से अनुभूत सामाजिक धारणाएँ हैं। अतः इनसे सामाजिक मूल्यों के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया एवं उससे उद्‌भूत इन मूल्यों के विकास की संभावित दिशाओं को भी परख सकते हैं। स्पष्ट है कि साहित्यकार की आस्था शाश्वत मूल्यों पर है। परंतु वह सामयिक मूल्यों के प्रति भी सजग रहता है और अपने विवेकानुसार साहित्य में उसका प्रतिपादन भी करता है। वस्तुतः साहित्यकार जीवन के अंदर से जीवन

का साक्षात्कार करता है। अन्य ज्ञान तत्त्व वेत्ताओं के समान वह जीवन को मात्र वस्तु नहीं मानता और न ही इसी आधार पर उसका विश्लेषण करता है। साहित्य में सामान्य जीवन की अभिव्यक्ति इसलिए मिलती है कि साहित्यकार युगीन वातावरण से सर्वदा जुडा हुआ है। परिस्थितियों को जाने बिना जीवन मूल्यों को पहचानना कठिन है क्योंकि जीवन - मूल्य परिस्थिति एवं काल सापेक्ष है।

साहित्य का सृष्टा मानव है। अतः मानव के जीवन को शब्दबद्ध करना ही साहित्य का उद्धेश्य है। मानव जीवन की सबसे बडी विशेषता है कि वह गतिशील एवं परिवर्तनशील है। यह गतिशीलता एवं परिवर्तनशीलता जीवन मूल्यों में भी देखी जा सकती है। परिवर्तित जीवन मूल्यों के अनुरूप साहित्यिक विधाओं की अभिव्यक्ति में विषयपरक परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण स्वरूप हम यादि आदिकालीन साहित्य को लें तो स्पष्ट है कि उस समय साहित्य में जिन मूल्यों की अभिव्यक्ति होती थी वह भक्तिकालीन साहित्य में नहीं है। भक्तिकाल में उसमें काफी परिवर्तन दिखाई दे रहा था। इसी प्रकार भक्तिकालीन साहित्य में अभिव्यक्त जीवन - मूल्य से बिलकुल भिन्न है आधुनिक एवं समकालीन साहित्य का जीवन-मूल्य। लेकिन इन सभी बदलावों में या हर एक युग में अभिव्यक्त साहित्यिक जीवन मूल्यों पर पूर्ववर्ती साहित्यिक धारा के मूल्यों का प्रभाव अवश्य पड़ता है या तो सकारात्मक रूप में या फिर नकारात्मक रूप में। साहित्यकार के विचारों तथा जीवन संबंधी दृष्टिकोण में तत्युगीन आचार-विचार, रहन- सहन, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ और नियम होते हैं। अतः इन युगिन परिस्थितियों के आधार पर ही जीवन मूल्यों का निर्माण होता है। साहित्यकार पर तत्कालीन जीवन और युगीन आचार-

विचार, रहन-सहन और भावना, आदर्श तथा सामाजिक परिवेश और मान्यताओं का प्रभाव पड़ता है। इन सबका संश्लिष्ट चित्रण उसकी रचनाओं में अभिव्यक्ति पाती है।

स्पष्टतः जब जीवन विकासशील है तो उसको समझने की जीवन - दृष्टि अथवा जीवन-मूल्य भी परिवर्तनशील होंगे और उनसे प्रभावित साहित्यिक मूल्यों के निर्माणक तत्त्वों में भी परिवर्तन आना स्वाभाविक है। इसलिए जीवनवादी, कलावादी, परंपरावादी, आदर्शवादी, स्वच्छंदतावादी, छायावादी, रहस्यवादी, यथार्थवादी, प्रगतिवादी और प्रयोगवादी आदि अनेक साहित्यिक धारायें समय-समय पर साहित्य मंच पर आरोहित और तिरोहित होती रही है, किंतु इन वादों से परे साहित्य का चिर नवीन, चिर सुंदर, सार्वभौम मार्मिक और स्थायी मानवीय संवेदना-पूर्ण मूल्य भी है और वह है लोकहित अथवा मानव कल्याण। मानव के जीवन में काम्य एवं श्रेष्ठ आचारण ही साहित्य में मूल्य बन जाता है। साहित्यकार अपनी रचनाओं में बिंबों या प्रतीकों के माध्यम से मूल्यों की अभिव्यक्ति करता है। साहित्य में शिव के अतिरिक्त सत्य एवं सुंदरम् का भी समन्वय प्राप्त होता है।

साहित्य कहने पर इसके अंतर्गत कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना, निबंध आदि कई विधाएँ आ जाती हैं। इन सभी विधाओं में लेखक या साहित्यकार का लक्ष्य युगीन अनुभूतियों को अभिव्यक्त करना होता है। लेखक एक विशाल सामाजिक प्राणी होने के कारण उसकी वैयक्तिक अनुभूतियों में भी एक प्रकार की सार्वभौमिकता रहती है। इस सार्वभौमिकता की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में लेखक तत्युगीन जीवन मूल्य को ही अपनाते है। अतः जीवन मूल्य के बिना साहित्य और साहित्य के बिना जीवन-मूल्य की अवधारणा निरर्थक

बन जाती है। जीवन मूल्यों से ही साहित्यिक मूल्यों का निर्धारण होता है। प्रत्येक साहित्यकार में युगीन आचार- विचार, रहन-सहन, आदर्शों, सामाजिक परिवेश और मान्यताओं का प्रभाव पड़ता है, जिसका प्रतिबिंब साहित्य में नज़र आता है। दूसरे शब्दों में यदि साहित्य का सृष्टा मानव है तो मानव जीवन को अभिव्यक्ति देना ही साहित्य का उद्धेश्य है। मानव जीवन और साहित्य के गहरे संबंध को व्यक्त करते हुए आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी कहते हैं- "मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ जो वागजाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तोजोद्धीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है"।[1] साहित्य और मानव जीवन की सापेक्षता को व्यक्त करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा कहते हैं "साहित्य तत्कालीन सामाजिक जीवन में भाग लेने, उसकी समस्याएँ तय करने आदि की प्रेरणा देता है, साथ ही उसका व्यापक प्रभाव मनुष्य के संस्कारों के निर्माण में देखा जा सकता है"।[2]

डॉ. सुरेश गौतम ने भारतीय साहित्य कोश में साहित्यिक संस्कारों और मूल्यों की पुनः स्थापना पर ज़ोर दिया है उनका कहना है "आज यदि हम राष्ट्र और मनुष्य को सभ्य और सुसंस्कृत देखना चाहते हैं तो साहित्यिक संस्कारों और मूल्यों की पुनःप्रतिष्ठा और रक्षा अनिवार्य है"।[3] मूल्यों के प्रति साहित्यकार की प्रतिबद्धता को व्यक्त करते हुए डॉ. धर्मवीर भारती कहते हैं "साहित्य की पक्षधरता एक एकांगिता के विरुद्ध दूसरी एकांगिता को स्वीकार करना, एक

---

1. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी - अशोक के फूल पृ. 166
2. डॉ. रामविलास शर्मा - आस्था और सौंदर्य पृ.17
3. डॉ. सुरेश गौतम - भारतीय साहित्य कोश

अन्याय के विरुद्ध दूसरे अन्याय को ग्रहण करना नहीं बल्कि एकांगिता के विरुद्ध व्यापकता का, अन्याय के विरुद्ध न्याय का, सीमा के विरुद्ध मूल्य मर्यादा का पक्ष ग्रहण करना है"।[1] साहित्यकार का महत्त्व इससे निर्धारित होता है कि वह जीवन मूल्यों की अभिव्यंजना मात्र नहीं बल्कि उसकी रक्षा में भी तत्पर रहता है कि नहीं। साहित्य जन सापेक्ष इसलिए बनता है क्योंकि इसमें दर्शनादि की ज्ञानात्मक अनुशासन नहीं होता वह सरल एवं बोधगम्य है। अतः साहित्य में नियोजित जीवन - मूल्य जन साधारण को अन्य अनुशासनों की अपेक्षा बहुत अधिक प्रभावित करता है। साहित्यकार मूल्य दृष्टा, सृष्टा एवं संरक्षक है, क्योंकि किसी भी देश की सांस्कृतिक धरोहर साहित्यकार के हाथों में सुरक्षित है।

साहित्य में जीवन-मूल्य ऊपर से आरोपित नहीं होते बल्कि वे साहित्यकार के अनुभूत सत्य होते हैं, जो उसकी अत्मोपलब्धि की प्रक्रिया में स्थापित होकर अपनी सुंदरता, उदारता और महत्ता के कारण समाज द्वारा जीवन - मूल्यों के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। साहित्यकार जीवन-मूल्यों को सैद्धांतिक घेरे से निकालकर मानवीय जीवन की व्यावहारिकता में प्रस्तुत करता है। साहित्य ही जीवन- मूल्यों को जनोन्मुखी बनाता है। साहित्य के संदर्भ में मूल्यों की तटस्थता स्वीकार्य नहीं है। चाहे स्थिति समकालीन हो या फिर आधुनिक साहित्यकार दोंनों स्थितियों में जीवन-मूल्यों के प्रति सचेत रहता है।

कविता और जीवन - मूल्य : मानव जीवन के उत्कृष्ट नमूनों के ज़रिए पाठकों को प्रबुद्ध बनाना ही कविता का लक्ष्य है। कवि सहज स्वाभाविक सादगी से युक्त यथार्थ जीवन की अनुभूतियों को ही उत्कृष्ट नमूने के रूप में स्वीकार

---

1. डॉ. धर्मवीर भारती - मानव मूल्य और साहित्य - 108

करते हैं। कविता ही वह एकमात्र साहित्यिक विधा है जो मनुष्य के भावात्मक स्तर को जागृत करती है और कविता पढ़ने पर आनंदानुभूति के मिलने के साथ ही वह पाठक को सोचने केलिए विवश करती है। अर्थात् पाठक के भावात्मक तल को आलोडित करती है। शुकल जी कहते हैं - "कविता ही मनुष्य को स्वार्थ संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक - सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है, इस भूमि पर पहूँचे हुए मनुष्य को कुछ काल केलिए अपना पता नहीं रहता। उसकी अनुभूति योग के अभ्यास से हमारे मनोविकार का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है"।[1]

कविता युगीन परिस्थितियों के अनुसार जीवन में आने वाले बदलाव को स्पष्ट करने में सक्रिय विधा है। इसलिए वह समय और समाज से अलग नहीं रह सकती। मनुष्य की सहज प्रकृति है कि वह युगीन परिस्थितियों में आनेवाले सामाजिक परिवर्तनों या बदलाव पर अपनी प्रतिक्रियाएँ जाहिर करती है। यह सामूहिक या वैयक्तिक प्रतिक्रिया के रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है। परिस्थितियों के दबाव से मानव जीवन में हर काल एवं युग में कुछ तत्त्व उससे छूटता है कुछ आकर जुड़ता है और कुछ स्थिर होकर रहता है। युगीन परिस्थितियों में आनेवाले बदलाव के कारण जीवन बोध में भी बदलाव आता है। इस प्रकार का बदलाव कविता याने कि साहित्य में भी हम देख सकते हैं। इसलिए आदिकालीन कविता में अभिव्यक्त जीवन मूल्य नहीं है समकालीन कविता की ।

---

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल - कविता क्या है पृ. 107 (चिंतामणि भाग - 1)

इसकी एक लंबी परंपरा हिंदी काव्य की विकास यात्रा में दृष्टव्य है। इसकी ओर भी नज़र डालने की ज़रूरत है।

1.3.1 पूर्वाधुनिक हिंदी कविता में जीवन मूल्य

हर युग के साहित्यिक मूल्यों में अपनी विशेषता पायी जाती है। हिंदी साहित्य के आरंभ काल से लेकर युगीन काव्य परंपराओं में अभिव्यक्त जीवन दृष्टि अथवा जीवन मूल्य में क्रांतिकारी परिवर्तन हम देख सकते हैं।

हिंदी कविता का आरंभिक काल आदिकाल है। हिंदी की आदिकालीन साहित्यिक परिस्थिति वीरगाथाओं से भरी पड़ी है। आदिकालीन कवियों ने सामान्य जन जीवन के यथास्थिति को कविताओं में स्थान देने के बजाय राजा महाराजाओं की वीर कथाओं के वर्णन को ही प्रमुखता दी है। इसका मुख्य कारण है, इस समय के अधिकतर कवि राजाश्रय में रहनेवाले थे। आदिकाल को वीरगाथाकाल नाम इसलिए दिया गया कि वह राजामहाराजाओं की वीरता भरी चरित का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करता है। हिंदी साहित्य का यह समय लडाई-भिडाई का, वीरता और गौरव का समय था। आदिकालीन वीरागाथा काव्यों का प्रतिपाद्य युद्ध या प्रेम रहा है। इसका यह मतलब नहीं कि आदिकालीन साहित्य पूर्णतः जनसामान्य के जीवन से अलग है इसमें तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक वातावरण की पृष्ठभूमि का अंकन तो हुआ है लेकिन मूलतः ये काव्य रचनाएँ वीररस पूर्ण रही है। अर्थत् आधुनिक युगीन हिंदी काव्य धारा की तुलना में यह कविता आम जीवन के यथार्थ से मुह मोडनेवाली रही है। राजा महाराजाओं के वीररस पूर्ण चरति वर्णन के द्वारा उन्हें आदर्श के रूप में

स्थापित करनेवाली कविताएँ इसमें शामिल है। इस समय मूल्यों के अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर को एवं राजामहाराजाओं को ही मान लेते थे। अतः आदिकालीन कविताओं में चित्रित जीवन मूल्य भी इन दो पक्षों को लेकर चलते हैं। आदिकाल में रचित अपभ्रंश सिद्ध, जैन, नाथ, रासो एवं लैकिक सभी काव्य रचनाओं में राजामहाराजाओं के वीर चरितों का वर्णन उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त, सिद्ध साहित्य, जैन साहित्य एवं नाथ साहित्य में आध्यात्मिकता का भान एवं योगसाधना (मानव के शारीरिक एवं मानसिक विकास केलिए) प्रचार-प्रसार को महनीयता प्राप्त है लेकिन इनमें धार्मिकता का बहुत अधिक प्रसार भी विद्यमान था।

भक्तिकालीन कविता में लोग जीवन-मूल्यों के अधिष्ठाता के रूप ईश्वर को मानने लगे। अवतारवाद एवं धार्मिक आचार अनुष्ठान एवं रूढियों का प्रचार प्रसार हुआ। सांसारिक दुखों से मुक्ति केवल ईश्वर ही कर सकता है। यह विश्वास लोगों के मन में गहरे हो गए। साहित्य ने भी इसको प्रोत्साहन दिया। यह समय धर्म के नाम पर अनाचार एवं अराजकता का समय था। इस समय में लिखित साहित्य अथवा काव्य रचनाओं में संतों की वाणी प्रमुख है। जिसने तत्युगीन जन जीवन की आँखों में चेतना जागृत की। वैसे ही प्रेमाख्यान लिखने वाले कवियों ने रहस्यवादी दर्शन के ज़रिए प्रेमी-प्रेमिका के संबंध को आत्मा परमात्मा का अलौकिक रूप देकर चित्रित किया था जो आम जनता के जीवन से बिलकुल अनभिज्ञ एक काव्यधारा के रूप में विकसित हुई थी। आगे चलकर सगुण भक्तिकाव्य का विकास हुआ तो इसकी सबसे बडी उपलब्धि रही तुलसीदास का रामचरितमानस, सूरदास की रचनाएँ आदि। इन्होंने राम एवं कुष्ण के मानवीय रूप को प्रतिष्ठित करके उनके जीवन चरित का वर्णन किया और उन्हें

आदर्श चरित्र के रूप में स्थापित किया । तुलसीदास ने शील, शक्ति और सौंदर्य से युक्त राम का चित्रण करके समन्वय भावना एवं लोक मंगल को निरूपित किया जो सबसे श्रेष्ठ एवं सार्वभौमिक जीवन मूल्य है। भले ही इन कविताओं में आम जनता के जीवन का यथार्थ नहीं उपलब्ध है फिर भी इन कवियों ने एक सच्चे आदर्श को प्रस्तुत करके जनता को श्रेष्ठ जीवन जीने का आह्वान दिया है। इनकी रचनाओं में धर्म, दर्शन, नैतिकता, सदाचार आदि श्रेष्ठ मूल्यों के रहते हुए भी इन साहित्यिक रचनाओं का प्रभाव तत्कालीन समाज की रूढ़िवादी प्रवृत्तियों पर नहीं पडा है। संत काव्यधारा ने तथाकथित जाति या वर्णव्यवस्था को अस्वीकार करके मानवमात्र को महत्त्व दिया है। प्रेमाख्यानक एवं सगुण भक्तिधारा के काव्यों में भी मानवतावाद की स्थापना एवं लोकमंगल की भावना निहित है। अतः इस समय की साहित्यिक रचनाएँ लोगों को श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों की ओर अग्रसर होने का उपदेश देनेवाली है। इस समय के भक्ति काव्य की और एक उपलब्धि है इसने माता-पिता, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, पति-पत्नी, भाई-बहन, राजा-प्रजा आदि परिवारिक एवं सामाजिक संबंधों के निर्वहण का वर्णन किया है, और उनको आदर्श की कोटि में प्रतिष्ठित करने में भी सफलता हासिल की।

भक्तिकाल से गुज़रते हुए हिंदी कविता जब रीतिकाल में पहूँची तब इसमें लक्षण युक्त श्रृंगरी लौकिक एवं भोगात्मक प्रवुत्तियों को प्रधानता मिलने लगी। इन काव्य रचनाओं में तत्कालीन जनता के जीवन से संबंधित कोई तत्त्व नहीं था और एक नवीन जीवन - दर्शन देने की दृष्टि से भी ये रचनाएँ असफल थी। इन कविताओं का मुख्य प्रतिपाद्य राजाओं की विलासिता भरी भोगवादी जीवन था। इस समय की रचनाएँ सैंदर्य मूल्य के संदर्भ में भी खरा नहीं उतरता। अतः

रीतिकालीन कविताएँ जीवन-मूल्य की दृष्टि से एक असफल काव्यधारा है। लेकिन रीतिकालीन कवियों में बिहारी जैसे कवियों ने सामान्य जीवन के व्यवहार, आदर्श मूल्य एवं संस्कृति संबंधी बातों को अपनी रचनाओं में स्थान दिया है।

1.3.2 आधुनिक हिंदी कविता में जीवन - मूल्य

आधुनिक हिंदी कविता में जीवन -मूल्यों के स्वरूप को परखने से पहले आधुनिकता पर विचार संगत होगा क्योंकि यह एक युग था जिसकी सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के प्रभाव से साहित्य के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है। पहले की अलौकिक आध्यात्मिक काव्य प्रवृत्तियों को छोडकर जीवन के अतियथार्थ का चित्रण इस युग की कविताओं की प्रमुख विशेषता रही। इस परिवर्तन का प्रभाव तत्कालीन जीवन मूल्यों पर होने लगा। मूल्यों का एक बदलता स्वरूप साहित्य(कविता) में उभरकर आने लगा।

आधुनिकता एक जीवनबोध है एक मानसिकता है। आधुनिकता से तात्पर्य है संपूर्ण समाज की नयी गतिविधियाँ और इन गतिविधियों से जो नए मूल्यों की सृष्टि होती है, उन मूल्यों से अपने आपका परिष्कार करना।

19 वीं सदी से लेकर साहित्य में आधुनिकता का प्रभाव प्रकट होने लगा। इस समय भारत में अंग्रेज़ी शासन चल रहा था। देश अंग्रज़ों की क्रूर नीतियों का सामना कर रहा था। उनके आगमन से भले ही देश को बहुत सारी कठिनाइयों का सामना करना पडा फिर भी अंग्रेज़ों के आगमन से हमें बहुत सारी उपलब्धियाँ भी हुई। इसमें सबसे प्रमुख है अंग्रेज़ी शिक्षा। जिससे लोग तत्कालीन समाज में प्रचलित रूढियों, अंधविश्वास एवं पाखण्डों से मुक्त हो गए। आधुनिक अग्रेज़ी

शिक्षा ने भारतीयों के बौद्धिक स्तर को काफी विस्तार प्रदान किया। आधुनिकता के विकास के पीछे का एक और प्रेरणा स्रोत सुधारवादी संस्थाएँ हैं। अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त हमारे सुधारवादी नेताओं ने परंपरागत रूढियों एवं आचारों से देश की मुक्ति केलिए मेहनत की। इन सुधारवादी संस्थाओं में आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसाइटी आदि प्रमुख है। इनका लक्ष्य सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक रूढियों से देश की मुक्ति था। इन सुधारवादी संस्थाओं के अथक परिश्रम से सती प्रथा का अंत, विधवा पुनर्विवाह, बाल विवाह का अंत, स्त्री शिक्षा आदि सफलता के मुकाम पर पहूँच गए। आधुनिकता के संदर्भ में विज्ञान का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, क्योंकि विज्ञान ने मानव को तार्किकता की क्षमता प्रदान की। विज्ञान के प्रभाव से लोग सबके ऊपर तर्क करने एवं प्रश्नचिन्ह खडा करने लगे। किसी भी तथ्य को सबूत के बिना वे स्वीकार नहीं करते। विज्ञान ने विश्वासी मानव को अविश्वासी बना दिया। पहले जिस ईश्वर को मूल्यों के नियामक मानने लगे उस ईश्वर के अस्तित्व को लेकर वाद-विवाद होने लगा। आधुनिक मनुष्य अपने तथा चारों ओर विद्यमान प्रकृति के अस्तित्व पर भी चिंतित है। वे तथ्य को स्वीकार करते हैं अनुमान को नहीं। विभिन्न दर्शनों ने अर्थात् मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद अस्तित्ववाद आदि दर्शनों ने भी आधुनिकता को लाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। वैसे तो इन सब दर्शनों का अर्विभाव पहले यूरोप में हुआ और बाद में भारत में भी इसका प्रचार-प्रसार होने लगा। इस प्रकार अग्रेज़ी शिक्षा, सुधारवादी संस्थाएँ विज्ञान तथा विभिन्न दर्शनों से आधुनिकता की अवधारणा अत्यंत प्रबल एवं सुनिश्चित हो गई। इसका लक्ष्य रहा युगीन संदर्भों के अनुसार नवीनता की स्वीकृति। इन सब तत्त्वों से बाहरी तौर पर लोग

आधुनिक तो बन गए लेकिन भीतर ही भीतर वे परंपरागत मूल्यों पर अधिष्ठित रहे। जिसे हम आधुनिक साहित्य कह रहे हैं वह भीतर से विश्वासी एवं बाहर से अविश्वासी मानव के आत्मसंघर्ष, द्वंद्व एवं तनाव का साहित्य है। आधुनिक हिंदी कविता साहित्य में इस तनाव एवं द्वंद्व से लड़ते-झगडते मानव जीवन का चित्र हमें प्राप्त होता है।

हिंदी साहित्य में आधुनिक हिंदी कविता का प्रारंभ 19 वीं सदी से माना जाता है। अर्थात् भारतेंदु (1868-1900) के समय से। यह समय मध्यकालीन सामंतवाद और आधुनिकता बोध का संधि स्थान है। यहीं से लेकर कविता तथा संपूर्ण साहित्य में आधुनिक भावधारा का विकास हुआ। स्वयं भारतेंदु इस समय के प्रमुख प्रर्वत्तक एवं कवि रहे जिन्होंने हिंदी कविता को रीतिकालीन श्रृंगारी काव्य रूढियों से मुक्ति दिलायी। उनकी मंडली के अन्य कवियों ने देशभक्ति और राष्ट्रीयता से ओतप्रोत कविताएँ लिखकर कविता को अधिक सामाजिक बनाने का कार्य किया। इस समय की कविता में पश्चिमी संस्कृति एवं साहित्य का गहरा प्रभाव है। अतः तत्कालीन जन जीवन में प्रचलित जीवन मूल्यों में भी परिवर्तन हो गया। इसका चित्रण इन कवियों ने अपनी कविताओं में किया है। स्वतंत्रता प्राप्ति, भारत विभाजन, धार्मिक विध्वंस आदि का प्रभाव प्रचलित जीवन मूल्यों में काफी परिवर्तन लाया, और नए मूल्यों की तलाश शुरू हुई। इस संदर्भ में डॉ. शंभूनाथ सिंह का कहना है- "नये मूल्यों की खोज तब की जाती है, जब पूर्वप्रचलित जीवन मूल्य या तो ध्वस्त हो जाते हैं या इतने निर्जीव और रूढ़िग्रस्त हो जाते हैं कि नये युग के संदर्भ में उनकी कोई उपयोगिता नहीं दिखाई पड़ती,

जिससे बुद्धिजीवी वर्ग की उनमें कोई आस्था नहीं रह जाती।"[1] वास्तव में भारतेंदु युग का आरंभ पुरानी जर्जारित मूल्यों के साथ हुआ। इस रूढिवादिता से यथार्थ की ओर अग्रसर होने का प्रयास भारतेंदु मंडली के कवियों ने किया है।

आगे चलकर द्विवेदी युगिन (1900-1920) काव्य का प्रादुर्भाव हुआ। इसके प्रमुख प्रवर्त्तक महावीर प्रासाद द्विवेदी थे। इस युग की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि यहाँ तक आकर गद्य और पद्य की भाषा एक बन गई। इस समय की कवियों की काव्य दृष्टि मौलिक एवं सुधारवादि थी। राष्ट्रीयता, देश प्रेम, स्वदेशाभिमान, समाज - सुधार, आदर्शवाद नैतिकता आदि इस युग की कविता की प्रमुख विशेषता रही। इस युग की कविता का प्रमुख लक्ष्य सामाजिक सांस्कृतिक सुधार ही था। कविता में हुए इस बदलाव ने तत्कालीन जीवन मूल्यों को भी गहराई से प्रभावित किया। द्विवेदी युगिन काव्य की इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध छायावादी (1920-1936) कविता का विकास हुआ। इसके मूल में व्यक्तिवाद या व्यक्ति की अनुभूतियों की प्रमुखता रही। यह अलौकिक एवं आध्यात्मिक जगत अर्थात् कल्पना जगत में विचरण करनेवाली कविता थी। इसके केंद्र में नारी सौंदर्य, प्रकृति सौंदर्य आदि को महत्त्व दिया गया। इसमें स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह रूढि के स्थान पर प्रयोग का महत्त्व वस्तुनिष्ठता के स्थान पर आत्मनिष्ठता की स्थापना आदि प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। लेकिन व्यक्ति को केंद्र में रखकर उनकी अनुभूतियों को अधिक महत्त्व देने के कारण इन कविताओं में समाज की उपेक्षा पायी जाती है। यहीं से मूल्यों का बदलाव भी होने लगा। छायावाद का सौंदर्य-बोध या तो फन्तासी है या फिर युटोपिया जो निष्क्रियता से ग्रस्त तथा खण्डित है।

---

1. डॉ.शंभूनाथ सिंह, प्रयोगवाद और नयी कविता पृ. 52

इस अवसर पर जीवन के यथार्थ से मुंह मोडनेवाली नहीं बल्कि जीवन को पहचानने वाली साहित्य की माँग हुई। परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य धारा का उदय हुआ। इसमें छायावादी काल्पनिक भावनाएँ नहीं थ। यह काव्य धारा देश प्रेम, स्वतंत्रता, समानता के श्रेष्ठ सामाजिक एवं राजनीतिक मूल्यों से अभिहित काव्यधारा थी। हरिवंशराय बच्चन जैसे महान व्यक्तित्व ने हालावादी कविता को प्रश्रय दिया जो शुद्ध भौतिकवादी काव्यधारा थी। जीवन को सिर्फ मौज-मस्ती के उपकरण के रूप में मानने के कारण साहित्य के क्षेत्र में इसकी प्रभा धीमी पड़ गयी ।

प्रगतिवादि काव्यधारा (1936-1943) का भी यही उद्धेश्य था कि वह छायावादी काल्पनिकता को तोडना चाहती थी, और साहित्य के क्षेत्र में नवीन मूल्यों की स्थापना की और अग्रसर रही । मार्क्सवादी दर्शन के सहारे तत्कालीन सामाजिक असमानता के विरुद्ध आवाज़ उठाने का सफल प्रयास प्रगतिवादी काव्यधारा ने किया है प्रगतिशीलता मूल्य नहीं, मूल्यों को समझने की उदार दृष्टि है। मूल्यों को बदलते हुए परिवेश में तथा उन्हें जीवन में रूपायित करने का प्रयास करना ही प्रगतिशीलता है। प्रयोगवाद का भी यह लक्ष्य था कि वह छायावादी काल्पनिकता से कविता की मुक्ति चाहती थी। अंतर मात्र इतना है कि प्रगतिवादी सामाजिकता पर अडिग था वहाँ वैयक्तिकता केलिए कोइ स्थान नहीं रह गया,और प्रयोगवाद में वैयक्तिकता को अधिक महत्त्व प्रप्त हुआ। इस काव्यधारा के पीछे यूरोप में प्रचलित अस्तित्ववादी दर्शन का गहरा प्रभाव हम देख सकते हैं। प्रयोगवादी नयी कविता में साहित्य में स्थापित जीवन - मूल्यों का स्वरूप धीरे-धीरे बदलने लगे। इसमें व्यक्ति एवं समाज दोनों के अस्तित्व को

महत्त्व मिलने लगा। कविता का विषय विस्तार हुआ। समाज एवं व्यक्ति दोनों की अस्मिता को पहचानने का प्रयास हुआ। परंपरागत रूढ़ियों से मुक्त होकर अभिव्यक्ति के संदर्भ में एक प्रकार की नवीनता आयी। इस काव्य धारा में अभिव्यक्त जीवन मूल्यों में भी यह नवीनता प्रकट हुई। जीवन के सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों पक्षों का उल्लेख कविता में होने लगे। सौंदर्यमूल्य में भी काफी परिवर्तन आया क्योंकि नयी कविता ने सुंदरता एवं असुंदरता दोनों में सौंदर्य ढूँदने का प्रयास किया।

आगे चलकर सनातन सूर्योदयी कविता, अकविता, अभिनव कविता, बीट कविता, भूखी पीढी कविता आदि छोटी-छोटी काव्यांदोलनों का भी उदय हुआ। सनातन सूर्योदयी कविता नयी कविता को अहंवादी मानकर उसके विरोध में अवतरित हुई। प्रचलित काव्य सिद्धांतों को न मानते हुए नवीन काव्य सिद्धांतों एवं मान्यताओं को स्थापित करने के उद्धेश्य से अकविता का उदय हुआ। लेकिन अकविता ने भी जीवन मूल्यों के संदर्भ में किसी विशिष्ट दायित्व का निर्वाह नहीं किया। अभिनव कविता में भोगे हुए यथार्थों का या क्षणों का तटस्थ चित्रण मिलता है। यह पुरातन काव्य परंपरा को छोडकर नवीनता को अपनाने के पक्ष में है। बीट कविता सिर्फ अराजक एवं अतिभौतिक वृत्तियों का काव्य है, यह अविवेकी मानव की कविता है जो सामाजिक विद्रुपताओं के विरुद्ध विद्रोह के रूप में अफीम एवं शराब के गुलाम बनकर निराशावाद को प्रश्रय देते हैं। बीट कविता एवं भूखी पीढ़ी कविता के संदर्भ में शशि सहगल का कहना है -"बीट कविता और भूखी पीढ़ी के दर्शन को यदि मानव समाज स्वीकार कर ले तो

परिणाम सिवाय अराजकता के और कुछ नहीं हो सकता। मूल्यों को बदलने के नाम पर केवल यौन-स्वातंत्र्य की अदम्य लालसा मानव मूल्यों को प्रतिष्ठित नहीं कर सकती"।[1]

उपर्युक्त सभी काव्यांदोलनों को ध्यान में रखते हुए यह कहना उचित होगा कि आधुनिक हिंदी कविता के क्षेत्र में जितने भी काव्यांदोलन हुए उन सभी का लक्ष्य जीवन के किसी एक पक्ष को प्रश्रय देना था। समग्रता की दृष्टि कहीं भी नहीं। समग्रता हीनता के कारण ही एक के विद्रोह में एक -एक काव्यांदोलनों को खडा होना पडा। जीवन मूल्य जीवन की समग्रता एवं समन्वय को महत्त्व देनेवाला तथ्य है। आधुनिक शिक्षा की वजह से मनुष्य के जीवन के हर पहलू को सूक्षमता से आंकने का प्रयास तो हुआ है, लेकिन उनका दृष्टिकोण काफी उपयोगितावादी बन गया। भारतीय संस्कृति के मूल्यों को कुचलकर केवल स्वार्थ, निंदा, हिंसा, संकुचित मनोभावना आदि प्रवृत्तियाँ मानव जीवन पर राज करने लगी। इसका असर मानव जीवन, संस्कृति एवं प्रकृति पर भी पडने लगा। इस पर साहित्यकारों का ध्यान आकर्षित हुआ। वे सोचने लगे कि जीवन की इस जर्जरित अवस्था से मानव की मुक्ति कैसे संभव हैं। यह प्रवृत्ति 1970 के बाद शुरू हुई और इस समय रचित साहित्य को समकालीन साहित्य कहने लगे। पूर्ववर्ती सभी काव्य धाराओं को छोडकर समकालीन कविता में जीवन की समग्रता को प्रश्रय मिलने लगा। इसमें बिना कोई भेद-भाव के सारे के सारे मानव जीवन को अर्थात् स्त्री, दलित, बच्चे, बूढ़े, आदिवासी, प्रकृति, संस्कृति, धर्म आदि सभी पक्षों का सकारात्मक एवं नकारात्मक विवेचन विश्लेषण करने की प्रवृत्ति विद्यमान है।

---

1. शशि सहगल - नयी कविता में मूल्यबोध पृ - 176

1.3.3 समकालीन हिंदी कविता में जीवन- मूल्य

समकालीनता: समकालीनता आधुनिकता का विस्तार है। बहुत ही सरल शब्दों में कहें तो समकालीनता का अर्थ है अपने समय का। अंग्रेज़ी में समकालीनता केलिए व्यवहृद शब्द है 'कन्टेम्पररी', इसका अर्थ है समसामायिक या समकालीन। यह शब्द 'सम' उपर्सग और 'कालीन' विशेषण के योग से बना है, जिसका अर्थ है एक ही समय में होनेवाला।

समकालीनता को विस्तृत परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो इसे काल बोध और मूल्य बोध के साथ जोडा जा सकता है। काल बोध के अनुसार इसका अर्थ है वर्तमान समय को जीना। जहाँ तक मूल्य बोध की बात है वह काफी विस्तृत है क्योंकि वही समकालीन हो सकता है जो हर काल में प्रासंगिक हो और युग-यूगों के अनुरूप कूछ देने की क्षमता रखते हो। अर्थात जो व्यक्ति, रचना या साहित्य काल का अतिक्रमण करता है उसे समकालीन या क्लासिक्स कहते हैं। जो अपने समय के प्रति ईमान्दार है और जिसमें समय की संवेदाओं एवं विसंगतियों को पकडने की शक्ति है वही समकालीन है।

समकालीनता में उच्च मूल्यों एवं आदर्शों को प्रतिष्ठा मिलती है। यह एक निरंतर एवं गतिशील प्रक्रीया है। इसके संबध में डॉ. नरेन्द्र मोहन का कथन है- "समकालीनता एक ठहरी हुई, गतिहीन और जड़ स्थिति नहीं है बल्कि ठहराव, गतिहीनता और जड़ता को सख्ती और निर्ममता से तोडनेवाली एक गतिमान ऐतिहासिक प्रक्रिया और चेतना है।"[1] वीरेन्द्र सिंह का मानना है कि सामान्य

1. नरेन्द्र मोहन, समकालीन कहानी की पहचान पृ.7

मनुष्य केलिए समकालीनता से मतलब उसके समय में घटित होनेवाली बातें हैं। लेकिन एक सर्जक केलिए समकालीनता देश-काल की सीमा से बद्ध नहीं बल्की संपूर्ण विश्व एवं संपूर्ण मानवता तक विस्तृत एवं व्यापक है। साहित्य के क्षेत्र में समकालीनता दो भिन्न रूप में प्रस्तुत होती है। एक तो कलाकार एक व्यक्ति के रूप में अपने समय की घटनाओं एवं विसंगतियों को अनायास ग्रहण करके उनकी अभिव्यक्ति करता है और दूसरे में वह अपने अनुभवों का उसी के अनुरूप वाले अतीत या पुरातन संदर्भों से जोड़कर एक नवीनता को रूपयित करता है। समकालीन साहित्य में यह नवीनता विद्यमान है इसलिए ही कहते हैं समकालीनता आधुनिकता का विस्तार है।

समकालीनता आधुनिकता से प्राप्त एक मानसिकता है। इसके मूल में विद्रोह या प्रतिरोध की भावना है। अर्थात् समकालीन होने का तात्पर्य है विद्रोही या प्रतिरोधि बनना । जो साहित्य समय के यथार्थों के साथ सार्थक संबध रखते हैं और जिसमें समय के अंतर्विरोधों एवं विसंगतियों से लडने की ताकत है,वह समकालीन बन जाता है। विश्वंभरनाथ उपाध्याय के अनुसार "समकालीनता एक काल में साथ जीना नहीं है। समकालीनता, अपने काल की समस्याओं और चुनौतियों का मुकाबला करना है। समस्याओं और चुनौतियों में भी केन्द्रीय महत्त्व रखने वाली समस्याओं की समझ से समकालीनता उत्पन्न होती है।"[1]

समकालीन हिंदी कविता और जीवन- मूल्यः नयी कविता के पश्चात 1960 में समकालीन कविता आंदोलन की शुरूआत हुई। सन् साठ के बाद का समय मूल्यों

1. विश्वंभरनाथ उपाध्याय - समकालीन सिद्धांत और साहित्य पृ. 16

की दृष्टि से विशेष परिवर्तन का समय रहा। समकालीन कविता का परिवेश औद्योगीकरण और महानगरीय सभ्यता का समय रहा। एक प्रकार की मूल्यहीनता थी सब कहीं। पूँजीवादी नगरीय व्यवस्था को सबसे अधिक बल मिला। राजनीतिक एवं सामाजिक स्थितियों के बीच के संघर्ष ने विकास की गति अवरुद्ध कर दिया। इन सभी प्रवृत्तियों का प्रभाव अर्थव्यवस्था, संस्कृति, धर्म, साहित्य आदि पर भी पडा। समूचे संसार विकसित अविकसित एवं विकासशील देशों के रूप में विभक्त हो गए। विश्व में दो ही वर्ग रह गए एक तो सभ्य कहलाने वाला वर्ग जिनके पास अपनी आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति से परे होकर विलासित केलिए भी ढ़ेर सारी संपत्ति है और दूसरा वर्ग जो असभ्य तथा उनके पास अपने आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति केलिए तक धन उपलब्ध नहीं। समकालीन संदर्भ का सांस्कृतिक परिवेश भी ठीक नहीं था। लोग सहानुभूति, दया, करुणा, स्नेह आदि भावनाओं से वचित रह गए। साथ ही आत्मकेंद्रित एवं स्वार्थी हो गए। ऐसी स्थिति में हत्या, स्त्रीयों पर अत्याचार, लूट-मार, दंगा-फसाद आदि का होना स्वाभाविक ही था और समाज अराजक वृत्तियों का केंद्र बन गया। इसके लिए एक कारण पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण है तो दूसरा कारण था उपभोगवादी संस्कृति। समकालीन संदर्भ में धर्म एवं ईश्वर सिर्फ धंधा बन गया।

समकालीन कवि कविता को केवल आनंद अथवा मनोरंजन की वस्तु नहीं मानते। समकालीन कविता की सबसे बडी विशेषता उसकी सहजता बोध है। समकालीन कविता, कविता को सामाजिक प्रतिबद्धता के रूप में अपनाते हैं। आज का समय इतना जटिल है कि पारम्परित मूल्यों में अमूलचूल परिर्वतन आया। आज का परिवेश, आज के व्यक्ति की आवश्यकताएँ, व्यक्तिगत संबध

एवं सामाजिक सरोकार के मापदण्ड भी बदल गए। समकालीन कवि इन सभी पक्षों पर चिंतित है । मित्रता की कसौटी बदल गयी, भाईचारे और पडोसीपन की अवधारण में भी परिवर्तन आया । ऐसी एक परिस्थिति में समकालीन कवियों ने आक्रोश एवं विद्रोह का मार्ग अपनाया। राष्ट्रीय एकजुटता का एक नया रूप भी इस आक्रोश के परिणाम स्वरूप उपस्थित होने लगे।

समकालीन कवियों की मूल्य दृष्टि उनकी सबसे बडी विशेषता सामाजिक यथार्थ को पहचानने की अदम्य इच्छा है। इसके सहारे समकालीन कवियों ने तत्कालीन समय में प्रचलित मूल्यच्युति को पहचानकर जनता में इसके विरुद्ध आवास उठाने व विद्रोह करने का उपदेश देता है। इसकेलिए इन कवियों ने व्यंग्य को भी विद्रोह के रूप में स्वीकार किया। उपभोगवादी संस्कृति की बनावटी परिवेश से सामाजिक जीवन की मुक्ति, इनका लक्ष्य रहा। समाज के किसी भी पक्ष की उपेक्षा न करके नेता, डॉक्टर, वकील, इंजनीयर, अफसर तथा बुद्धिजीवी आदि समाज के सभी वर्ग इसकी लपेट में हैं। समकालीन कविता के विषय विस्तार के पीछे का कारण भी यही रहा है। वह जीवन के किसी भी पक्ष को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखता। समाज के सभी क्षेत्रों में प्रचलित अच्छाइयों एवं बुराइयों का अंकन समकालीन कविता में स्थान पाया है।

सामाजिक प्राणी होने के नाते मूल्यों का संरक्षण मानव का धर्म है। मूल्य निषेध उनके लिए असहनीय है। क्योंकि मनुष्य की मानवीयता को, समाज की सुरक्षा को एवं संतुलन को बिगाड़ने वाली शक्ति मूल्यच्युति में अंतर्निहित है। समकालीन कविता उपभोगवादी संस्कृति के जकडन में फँसे लडते - बौखलाते,

तडपते - गरजते तथा ठोकर खाकर सोचते वास्तविक आदमी की कविता है। इसके मूल्यों के संदर्भ में सामाजिक सापेक्षता, प्रेषणीयता के साथ - साथ सर्वहारा वर्ग के सौंदर्यबोध की पक्षधरता भी है। यह कविता विगत काव्य प्रवृतियों की कमियों को सुधारकर मानवीय संवेदना, जीवन संघर्ष व रागात्मक बोध का, जीवंत सौंदर्य बोध का, सकारात्मक परिप्रेक्ष्य का सृजन करती है। समकालीन कवियों ने तत्कालीन समाज के बदलते परिप्रेक्ष्य में जीवन मूल्य के बदलते परिदृश्य को हमारे सामने उद्घाटित किया है। उपभोगवादी एवं उत्तर औपनिवेशिक संस्कृति में यांत्रिक जीवन जीनेवाले समकालीन मानव समाज की संवेदन शून्यता को, अपने चारों ओर की प्रकृति को पशुता के साथ दोहन करनेवाले, नारी पर अत्याचार करनेवाले, उसे केवल भोग्य वस्तु के रूप में अपनाने वाले समाज के विकृत दृश्यों का चित्रण समकालीन कवियों ने किया है। अनैतिकता को सबसे श्रेष्ठता देनेवाले, अहिंसा एवं अराजकता और भ्रष्टाचार से युक्त राजनीतिक व्यवस्थाओं का खुलापन समकालीन कविता में मिलते है। मानव को मानवीयता की दृष्टि से नहीं बल्कि स्वार्थपूर्ति के उपकरण के रूप में इस्तेमाल करनेवाली सामाजिक व्यवस्था का चित्रण समकालीन कविता में मिलता है। धर्म को ज्ञानार्जन की संहिता एवं आचरण संहिता के रूप से परे दूसरों पर अत्याचार या हमला करने के हथियार बनानेवाले लोगों का चित्रण समकालीन कविता में मिलता है। अतः आज हम जिस परिस्थिति में जी रहे हैं वह इतनी उजडी एवं जर्जरित है कि यहाँ पर स्नेह, दया, करुणा आदि संवेदनाओं केलिए कोइ स्थान नहीं रह गया है। कवि धूमिल से लेकर अर्थात् रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, केदारनाथ सिंह, चंद्रकांत देवताले, गोरख पाण्डेय, वेणुगोपाल, भगवत रावत, अशोक वाजपेयी,

ज्ञानेन्द्रपति, विनय, आलोक धन्वा, वीरेन डंगवाल, विजयेंन्द्र, दिनेशकुमार शुक्ल, मंगलेश डबराल, अरुण कमल, अनामिका, विजय कुमार, लीलाधर जगूडी, लीलाधर मंडलोइ, सविता सिंह,राजेश जोशी, कुमार अंबुज, अनिता वर्म, मुकुल मानस, ओमप्रकाश वात्मीकी, विनोदकुमार शुक्ल, नीलेश रघुवंशी, पवन करण, कात्यायनी, आदि समकालीन कविता के प्रमुख हस्ताक्षर है, जिन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से समकालीन जर्जरित या बदलते जीवन-मूल्यों की ओर हमारे अंतकरण को आकर्षित करनेवाली कविताएँ लिखी हैं। साथ ही इन कविताओं के माध्यम से वर्तमान उच्छृंखलता भरी माहौल से मानव जीवन की उनकी संस्कृति की एवं जीवन - मूल्यों की रक्षा का आह्वान करते हैं।

अतः समकालीन कविता का जीवन मूल्यों से इतना घनिष्ठ संबंध है कि वह मानव जीवन के बाहरी एवं भीतरी यथार्थ की अभिव्यक्ति को महत्त्व देती है। वर्तमान दम घोटने वाली व्यवस्था विरोधी तत्त्वों से मानव की मुक्ति की कामना करती है।

निष्कर्ष

मूल्य शब्द के अनेक अर्थ होते हुए भी उसका अंतिम एवं चरम लक्ष्य मानव जीवन है। मनुष्य की भावनाएँ एवं संवेदनाएँ हैं। जीवन मूल्य विशाल मानव समुदाय को युगीन परिस्थितियों के अनुसार नैतिक जीवन जीने का उपदेश देता है। इसका लक्ष्य परिवार, समाज एवं राष्ट्र के कल्याण की कामना करनेवाले नागरिकों की सृष्टि करना है। उनमें मानवीयता के गुण का विकास करना है। इससे ही मानव जीवन की प्रगति संभव है। संवेदनशील मानव ही अपनी

सांस्कृतिक धरोहरों की रक्षा करने केलिए सक्षम है। उनके हाथ में परंपरा एवं जीवन मूल्यों की विरासत सुरक्षित रहता है।

साहित्य भावों का व्यापार होता है। भावों का इंन्द्रियों के साथ तादात्म्य ही संवेदना है। भाव ही संवेदना का आधार तत्त्व है। कोई भी साहित्य मानवीय भावनाओं से च्युत नहीं। साहित्यकार जो भी अनुभव करते हैं उसका ही प्रत्यक्षीकरण साहित्य के रूप में उभरकर आता है। वैसे तो साहित्य मानव जीवन की ही अभिव्यक्ति है और इसका जीवन-मूल्यों से भी सीधा संबंध है।

समकालीन कवियों में जीवन के प्रति संवेदनशीलता खूब- बखूब मुखरित है। वह मिटती हुई संस्कृति, परंपरा एवं जीवन मूल्य आदि पर बेचैन है। समकालीन कवि युगीन सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक गतिविधियों में होने वाले बदलाव को पहचानकर पहले की अपेक्षा-आज के संदर्भ में मानव जीवन कैसा है? इस प्रशन का उत्तर देने की ओर प्रयत्नरत रहते हैं। जीवन मूल्य जीवन को देखने की एक समग्र दृष्टि है। काल एवं परिस्थिति के अनुसार यह दृष्टि बदल जाती है। अतः समकालीन संदर्भ या समकालीन कविता में जीवन मूल्यों का विवेचन-विश्लेषण समकालीन जीवन बोध के आधार पर ही कर सकता है।

******

दूसरा अध्याय

समकालीन हिंदी कविता में वैयक्तिक और सामाजिक जीवन - मूल्य

दूसरा अध्याय

समकालीन हिंदी कविता में वैयक्तिक और सामाजिक जीवन - मूल्य

व्यक्ति सामाजिक संरचना की सबसे छोटी इकाई है। सामाजिक जीवन - व्यक्ति से होकर ही प्रारंभ होता है। अर्थात् वैयक्तिक जीवन-मूल्यों से मानव जीवन के सभी पक्ष जुड़े हुए हैं। मनुष्य का अस्तित्व या व्यक्ति की अस्मिता समाज में ही साकार हो उठता है। उनमें जिन मानवीय संवेदनाओं का विकास हुआ है उससे ही सभी संबंधों को(चाहे पारिवारिक संबंध हो या फिर सामाजिक) बनाए रखने में वह सक्षम बन जाता है। मानवीय संवेदनाओं की अनुपस्थिति में सारे संबंध निरर्थक सिद्ध होता है।

समकालीन हिंदी कविताओं में कवियों ने व्यक्ति और समाज के सापेक्ष संबंध को ध्यान रखकर जीवन - मूल्यों पर चर्चा की है। सबसे चिंतनीय बात यह है कि आजकल सामाजिकता का गुण गुम होता जा रहा है। समाज को व्यवस्था प्रदान करने के उद्धेश्य को आगे रखते हुए जिन व्यवस्थाओं की स्थापना की गई हैं, वे सभी अब मानवीयता केलिए अवरोधक तत्त्व के रूप में उपस्थित हो गए हैं। कहने का तात्पर्य है कि आज हम सभी संवेदनाओं को, सभी संबंधों को, सभी सामाजिक व्यवस्थाओं को मानते हैं, लेकिन व्यावहारिक जीवन में इसका निर्वाह नहीं हो रहा है। आज का मानव जीवन प्यार का महिमागान, दोस्ती की आत्मीयता, ममता की महनीयता आदि के आदर्शात्मक स्वरूप को लेकर चिंतित हैं, फिर भी व्यावहारिक जीवन में इन तमाम मूल्यों को स्वार्थ के घेरे में बाँध कर रखना चाहते

हैं। मौजूदा हालत को देखकर ऐसा महसूस होता है कि अब किसी के दिल में अपनों के प्रति या दूसरों के प्रति कोई सकारात्मक भावनाएँ नहीं रहती हैं। हमदर्दी, प्यार, इनसानियत, प्रतिबद्धता, प्रतिक्रियात्मकता आदि भावनाएँ वैयक्तिक जीवन से तिरोहित होती जा रही हैं। समकालीन हिंदी कविताएँ इसका प्रमाण हैं। जब व्यक्ति का वैयक्तिक जीवन - मूल्य संकट में पड़ जाता है, इसका स्वाभाविक प्रभाव सामाजिक जीवन-मूल्यों पर भी होता है। सामाजिक संरचना को लक्ष्य करके जिन व्यवस्थाओं को यहाँ पर कायम किया गया है, उसका प्रभाव मनुष्य के बाहरी वातावरण से उनके अंदर घुस गया है। इसका नतीजा आज का मानव समाज भुगत रहा है। 21 वीं सदी के मनुष्य भी अपने जीवन में मानवीयता के स्थान पर जाति, धर्म, लिंग, वर्ग, भेद को मानकर जी रहे हैं। समकालीन कविता में कवियों ने आज के मानव जीवन की त्रासदी पर विचार - विमर्श किया है। नष्ट हो रहे और बदल रहे जीवन - मूल्यों की ओर हमारा ध्यान आकार्षित कर रहा है।

प्रस्तुत अध्याय में वैयक्तिक और सामाजिक जीवन-मूल्यों के आधार पर समकालीन हिंदी कविता को आंकने की कोशिश की गई है। वैयक्तिक जीवन-मूल्यों को नष्ट हो रहे मानवीय संवेदनाओं और टूटते मानवीय संबंधों के आधार पर देखा परखा गया है। सामाजिक जीवन-मूल्यों की स्थिति को खोजने केलिए सामाजिक संरचना को आधार बनाया है।

2.1 व्यक्ति समाज और जीवन-मूल्य

व्यक्ति अपना व्यक्तित्व एवं खास पहचान समाज में रहकर ही करता है। वह अपने इस विशिष्ट व्यक्तित्व एवं पहचान से समाज को प्रभावित करता है।

व्यक्ति और समाज के सापेक्ष संबंध को व्यक्त करते हुए महादेवी वर्माजी कहती हैं - "व्यक्ति तथा समाज का संबंध सापेक्ष कहा जा सकता है, क्योंकि एक के अभाव में दूसरे की उपस्थिति संभव नहीं। व्यक्ति के स्वत्वों की रक्षा केलिए समाज बना है। एक सामाजिक प्राणी स्वतंत्र और परतंत्र दोनों ही है। जहाँ तक वैयक्तिक हितों की रक्षा के लिए निर्मित नियमों का संबंध है, व्यक्ति परंतत्र ही कहा जाएगा; क्योंकि वह ऐसा कोई कार्य करने केलिए स्वच्छन्द नहीं जिससे अन्य सदस्यों को हानि पहूँचे, परंतू अपने और समाज के व्यक्तिगत तथा सामाजिक विकास के क्षेत्र में व्यक्ति पूर्णतः स्वतंत्र रहता है"।[1] व्यक्ति समाज का अभिन्न सदस्य है और उसकी मान्यताएँ समाज - सापेक्ष होती हैं। कई बार व्यक्तिगत मूल्यों और सामाजिक हितों में टकराव हो जाता है। किंतू इनमें सामरस्य आवश्यक है, क्योंकि दोनों निजी विकास केलिए एक दूसरे पर आश्रित है। समाज की मुक्ति व्यक्ति की मुक्ति की शर्त है। समाज से बाहर, उससे अलग रहकर व्यक्ति की स्वतंत्रता अकल्पनीय है। समाज कहने पर इसके अंतर्गत सभ्यता, संस्कृति धर्म आदि बहुत सारी बातें आ जाती हैं याने इन सभी क्षेत्रों में सामाजिक चेतना विकासमान है। अतः इसी सामाजिक चेतना से सामाजिक मूल्य परिवर्तित होता है। वैयक्तिक एवं सामाजिक मूल्यों के अंदर वे सभी तत्त्व आ जाते हैं जो व्यक्ति को, परिवार को, समाज को, राष्ट्र को व्यवस्थित रखने केलिए अनिवार्य है।

समाज में मूल्य सदा बनते मिटते आए हैं। प्रत्येक समाज अपनी आवश्यकतानुरूप मूल्यों का निर्धारण करता है। समाज का संबंध व्यक्ति से है। व्यक्ति स्वभावतः स्वतंत्र या स्वच्छन्द प्रिय है। उसकी स्वतंत्रता जब मर्यादा की सीमा

1. महादेवी वर्मा, श्रृँखला की कडियाँ, पृ - 113

पार करती है तो व्यक्ति चेतना विद्रोह केलिए बाध्य हो जाती है। विद्रोह की इसी बाध्यता के फलस्वरूप सामाजिकता का विजडित घेरा टूटता है और जीवन में पुनः नवीन मूल्यों की स्थापना होती है। मूल्य निर्माण की प्रक्रिया में व्यक्ति एवं सामाजिक हित दोनों महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। मूल्य मानव-समाज की सभ्यता और संस्कृति के संवाहक तत्त्व हैं। किसी भी समाज की श्रेष्ठता मूल्यों पर प्रतिष्ठित होती हैं। जीवन के उन्नयन में 'मूल्य' मुख्य साधन है। मूल्यों को मानव - समाज में पारस्परिक व्यवहार के मापक स्वीकार किए गए हैं। मूल्य कोई शाश्वत मान्यताएँ नहीं। प्रत्येक युग के उसके अलग मूल्य होते हैं ये काल सापेक्ष हैं लेकिन इसके कुछ आधार होते है। उन्हीं आधारों को केंन्द्र में रखकर ही युगीन मूल्यों का निर्धारण होता है। ये आधार सनातन है जीवन एवं संस्कृति की जडें हैं।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से विद्वानों द्वारा मूल्यों का पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत हुआ है। उनके अनुसार कोई भी समाज मूल्यहीनता की स्थिति में नहीं रह सकता। मूल्य हीनता समाज में अराजकता का कारण होती है। अतः प्रत्येक समाज कुछ एक निश्चित मूल्यों एवं नियमों के अंतर्गत ही चलता या चल सकता है। वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन मूल्यों में व्यक्ति के जीवन में क्या हो रहा है, इसका प्रभाव समाज पर कैसे पड़ रहा है, इसमें सही क्या है और गलत क्या है के निर्णय के साथ व्यक्ति और समाज दोनों जीवन स्तरों पर क्या होना चाहिए इसपर विचार किया गया है। मूल्य, समाज के सामूहिक प्रयत्नों का परिणाम होते हैं। अनेक व्यक्ति समय-समय पर व्यष्टिहित से ऊपर उठकर समष्टिहित केलिए मूल्यों की परिकल्पना करते रहे हैं। इस प्रकार मूल्य व्यक्तिगत् प्रयास से उत्पन्न होकर भी समूह के हित केलिए होते हैं। दूसरे शब्दों में मूल्य व्यक्तिगत् होते हुए भी सामूहिक है।

सूक्ष्म रूप से देखा जाए तो मूल्यों की सृष्टि वैयक्तिक स्तर पर ही होता है। लेकिन जब तक उसे सामाजिक स्वीकृति प्राप्त नहीं होती तब तक उसे मूल्य का दर्जा हासिल नहीं होता। अर्थात् किसी भी मूल्य की प्रतिष्ठा केलिए जन-सामान्य की अनुकूलता की भी ज़रूरत है। अतः व्यक्ति और समाज को एक दूसरे से अलग रखकर जीवन मूल्यों पर चर्चा करना सबसे बडी गलती है। व्यक्ति में होनेवाले नैतिक आचरण एवं मूल्याधिष्ठित विवेक संपन्न निर्णयों का विकास विश्वमानवीय कल्याण में परिणत होता है।

2.2 वैयक्तिक जीवन - मूल्य

वैयक्तिक जीवन मूल्यों का शर्त है कि व्यक्ति अपने आचरण के सहारे जीवन के सभी पहलुओं को लेकर उचित अनुचित के विवेचन कर सके। इसके लिए वह जिन तत्त्वों को स्वीकार कर लेते हैं वे सब वैयक्तिक जीवन-मूल्य कहलाने योग्य है। मनुष्य का सबसे श्रेष्ठ गुण है उसकी संवेदनशीलता। इसके सहारे वह जीवन को नैतिकता की दिशा में प्रवाहित करता है और मानवता एवं सार्वभौमिक कल्याण की ओर प्रयत्नरत रहता है। वह अपने स्वार्थ को भूलकर सर्वहित की कामना करने लगता है। वह समन्वयवादी, सहनशील, प्रतिबद्ध, विवेक युक्त निर्णय लेने में सक्षम बन जाता है।

वैयक्तिक जीवन मूल्य दो प्रकार के होते हैं - सात्विक और व्यावहारिक। पुरुषार्थ में धर्म, अर्थ और काम व्यावहारिक एवं मोक्ष सात्विक मूल्यों की कोटि में आ जाते हैं। व्यावहारिक कर्म अहंकारमूलक होता है जबकि सात्विक कर्म अहंकार से मुक्त लोक हित पर आधारित है। इसलिए ही व्यक्ति के जीवन में इन चार पुरुषार्थों का होना अनिवार्य माना जाता है। क्योंकि व्यक्ति अर्थात्

मनुष्य अपने सहज स्वाभाविक प्रेरणाओं का गुलाम होता है। वह अपने जीवन में सुख की कामना को श्रेष्ठता प्रदान करता है और उसी केलिए कर्म करता रहता है। अर्थ एवं काम मनुष्य की सुख प्राप्ति की लिप्सा को बढ़ावा देनेवाले माध्यम हैं और इससे उसकी मुक्ति मोक्ष की कामना से ही संभव होता है। इसलिए ही प्रारंभिक काल से लेकर व्यावहारिक एवं सात्विक तत्त्वों के समन्वय को मानव जीवन में व्यवहृत किया गया है। आज का व्यक्ति एवं उनका जीवन व्यावहारिक कर्मों को प्रमुखता दे रहा है। इससे वैयक्तिक जीवन - मूल्यों का पतन होता है। सात्विकता में नैतिकता और सत्यवादिता को महत्त्व मिलता है वह बोधात्मक है भोगात्मक नहीं। इसलिए भोगात्मक तत्त्वों की ओर व्यक्ति का आकर्षण होना स्वाभाविक है। संप्रति समाज का वैयक्तिक जीवन भोगात्मक तत्त्वों को ही सबसे महत्त्वपूर्ण मान्यता दे रही है। वैयक्तिक जीवन के संदर्भ में सबसे प्रमुख मूल्य है व्यक्ति की स्वतंत्रता। व्यक्ति की सहज इच्छा होती है कि वह सभी प्रकार के सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जाए बिलकुल स्वतंत्र एवं अपने पर निर्भर रह सके। अपने इष्ट को पाए, अपनी खुशी को प्रमुखता दे आदि वासनाएँ आधुनिक एवं इक्कीसवीं सदी में जीनेवाले व्यक्ति का वैयक्तिक जीवन-मूल्य बन गया है। उनका जीवन स्वार्थ के चार दीवारी में बंध गए। जीवन से सारी खुशियाँ नष्ट हो गई। ज़िदगी के भागदौड में वह जीना भूल गया। धनकेंद्रित संस्कृति ने उनकी संवेदनाओं भावनाओं एवं स्वप्नों की सीमा निर्धारित की। वह संबंधों को मन सअपनाने के बजाय बुद्धि से आंकने लगा। वहाँ भी उसकी लाभकेंद्रित दृष्टि की छाया पडने लगी। अतः वह अपने जीवन में खुशियाँ ढूँढने केलिए सभी गलत तरीकों का प्रयोग करने लगा। सत्य, धर्म, न्याय, अहिंसा, प्रेम, दया, करुणा

आदि भावनाओं के स्थान पर, असत्य अधर्म, हिंसा, अन्याय, घृणा, क्रूरता, विद्वेष, जलन आदि भावनाओं को प्रोत्साहन मिलने लगा। इससे व्यक्ति के संपूर्ण जीवन अराजक बन गए। सभी मानवीय संबंध टूट गए। समकालीन हिंदी कविताओं में इसका स्पष्ट प्रमाण हमें मिल जाता है। वैयक्तिक जीवन मूल्यों में आये संकट की स्थिति की स्पष्ट व्याख्या देने में कुँवर नारायण, कात्यायनी, उदय प्रकाश, विजय कुमार, प्रभात त्रिपाठी, वीरा, अनामिका, राजेन्द्र कुमार, चन्द्रकांत देवताले, अनिता वर्मा जैसे कवियों की कविताएँ सफल बन पायी हैं। इन कवियों की कविताओं के माध्यम से वैयक्तिक जीवन मूल्यों में हुए बदलाव को देखने परखने की ज़रूरत है।

2.2.1 मानवीय संवेदनाएँ

संवेदना मानवीय अंत - क्रियाओं का आधार है। भावनात्मक गुणों व विशिष्टताओं को धारण करनेवाला बिंब ही संवेदना है। इस गुण व विशिष्टताओं से ही व्यक्ति अपने सारे संबंधों एवं दायित्वों को निभा रहे हैं। संवेदनाएँ वह गुण है जिसके सहारे व्यक्ति अन्य प्राणियों के जीवन की महत्ता को भी स्वीकार कर लेते हैं और उसके अंदर दूसरों केलिए दुख, स्नेह, दया, करुणा, प्रतिबद्धता, अन्याय के विरुद्ध प्रतिक्रियात्मकता आदि सभी भावनाएँ विकसित होती हैं। वह सहनशील बन जाता है। उसका हर एक कदम विवेकसम्मत एवं लोक कल्याण पर आधारित होता है। वर्तमान समय में मानवीय संवेदनाओं पर विचार-विमर्श इसलिए करना पड़ा क्योंकि अब संवेदनाएँ मानव जीवन से लुप्त हो गई हैं। प्रारंभिक काल में मनुष्य में ये सभी भावनाएँ स्वाभाविक एवं सहज रूप से विकसित हुई। उस समय वह यह भी जानता था कि अकेले में उसका जीवन

सुरक्षित एवं पूर्ण नहीं। इसलिए उन्होंने दूसरों के साथ सह संबंध स्थापित किए। कहीं भी कोई ऐसी दीवार नहीं थी जिससे मनुष्यों के बीच दूरियाँ पैदा हो सके। वे आपस में सब कुछ बाँटकर खुश थे। लेकिन जब से मनुष्य अपनी आवश्यकताओं से परे उत्पादन करने लगे तब से उसकी दृष्टि लाभ पर आधारित हो गई। वह और भी हासिल करने को चाहने लगा। वैज्ञानिक प्रगति ने आधुनिक युग में मानव की इस भोग-लिप्सा को और भी बढ़ावा दिया। आज की धन केंद्रित संस्कृति में जीनेवाले व्यक्ति संवेदानाओं से बहुत दूर चला गया। अब वह अपनों केलिए भी कुछ करना नहीं चाहता यही नहीं अपने ही स्वार्थ को साधने केलिए कुछ भी करने को तैयार हो जाता है। जिस नैतिकता बोध ने उसको मनुष्य का दर्जा दिया था, आज मनुष्य उसी नैतिकता बोध के खिलाफ होने लगे। उनके लिए सभी संवेदनाएँ बेड़ियाँ बनने लगी और वह इन बेडियों को तोड़कर बिलकुल स्वतंत्र होना चाहने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि वह एकदम अराजक वृत्तियों एंव अमानवीय क्रियाकलापों के घेरे में फँस गया चाहते हुए भी अब वह इस बंधन से मुक्त नहीं हो पा रहा है। आज वह ज़िदगी को लेकर फैसला करने में भी सक्षम नहीं, क्योंकि जो फैसला लेता है वह सही है या गलत इसकी चिंता उसे सदा सताता रहता है। समकालीन व्यक्ति के जीवन में हुए इन मूल्य च्युतियों को समकालीन कवियों ने अपनी कविताओं में बखूबी उभारा है। इसका विस्तृत विश्लेषण नीचे दिया जा रहा है।

2.2.1.1 परदुः खकारता

परदुः खकारता से तात्पर्य है, दूसरों के दुख को भी अपना दुख समझ लेना। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी साहित्य को मनुष्य केलिए मानने के पक्षधर हैं।

उनका मानना है "मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुः खकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है"।[1] द्विवेदीजी का मानना है कि साहित्य का उद्धेश्य मनुष्य के हृदय को परदुःखकातर बनाना है आज तक इस लक्ष्य को पाने में हमारा समाज काबिल नहीं हुआ है, यही नहीं उपयोगितावाद एवं उत्तराधुनिकता के समाज में जीनेवाले लोग अपनी संवेदनाओं के साथ छल-कपट भी करने लगे हैं। अपने मतलब को पाने के लिए लोग भावनाओं के साथ बेईमानी करने लगे हैं। दुःख न होते हुए भी दुःख एवं अफसोस का दिखावा करता है। मन ही मन कोसते रहते हैं और आँखों के सामने आते ही स्नेह की धारा फूट निकलती हैं। सबसे चिंतनीय बात यह है कि आज के वैज्ञानिक प्रगति प्राप्त समाज में जीनेवाले हर व्यक्ति के पास अपने किए हुए बुरे करतूतों को सही स्थापित करने की तर्क बुद्धि अवश्य होती है। इसके सहारे वह सारी की सारी अनैतिकताओं को नैतिक घोषित करते हैं और दूसरों को भी यही मार्ग दिखाते हैं। हम चाहे जितने भी वैज्ञानिक बने, जितने भी तर्क करे, जितने भी व्याख्याएँ दें लेकिन सत्य का मतलब सत्य ही होता है, प्यार का मतलब प्यार ही होता है। नफरत का मतलब नफरत ही होता है। इन सभी भावनाओं को उसकी दर्जा जिन प्रतिमानों से प्राप्त हुआ है उनको कभी भी हम बदल नहीं सकते। समकालीन परिवेश में जीनेवाले व्यक्ति की हर कोशिश इन सनातन मूल्यों को बदलनेवाली है।

---

1. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, अशोक के फूल, पृ. 148

वर्तमान समय में जीनेवाले व्यक्ति नैतिक नहीं है। वे नैतिक आचारण को नहीं मानते हैं। अपने स्वार्थ साधने केलिए दूसरों पर अत्याचार करने को वे तैयार रहते हैं। इसका प्रारंभ व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन से ही होता है। सबसे पहले हमें अपने आचरण को सुधारना चाहिए। सुशिक्षित समाज में रहनेवाले लोगों की संवेदनशून्यता को दिखानेवाली कविता है शिवकुमार श्रीवास्तव की 'सूखा : एक प्रतिक्रिया' इसमें कवि कहते है -

"निरुद्धेश्य

लक्ष्यहीन
भाग रहे हैं सब
कोई किसी से
किसी का दर्द बुझेगा नहीं!
रास्ता हो भी तो
ऐसी विलक्षण घड़ी है कि सूझेग नहीं!
क्योंकि सूझना - बूझना
समझने से;
और समझना सोचने से संबंध रखता है!
किंतु सोचने से हमारा संबंध टूट गया है!
जीवन का सही छंद टूट गया है!
इसकी किसी को कोई चिंता नहीं है!
सब चाहते हैं-
एक दूसरे की चिता पर रोटी सेंकना
जिसके लिए आटा नहीं है!
संसार भर घाटे में है

मगर हर मूर्ख समझता है

कि इस व्यापार में घाटा नहीं है![1]

आज का वैयक्तिक जीवन कठपुतलियों का खेल है। अब तो किसी को भी दूसरों की चिंता नहीं। यहाँ कवि इसकी ओर भी संकेत करते हैं कि व्यक्ति अपने आप कुछ खो रहा है लेकिन उसे तो यह भी मालुम नहीं कि उससे कुछ न कुछ छूटता चला जा रहा है। उसकी चिंता तो लाभ और हानि पर केंद्रित है। वह क्या कर रहा है, क्या सोच रहा है इसकी भी सूझ-बूझ उन्हें नहीं है।

आज व्यक्ति में नज़र आनेवाली सबसे बड़ी खामी है उसकी संवेदनशून्यता। समकालीन परिवेश में पलनेवाले व्यक्ति अपनी चरित्र हीनता को सबसे महत्त्वपूर्ण मूल्य के रूप में अपनाते हैं। दूसरों के बारे में कुछ भी कहने को वह तैयार हो जाता है। सच्चाई या वास्तविकता के लिए अब जीवन में कोई स्थान नहीं रह गया है। हम अब बिना सच्चाई का पता लगाए किसी भी व्यक्ति के ऊपर इल्ज़ाम लगाकर निजी स्वार्थ को साधनेवाली अपसंस्कृति में जी रहे हैं। इस पर प्रयाग शुकलजी ने अपनी 'नाम का खतरा' नामक कविता में यों कहा है -

"नाम का सबसे बड़ा खतरा यह
है कि सुना सकता है तुम्हारे नाम पर
कोई भी सच्ची-झूठी कहानियाँ
और पता भी नहीं चल सकता तुम्हें"।[2]

आज हम एक ऐसी संस्कृति में जी रहे हैं जहाँ पर भरोसे की उम्मीद ही

---

1. शिवकुमार श्रीवास्तव - तुम ऋचा हो पृ. 105

2. प्रयाग शुक्ल - बीते कितने बरस -पृ -18

नहीं बचा है। अपने स्वार्थ को पाने केलिए अपनों के साथ छल करने को भी लोग नहीं हिचकते। यहाँ नाम को कवि ने प्रत्येक व्यक्ति के प्रतीक के रूप में लिया है।

समकालीन परिवेश में जीनेवाला व्यक्ति स्वतंत्र है। वह अपने पसंद और नापसंद को खुद चुन सकता है। पहले तो इस चुनाव की प्रक्रिया में विशाल मानव समुदाय का हित भी शामिल था परंतु अब व्यक्ति का हर फैसला आत्म केंद्रित है। वह अपनी जिंदगी में दूसरों की दखलंदाज़ी नहीं चाहता। वैयक्तिक जीवन इतना संकुचित हो गया है कि व्यक्ति अकेला रहना चाहता है। अपने संकुचित स्वार्थ के घेरे से बाहर आना उसके लिए नामुमकिन सा हो गया है। यद्यपि अकेले रहने को वह खुद चुनता है फिर भी उसमें भी वह खुश नहीं है। संत्रास, घुटन भरी ज़िंदगी जीने को वह विवेश है। 'न्यायोचित' नामक कविता में विजय कुमारजी बता रहे हैं-

"यद्यपि दूसरों की विपत्तियों पर
हम अब पहले से काम उदास
फिर भी रोज़-रोज यह मन
पहले कहीं ज़्यादा
अनकही पीड़ाओं का घर बनता जाता है
दौड़ते - भागते
चारपाइयों पर जब पसारते हैं पाँव
भीतर
सहसा यह कैसी खामोश बेचैनी!"[1]

साथ - साथ रहने पर, दूसरों से हमदर्दी, प्यार, दया आदि भावनाएँ रखने से

1. विजय कुमार - रात पाली - पृ - 53 - 54

दुख का अनुभव करनेवाले आधुनिक मनुष्य ने अपने जीवन को इन सब बंधंनों से मुक्ति दिलायी। परंतू जिस स्वतंत्रता को उसने चुन लिया, उसमें भी वह खुश नहीं। जिस संवेदनशून्यता को जीवन का लक्ष्य बनाया, उसी ने अब मानव जीवन को एकदम विकृत, चेतनाहीन, गतिहीन बनाया।

समकालीन कविता में नैतिक मूल्यों के नष्ट होने से व्यक्ति के जीवन में उपस्थित होनेवाली निरंकुशता पर चर्चा हुई हैं। यह कविता हमें यही पाठ देना चाहती है कि चाहे हम जिस परिस्थिति में जिएँ, हमारी संस्कृति में कोई भी बदलाव आये। काल एवं युग का संक्रमण हो जाए लेकिन जिन संवेदनाओं से मनुष्य मनुष्य बनता है उसमें कभी कोई बदलाव नहीं आयेगा अगर बदलाव आ गया है तो समझना चाहिए हम अपनी मानवीयता को खोने लगे हैं। कवि विनोद कुमार शुकलजी ने "हताशा से एक व्यक्ति बैठ गया था" नामक कविता में इसपर अपना बयान दिया है -

"हताशा से एक व्यक्ति बैठ गया था
व्यक्ति को मैं नहीं जानता था
हताशा को जानता था
इसलिए मैं उस व्यक्ति के पास गया
मैंने हाथ बढ़ाया
मेरा हाथ पकड़कर वह खड़ा हुआ
मुझे वह नहीं जानता था
मेरे हाथ बढ़ाने को जानता था
हम दोनों साथ चले

दोनों एक दूसरे को नहीं जानते थे

साथ चलते को जानते थे।"[1]

कवि यहाँ मनुष्य के जीवन को एक सकारात्मक मोड़ देना चाह रहे हैं। आजकल इस प्रकार की भावनाएँ मानव जीवन से गुम होती जा रही हैं। अब किसी को हताशा में देखकर लोगों के मन में उसके प्रति सहानुभूति तो अवश्य जाग उठती है, फिर भी उसकी परिणति एकदम गलत निकल रही है। जो सहानुभूति लोगों के दिल में उभर आती है उस सहानुभूति को जताने का मार्ग बिलकुल भी सही नहीं। लोगों की ज़िंदगी के बदहालत को देखकर उसका फोटो खींचना, फेस बुक पर डालना उसके लिए कितने लैक्स एवं षेर्यस मिलता है उसका हिसाब लेना इन सभी करतूतों से हताश या निराश आदमी के जीवन में कोई बदलाव उपस्थित नहीं होगा। यहाँ इन सब बातों की चर्च का लक्ष्य सामाजिक माध्यमों की भर्त्सना करना नहीं। बल्कि इस सच्चाई को बाहर लाना है कि इन सब बातों पर लोगों का ध्यान आकृष्ट होने में समय लगता है। सबसे पहले दृर्घटना में फँसे या हताश और निराश लोगों को उस हालत से बाहर निकालने केलिए हम क्या कर सकते हैं उस पर ध्यान देना चाहिए। लेकिन आज के व्यक्तियों में इस गुणवत्ता को ढूँढ़ने पर निराशा की अनुभूति होती है।तत्कालीन वैयक्तिक जीवन की सबसे बडी चुनौती है यहाँ किसी को भी दूसरे के प्रति कोई मानवीयता नहीं। अर्थात् कोई भी नैतिक नहीं। व्यक्ति अपनी भावनाओं एवं संवेदनाओं के साथ भी छल-कपट कर रहा है। दूसरों के दुख के साथ दुख जताने की झूठी कोशिश, दूसरों की खुशी देखकर न चाहते हुए भी उसमें शामिल होना आदि सब वर्तमान समय की

1. विनोद कुमार शुक्ल - अतिरिक्त नहीं - पृ - 13

जीवन शैली बन चुकी है। इसपर कवि राजेन्द्र कुमार अपनी 'जीवन भंगिमा' नामक कविता में कह रहे हैं -

"अब
हर्ष में हर्ष और शोक में शोक
दिखानेवाले लोगों को पाकर
विचलित नहीं होता
क्योंकि चेहरे पर
हर्ष और शोक को छलकाकर दिखाना
आज की जीवन - भंगिमा है।"[1]

कवि यहाँ अफसोस प्रकट कर रहे हैं। मानव जीवन पहले क्या था और अब क्या हो गया इसपर सोचने को बाध्य कर रहे हैं। मौजूदा हालत को देखकर अब वह भी विचलित नहीं है, क्योंकि छल एवं दिखावे की संस्कृति को पालने की विद्या हमारा समाज सीख चुका है। अब वैयक्तिक जीवन मूल्यों के प्रतिमानों में इन्हें भी शामिल किया गया है।

संवेदनाओं में आए बदलाव को दर्शानेवाली एक सशक्त कविता है चन्द्रकांत देवतालेजी की 'सहानुभूति जतानेवाले' नामक कविता। इसमें कवि ने अपनी संवेदनाओं के साथ बेईमानी करनेवाले लोगों का चित्रण किया है। जो आज के वैयक्तिक जीवन मूल्यों की च्युति के संदर्भ में काफी मायने रखता है। आजकल सहानुभूति जतानेवाले लोगों से भी डरना पड़ रहा है -

"अपने ही लोग होते हैं सहानुभूति जतानेवाले

---

1. राजेन्द्र कुमार वर्मा - सूर्य बनकर उगना है - पृ - 11

दबे पाँव कमरे में आते हैं

ज़ख्म ठीक हुआ - पूछते हैं

कैसे क्या कर डाला - हँसते हैं

जाते वक्त वे कुछ इस तरह मेरा हाथ दबाते हैं

जैसा मेरा जख्म कब्र में बदलेवाला हो

और वे इसके सख्त खिलाफ हैं

मैं भी मुस्कराकर कहता हूँ

अपना ध्यान रखना सब ठीक हो जाएगा

कोई - कोई जाते वक्त इस तरह मुस्करा जाता है

जिसका अर्थ ढूँढ़ पाना

मुश्किल हो जाता है नींद आने तक।"[1]

आज हम एक ऐसे संसार में जी रहे हैं जहाँ हमदर्दी भी मज़ाक उठाना जैसा दिखता है। लोग अपने आचरण में इतना गिर चुका है कि जो मन में है उससाफ-साफ प्रकट करता नहीं और झूठे प्यार एवं आश्वासन देता रहता है।

उपर्युक्त कविताओं के अध्ययन से यह बात सही स्थापित हो जाती हैं कि वर्तमान समय में जीनेवाले व्यक्ति दूसरों के प्रति कोई संवेदानाएँ नहीं रखते हैं। अगर किसी के मन में ऐसी कोई भावना उभर आती है तो समझ लेना चाहिए कि इसके पीछे उसका कोई न कोई स्वार्थ ज़रूर छिपा होगा।

2.2.1.2 प्रतिक्रियात्मकता

मानवीयता को बनाये रखने में प्रतिक्रियात्मकता की भावना भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। कहने का तात्पर्य है जहाँ अच्छाई है वहाँ बुराई की

1. चन्द्रकांत देवताले - उसके सपने - पृ - 210 - 211

उपस्थिति भी ज़रूर होगी। बुराई पर अच्छाई की जीत केलिए मनुष्य में प्रतिक्रियात्मकता की भावना का होना अवश्यंभावी है। जो आजकल व्यक्तिगत स्वार्थों के घेरे में फँस कर मिटती जा रही है। अत्याचार एवं अन्याय को देखकर कर्मफल के पाठ देने की व्यवस्था पुरानी है। जिसका प्रवाह इक्कीसवीं सदी में जीनेवाले व्यक्तियों में भी हम देख सकते हैं। वे तो मानते हैं कोई ईश्वरीय सत्ता नहीं सब कुछ मनुष्य द्वारा किए हुए कर्मों का फल है। आज के लोग अन्याय को देखकर इसलिए छुप रहते हैं कि वे अपनी ज़िंदगी को आराम से जी सके। बाकी सब दूसरों का मामला है उसमें दखलंदाज़ी करके खुद का समय बरबाद करने की ज़रूरत नहीं। इस संकुचित मानसिकता से समाज में फैल रही अमानवीयता को और भी प्रोत्साहन मिल रहा है। इस घिसी पिटी मानसिकता के हिमायती है आज का हर एक व्यक्ति, इसलिए अत्याचार या अन्याय चाहे अपने साथ घटित होता हो या फिर दूसरों के साथ, उनके मूँह से एक लब्स भी नहीं निकलेगा। इसलिए समाज में अब नैतिकता के नाम पर कुछ बचा ही नहीं। सब कहीं अन्याय एवं अराचक व्यवस्थाएँ चल रहीं हैं। सभी मनुष्य शोषण के शिकार हैं उसमें स्त्री, दलित, बच्चे, ऊँच, नीच, वृद्ध सब आ जाते हैं। आजकल कोई नैतिक रहने केलिए तभी काबिल बन पाते हैं जब वह चुप रहना सीखता है। नैतिकता का मापदण्ड अब चुप्पी है। सारी की सारी अनैतिकाओं पर हाँ में हाँ मिलाने से नैतिकता के विशेषण अपने आप आपके नाम से जुड़ जाएँगे। हमारी नैतिकता के सारे प्रतिमान अब बदल चुके हैं। सारे जीवन मूल्य एकदम विकृत एवं विपर्यस्त स्थिति में पहूँच गए हैं। प्रतिक्रियात्मकता की भावना का दुरुपयोग करना आज के ज़माने के व्यक्तियों की चारित्रिक विशेषता हैं। वह शक्तिशालियों के आगे धृति रखते हैं। सहनशीलता

का दिखावा करते हैं और कमज़ोर लोगों के प्रति असहनशील बनता है। शक्तिशालियों और अत्याचारियों के बीच अक्रोध और अहिंसा को अपनाते हैं निरीह, कमज़ोर, पीडितों के साथ भयानक व्यवहार रखते हैं। अत्याचारी को क्षमा करते हैं, अधीनस्त को क्षमा करना वह नहीं जानता। अस्तेय को आचरण में श्रेष्ठ स्थान देता है मगर घूस और पूजा की कमाई को धर्म मानते हैं। सत्य को परम धर्म स्वीकार कर लेते हैं, फिर भी असत्य को भी आपद्धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं। स्त्रियों को देवी बनाते हैं और घर में उन्हें पाँव की जूती बनाकर रखते हैं। अपरिग्रह की बातें मूँह से बहाते रहते हैं और दूसरों के हिस्से पर भी अधिकार ज़माने की जद्धोजहद करते रहते हैं। संयम, दम और इंद्रिय निग्रह की कसमें खाकर जीवन भर भोग लिप्सा में डूबते रहते हैं। भगवान के आगे सबकी बराबरी का पाठ रटते रहते हैं लेकिन व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में गैरबराबरी की समस्या को खदेड़ते रहते हैं। ऊँचे विचारों और कर्मों को लेकर दार्शनिक बहस करते रहते हैं लेकिन विचार को प्रतीक - पूजा और कर्म को कर्मकांडों में बदल देते हैं। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर को अपने से दूर रखने केलिए बाहरी एवं आसान तरीकों को ढूँढते रहते हैं दिल और दिमाग से ये अमानवीय भावनाएँ कभी भी दूर नहीं करती। ब्रह्मचर्य और सदाचार की सीख देते हैं नैजवानों को परंतू व्यावहारिक जीवन में आनेवाली पीदी की तैयारी इस प्रकार कर रहे हैं कि वे सेक्स के रोगी हों और अपने साथ पढती या काम करती लड़की को भी उसी नज़रिए से देखें और उनसे इनसानियत की सारी हदें पार करनेवाली व्यवहार करें। एक बार इन सारे व्यवहारों पर एकत्र प्रतिक्रिया ज़ाहिर हुए तो समाज को इन अनैतिक करतूतों से छुटकारा ज़रूर मिल जाएगा लेकिन ऐसा कभी नहीं होगा, क्योंकि हमारे यहाँ गलती करनेवालें की संख्या से भी

ज़्यादा है उनकी संख्या जो इन गलतियों पर गलती ही नहीं इन अपराधों पर पर्दा डाल रहे हैं। समकालीन कविता में व्यक्तियों से दूर होनेवाली प्रतिक्रियात्मकता की भावना को लेकर काफी बहसें हुई हैं। कवि शिवकुमार श्रीवास्तवजी इसपर कह उठते हैं -

"कोई समर्थ नहीं है
क्योंकि कोई नैतिक नहीं है
सब वक्त की गाली सह रहे हैं;
कोई प्रतिकार नहीं करता है
कोई वक्त की चुनौती को स्वीकार नहीं करता है।
क्योंकि सचमुच कोई यहाँ सैनिक नहीं है।
क्योंकि कोई नैतिक नहीं है।"[1]

यहाँ कवि. धीरता को सबसे बडा वैयक्तिक जीवन - मूल्य मान लेते हैं। समकालीन कविता की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता भी यही है कि वह यथार्थ को समझने और उस समझ के ज़रिए विद्रुपताओं पर, स्वार्थता पर, अमानवीय हरकतों पर प्रतिक्रिया जताने का उपदेश दे रहा है। फिलहाल वैयक्तिक जीवन मूल्यों एवं सामाजिक जीवन मूल्यों की रक्षा के लिए व्यक्ति में प्रतिक्रिया की भावना का होना सबसे ज़रूरी है। कवि उदय प्रकाश ने अपनी 'औरतें' नामक कविता में अपने ऊपर होनेवाले शोषण पर चुप रहने के बजाय पति के पिटने से पहले उसकी कमाई के हिसाब पूछती औरत का चित्रण किया है। परंपरागत मान्यता हैं कि लड़कियों को कहीं भी आवाज़ नहीं उठानी चाहिए। उसे चुप रहना चाहिए। चुप रहकर भी वह अपने घर परिवार को अच्छे से संभाले।

---

1. शिवकुमार श्रीवास्तव - तुम ऋचा हो - पृ - 104

अन्याय अपनी ज़िंदगी के साथ चल रहा है फिर भी मूँह बंद रखनी चाहिए। लेकिन समकालीन कवियों ने इस चुप्पी की रूढ़िवादी परंपरा को तोड़कर प्रतिक्रियात्मकता की भावना को प्रोत्साहन दिया है। कवि का कहना है -

"संदेह, असुरक्षा और डर से घिरी एक
औरत अपने पिटने से पहले
बहुत महीन आवाज़ में पूछती है पति से
कहाँ खर्च हो गये आपके पर्स में से तनख्वाह के आधे
से ज़्यादा रुपये? "[1]

यहाँ जिस औरत का ज़िक्र हुआ है वह संदेह, असुरक्षा एवं डर से घिरी ज़िंदगी जी रही हैं। उसे अपनी इस असुरक्षा से, अपने इस डर से बाहर निकलनी है। वह अब सच्चाई का पता लगाना चाहती है। नैतिकता और अनैतिकता में जो फर्क उसे अब दिखाई दे रही है, उसमें विकसित यह प्रतिक्रियात्मकता की भावना उसी का परिणाम है। व्यक्ति के जीवन की सुरक्षा अन्याय को सहते रहने में नहीं बल्कि उसपर आवाज़ उठाने में हैं।

आज हमारा समाज इतना उजड़ गया है कि यहाँ मनुष्य - मनुष्य को पहचानता नहीं। आँखों देखी घटनाओं को भी लोग नज़रन्दाज़ करके चले जाते हैं। उनके लिए सबकुछ अब साधारण बन गया है। इसलिए कहीं भी किसी को भी कुछ भी हो जाए हमारे समाज के व्यक्ति एकदम चुप हैं - विनोदकुमार शुक्लजी 'साधारण' नामक कविता में बता रहे हैं -

"दफ्तर में छः बजे छुट्टी होती है

1. उदय प्रकाश - रात में हारमोनियम - पृ - 31

जो सात बजे हुई साधारण
सबके साथ घर जाने को बस केलिए खड़ी
दफ्तर की लड़की को अचानक
चार गुंडे आकर जबर्दस्ती ले जाने लगे
तभी बस आई।
बस में बैठे लोग यह देख रहे थे
तब दफ्तर के लोग भी उसी बस में बैठ गए
साधारण।" [1]

आज के लोग इतने निकम्मे एवं कायर हो गए हैं कि उनमें यह तक पूछने की हिम्मत नहीं क्या हो रहा हैं? लोग सोचते हैं कि समाज में ये सब होते रहते हैं, आज एक के साथ है तो कल कोई दूसरे के साथ, बीच में पड़ने को वे अवाँछनीय समझ बैठे हैं। उसमें प्रतिक्रिया जताने की हिम्मत इसलिए नहीं कि वह संवेदन शून्य हो गया है। दूसरों के बारे में सोचने केलिए उनके पास वक्त नहीं है। वह अपने निकृष्ट जीवन जीने में व्यस्त है। समाज अनैतिकताओं का खज़ाना बन रहा है। समाज को सुव्यवस्थित एवं सुरक्षित रखने का दायित्व वहाँ के नागरिकों पर सौंपा गया है, परंतू नागरिक अपने निजी स्वार्थ को साधने केलिए रत रहते हैं। अन्याय के विरुद्ध आक्रोश करना अब सामाजिक माध्यमों केलिए छोड रखा है। अगर इन सारे करतूतों पर सच्ची प्रतिक्रिया जाहिर होती है तो फिर अनैतिक क्रियाकलापों की संख्या में इतनी बढोत्तरी कैसे संभव हो जाएगा।

वैयक्तिक जीवन मूल्यों की दृष्टि से आंकने पर यह बात साफ-साफ

1. विनोदकुमार शुक्ल - अतिरिक्त नहीं - पृ - 67

दिखाई दे रही हैं कि ज़िंदगी को सही मोड़ देने केलिए व्यक्ति में जिन मूल्यों को होना ज़रूरी है उनमें एक प्रतिष्ठित मूल्य है प्रतिक्रियात्मकता की भावना। इसकी हीनता ने व्यक्ति के जीवन के साथ - साथ समाज को भी अनैतिक कर दिया। इसका परिणाम आज के स्त्री, दलित, बच्चे, बूढे आम आदमी सब भुगत रहे हैं। इसकी विस्तृत चर्चा प्रस्तुत अध्याय के अगले हिस्से में शामिल की गई है।

2.2.1.3 प्रतिबद्धता

पहले ही सूचित किया कि मनुष्य में प्रतिक्रिया जताने की भावना ज़रूर होनी चाहिए। इसके ज़रिए वह एक प्रतिबद्ध प्राणी बन जाता है। वह अपने वैयक्तिक जीवन में और अपने परिवेश में अनैतिक कार्यकर्मों को होने नहीं देगा। जब से मानव एक समूह में बाँध गए तब से लेकर जाने अनजाने में उसमें इसकी शुरुआत हुई। साहित्य भी इसी भावना के हिमायती है। साहित्य का सर्वोत्तम गुण यही है कि वह मनुष्य को मानवीयता के गुण से अभिहित करे, समकालीन हिंदी कविता में आज के संदर्भ में जिन जीवन मूल्यों की हानि हुई उसपर ज़ोरों से चर्चा प्रस्तुत है। वैसे तो इन कवियों का श्रेष्ठतम लक्ष्य नष्ट होते जीवन-मूल्यों की पुनः स्थापना है।

वैयक्तिक आचरण को साकार करने में, सही दिशा प्रदान करने में व्यक्ति का जीवन प्रतिबद्धतायुक्त होना परम आवश्यक है। व्यक्ति को समाज के प्रति और समाज को व्यक्ति के प्रति प्रतिबद्धता की भावना पर ही हमारा यह संसार टिका हुआ है। प्रतिबद्धता की भावना से ही नैतिक आचरण का शुभारंभ होता है। प्रतिबद्ध व्यक्ति अपने घर - परिवार, समाज, राष्ट्र सबके प्रकि मानवीयता बरकरार रखने में सफल निकलेगा। लेकिन आज के लोगों से इस भावना की

उम्मीद हम नहीं रख सकते। वे इतने आलसी एवं निकम्मे बन गए कि अपने प्रति भी वह दायित्वहीन रह रहा है। इसपर कवि प्रभात त्रिपाठी अपनी 'स्मृतिहीन' नामक कविता में कह रहे हैं -

"अच्छे आदमी
कम होते जा रहे हैं दुनिया में
यह दुनिया को नहीं
अपने को देखकर महसूस होता है
सचमुच अच्छा आदमी नहीं हूँ मैं
घर में
मैं कोई काम नहीं करता
खाता हूँ और मुराता हूँ
मोटा आदमी होता जा रहा हूँ मैं।"[1]

आजकल मनुष्य एक ऐसी संस्कृति के संचालक बन गए कि कुछ भी किये बिना सब कुछ हासिल हो जाएँ उनके लिए ऐश और आराम ही ज़िंदगी का मकसद है।

अपने कर्तव्यों से दूर भागना मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है। वह खुद दायित्वहीन रहना चाहता है साथ ही अपनी इस दायित्वहीतना को छिपाकर सबके लिए दूसरों को दोषी ठहराता रहता हैं। वैयक्तिक जीवन में अब इसके बुरे प्रभाव ने काफी तेज गति प्राप्त की है। घर को घर बनाये रखने केलिए हर सदस्य की भगीदारी होनी चाहिए। हालत कुछ इस तरह बदल गया है कि एक साथ एक ही घर में रहनेवालों के बीच तालमेल बिठाना अब नामुमकिन हो गया है। यही नहीं वे एक दूसरे के दोष निकालते रहते हैं। बिगडी हालत को

1. प्रभात त्रिपाठी - नहीं लिख सका मैं - पृ - 15

ठीक करने के बजाय आपस में लड़ते रहते हैं। क्योंकि आज का वैयक्तिक जीवन स्वार्थ के जकड़ में फँस गया है वहाँ प्यार, ईमानदारी, सहभागिता के लिए जगह नहीं ऐसे में प्रतिबद्धता कैसे बचेगी। कवि प्रभात त्रिपाठी ने 'गाँधी स्मरण' नामक कविता में इसका खुलासा किया है कि -

" हम अपने बोलने चलने सोने जागने को
सही सही नामों से चाहते हैं जब
तब यह बात कितनी सच लगती है
कि घर अगर घर नहीं है
तो इसका ज़िम्मेदार
सिर्फ वह और वह और वह नहीं
मैं और मैं और मैं भी हूँ।"[1]

लोगों की संवेदनाओं का हर प्रतिमान अब बदल गया है। घर कहने से जो चित्र पहले मन में उभर आता था आज वह चित्र कहीं गायब हो गया है। उन्हीं भावनाओं के आधार पर आज के घरों को झाँकने से अफसोस की अनुभूति होती है। जब व्यक्ति सबके प्रति अपने दायित्व बोध को सचेत करेगा तब अनैतिकताओं का अंत हो जाएगा।

समकालीन संदर्भ में लोग भावुकता से नहीं बल्कि व्यावहारिकता से अनुशासित है। ज़िंदगी जैसी उन्हें मिली है वैसी की तैसी लोग उसे जी लेते हैं। कोई शिकायत नहीं, किसी से कोई प्रतिबद्धता नहीं, प्यार या वफादारी नहीं। भूत एवं भविष्य नहीं सिर्फ वर्तमान ही है सब कुछ, यह भी भूल गए कि भूत एवं भविष्य के बिना वर्तमान भी नहीं। नयी पीढ़ी में इस दायित्व हीतना का दर काफी बढ़

1. प्रभात त्रिपाठी - आवाज़ - पृ - 49

चुका है। रघुवीर सहायजी ने इस सच्चाई को 'नई पीढ़ी' नामक कविता मे यों अभिव्यक्त किया है -

"वह सोच में पड़ा बैठा रह जाता है
दोनों मे एक भी तत्काल कुछ नहीं माँगता
न तो वफादारी का वायदा, न बड़ी नौकरी समाज से
वे एक क्षण के आवेग में सिमट रहते हैं
यह नई पीढी है
भावुकता से परे व्यावहारिकता से अनुशासित
इस नई पीढ़ी को ऐसे ही स्वाधीन छोड दें।"[1]

इक्कीसवीं सदी में जीनेवाले व्यक्ति की इस दायित्व हीनता ने सभी मानवीय संबंधों एवं सामाजिक सरोंकारों को तहस-नहस कर दिया है। जीवन के हर एक क्षेत्र में इसका नतीजा हम देख सकते हैं। बदल रही सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्थाएँ सब कुछ इसके लिए ज़िम्मेदार है। इसका विस्तृत अध्ययन आगे के अध्यायों में किया जाएगा।

2.2.1.4 प्यार

मानवीय संवेदनाओं में प्रतिबद्धता की भावना कम हो जाने का परिणाम आज कल हम सब कहीं देख सकते हैं। प्यार की भावना का गुम हो जाना इसका भयानक नतीजा है। आजकल प्यार तो कहीं भी दिखाई नहीं दे रहा है। प्यार ही मनुष्य को मनुष्य का स्वरूप प्रदान करता है। विश्वमानवीय कल्याण केलिए मूल्यों के बचाव केलिए व्यक्ति में प्यार का होना बहुत ही अनिवार्य है। लेकिन

1. रघुवीर सहाय - एक समय था - पृ. सं - 100

वर्तमान समय में चाहे जो भी संबंध को ले सब कहीं प्यार का बदलता स्वरूप हम देख सकते है। प्यार के नाम पर धोखा देना किसी का शोषण करना आदि सब मानव जीवन में सहज बन चुका है। प्यार के सारे प्रतिमान मनुष्य जीवन से निकल चुके हैं। इसका परिणाम आज के चर और अचर सब भुगत रहा है। सामाजिक जीवन में फैल रही सारी अनौतिकताओं का मूल कारण मनुष्य जीवन में हुए प्यार की कमी है। प्यार की मौजूदगी ने मनुष्य को एक दूसरे के संग एवं सहयोग केलिए मज़बूर किया है। संकुचित स्वार्थ के घेरे से मनुष्य की मुक्ति कामना साकार करने केलिए, मानवीयता की पुनः स्थापना केलिए समकालीन कविता प्यार की चेतना को जागृत करना चाहती है। कवि कुँवर नारायणजी ने अपनी कविता 'इतना कुछ था दुनिया में' में इसकी अभिव्यक्ति प्रस्तुत पंक्तियों के ज़रिए की है -

"इतना कुछ था दुनिया में
लड़ने झगड़ने को
मारने मरने को
पर ऐसा मन मिला
कि ज़रा - से प्यार में डूब रहा
और जीवन बीतता रहा।"[1]

कवि यहाँ मनुष्य के अंदर उन संवेदनाओं को बरकरार रखना चाहता है जिससे मनुष्य मनुष्य कहने योग्य बन जाता है। यहाँ कवि श्रेष्ठ जीवन की परिक्लपना को साकार करने की कोशिश करते हैं।

हम जिस जमाने का भागीदार है वहाँ सबसे ज्यादा उपेक्षा प्यार करनेवालों का ही हो रही है। प्यार भी एक ऐसा माध्यम बन चुका है जिसके

1. कुँवर नारायण - हाशिए का गवाह - पृ - 71

द्वारा लोग अपने स्वार्थ साध रहे हैं। इसपर कवयित्री अनामिकाजी अपनी 'विस्मृति' नामक कविता में कह उठती है -

"जो प्यार करते हैं
माफ कर देने को
बैठे रहते हैं वे तैयार
पर उनसे कोई माफी नहीं माँगता।
न हवा जो उनके खिलाफ बहती है
न धूप - जो उन्हें झुलसाती है
न पानी-जो उन्हें चाबुक मारता है बिना बात,
न आग - जो उन्हें दिखाती हूँ आँख।
और जो प्यार नहीं करते?
धूप उनसे कर लेती है पर्दा।
उनके दरबार में
दम साध लेती है हवा।
पानी का गला सूख जाता है,
आग मूँह लटका लेती है
और फिर सलीब पर लटककर
करती है प्रार्थना-
क्या कर रहे हैं, नहीं जानते -
हे ईश्वर, इन्हें माफ कर देना।"[1]

कवयित्री यही कहना चाह रही है कि इस संसार में अब प्यार करने वालों केलिए जगह बचा ही नहीं है। सबसे ज्यादा धोखा उन लोगों के साथ होता है जो सच्चे दिल से दूसरों को अपनाते हैं। सभी मानवीय संबंधों में प्यार का यह

1. अनामिका - अनुष्टुप - पृ. 91

बदलता स्वरूप हम देख सकते हैं। दोस्ती, पति-पत्नी, प्रेम संबध, माँ- बाप और बच्चों का संबंध, आदि सब कहीं मुखौटे पहने धोखेबाज़ लोगों का राज चल रहा है। आजकल पति-पत्नी के बीच मेलमिलाप नहीं। बच्चों को दुलारने केलिए माँ - बाप के पास समय नहीं। दोस्तों के साथ बैठने केलिए लोगों को छुटकारा नहीं, ऐसे में प्यार की कोई गुंजाइश भी नहीं। प्यार की अनुपस्थिति में मानवीय संबंधों में आये बदलाव को देखने परखने की कोशिश आगे हो जाएगा यहाँ इतना मात्र कहना उचित है कि प्यार की संवेदना अब मानव जीवन में मात्र काल्पनिक बन चुकी है।

2.2.1.5 भरोसा

मानवीयता के बचाव केलिए एवं संबंधों की चाहे वह वैयक्तिक हो या सामाजिक उसे बरकरार रखने केलिए व्यक्तियों के बीच भरोसे की अनिवार्यता है। भरोसा नैतिकता पर आधारित है। भरोसे की भावना तभी जागृत हो सकती है जब व्यक्ति का व्यवहार नेक होता है। समकालीन कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से यह स्थापित किया है कि आजकल कोई भी भरोसे के हकदार नहीं। लोगों के हर एक व्यवहार पल-पल में भरोसे को तोडनेवाले हैं। न ही परिवार में कोई किसी पर विश्वास रखता है और न ही सामाजिक संस्थाओं में। सबसे ज़्यादा जिस किसी इनसान को नेकी समझते हैं वही ज़्यादत्तर छल, कपट, एवं भ्रष्ट निकलता है। आज की सबसे बडी त्रासदी है कि कोई भी कहीं भी हमारे विश्वास का फायदा उठा सकते हैं। जाने अनजाने लोग साजिश में फँस जाते हैं इसपर राजेश जोशीजी ने 'चाकू का आत्मकथन' में लिखा है -

"यह सब कुछ तुम्हारे विवेक पर निर्भर है

किस तरह करना चाहते हो तुम मेरा इस्तेमाल
बिना विवेक के तुम भी हो
मेरी ही तरह एक हथियार
अपने फायदे केलिए जिसको कर सकता है
कोई भी इस्तेमाल।" [1]

आज का मानव एकदम अराचक एवं अमानवीय संस्कृति में जीनेवाले हैं। इसलिए किसी पर भी भरोसा रखना खुद की ज़िंदगी को जोखिम में डालने से कम नहीं है।

आज हम एक ऐसी संस्कृति के अनुयायी है जिसका मूँह छल, कपट एवं स्वार्थ से एकदम गिरा हुआ है। ऐसी परिस्थिति में कवयित्री अनामिकाजी 'भरोसा' नामक कविता में भरोसे की अहसास को बहुत ही संवेदना भरी दृष्टि से आंकती है। वह कहती है -

"देखा न" - खुद को ही मैंने समझाया,
"होता है, पर इतना दुर्लभ नहीं होता
आदमी का आदमी पर भरोसा!
लेकिन विचित्र बात यह है कि
अक्सर वह होता है वहाँ
जहाँ हमें होती नहीं बिलकुल
उसकी उम्मीद।"[2]

यही आज की सच्चाई है। भरोसे की उम्मीद अक्सर हम अपनों से रखते

---

1. राजेश जोशी - नेपथ्य में हँसी - पृ. 67
2. अनामिका - खुरदुरी हथेलियाँ - पृ. 141

हैं लेकिन जो अपनों से नहीं मिलता वह कहीं दूसरों से मिल जाता है। आज दोस्ती पर रिश्तेदारों पर भरोसा तो नहीं कर सकता लेकिन ज़िंदगी में कहीं हम ऐसे लोगों से भी मिल जाते हैं जिनकी बौद्धिक क्षमता तो खास नहीं होता लेकिन वह आचरण की सभ्यता को माननेवाले होते हैं। सुशिक्षित समाज भी इस त्रासदी से गुज़र रहे हैं कि स्वंय के मक़सद केलिए भागते रहते हैं, बाकी सब उनके लिए बेमतलब बन गए हैं।

वर्तमान समय में मनुष्यता का मतलब ही बदल गया है। आजकल के मनुष्य पशुओं से भी नीचे गिरे हुए हैं। मनुष्यता को बचाने केलिए जिन संवेदानाओं की ज़रूरत है वे सभी संवेदनाओं का प्रतिमान अब बदल चुका है। इसपर अनिता वर्माजी कहती हैं -

"एक आदर्श केलिए जीना
सबसे बुरी बात होगी
वह बदल चुका होगा समय के साथ
प्रेम जीवन को बचायेगा या नष्ट करेगा
मनुष्यता के अर्थ से भी कैसे बचेगा मनुष्य
महानताएँ भी अंततः बढायेंगी क्षुद्रताओं को।" [1]

आज की स्थिति कुछ ऐसी बन चुकी है कि अब सभी संवेदनाओं का अर्थ बदल चुका है। कोई भी तत्त्व अब मनुष्य को बचाने के लिए उपयोगी नहीं रहा है। आदर्शें से लोगों का विश्वास उड़ गया है। क्योंकि अब आदर्शें का भी बुरा प्रभाव मानव जीवन पर पड़ने लगा है। आजकल लोग आदर्शों से भी ऐसे आशय निकाल रहे हैं कि उससे अपनी गलतियों को सही स्थापित करने का बहाना मिल जाए। प्रेम

1. अनिता वर्मा - एक जन्म में सब - पृ -31

की भावना पर विश्वास नहीं रख सकता क्योंकि प्रेम जीवन को बचाने के बजाय उसे नष्ट करने में लगे हुए हैं। आज मनुष्यता एवं महानता सुनने से क्षुद्रताओं की ही अहसास हो रही है।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो रही है कि सभी मानवीय संवेदनाएँ जो मनुष्य को पशु से ऊपर उठाने केलिए विकसित हुई है उनसे ही आज के मनुष्य उस पशु तुल्य व्यवहार की ओर लैट रहे हैं। उसको ये तक मालुम नहीं कि अपनी संवेदनाएँ दूसरों पर या फिर समाज पर क्या प्रभाव डाल रही हैं। सभी संवेदनाएँ अब गलत दिशा में चल रही हैं। इसपर 'हेमंत कुकरेती' ने अपनी कविता "ठीक जगह पर" में यों लिखा है -

"हम जहाँ हैं
हमें बराबर बचाये रखने हैं
अपना प्यार
और गुस्सा
बचाने जितना ही ज़रूरी है
कि हम सीख लें
किसकी कहाँ पर है ठीक जगह।" [1]

यह भी एक मूल्यच्युति हो गयी है कि व्यक्ति अपनी संवेदनाओं का इस्तेमाल कैसे किया जा रहा है। गुस्सा, प्यार जैसी भावनाओं पर भी कोई भरोसा नहीं किया जा सकता, क्योंकि आजकल लोग इसका प्रयोग कहाँ किसलिए कर रहे हैं उन्हें इसका सही अंदाज़ा भी नहीं हैं। मानवीय संवेदनाओं में आये इन परिवर्तनों ने उनके द्वारा बनाये गये सभी संबंधों को भी मूल्यच्युति के कगार पर खडा कर दिया है। समकालीन कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से इस तथ्य को सबके

1. हेमंत कुकरेती - चलने से पहले - पृ -105

सामने लाने की सफल कोशिश की है। बदलते मानवीय संवेदनाओं के ज़रिए मानवीय संबंधों में उपस्थित हुई समस्याओं पर नज़र डालने की ज़रूरत हैं -

2.2.2 मानवीय संबंध

मनुष्य इस संसार में जन्म लेकर अपने आपको अकेला महसूस करता है। धीरे - धीरे वह अपनी प्रकृति, परिस्थिति, माँ, बाप दूसरे सगे संबंधियों को पहचान लेता है और उनके साथ अपना संबंध स्थापित करता है। आहिस्ता वह भेदाभेद की भावना से परिचित हो जाता है। इस प्रकार वह संसार के जैविक और अजैविक जीवों से नाता जोडता है। कभी प्यार के ज़रिए कभी - कभी विराग से। कुछ संबंधों से दुख की प्राप्ति होती है, कुछ में से सुख। हर संबंध इसप्रकार एक बंधन बन जाता है। आदान-प्रदान की व्यवस्था भी स्थापित हो जाती है। जब इस व्यवस्था में असंतुलन की स्थिति मौजूद होती है तब सारे के सारे संबंध तनावपूर्ण बन जाता है। तब पुराना संबंध टूट जाता है और नए संबंध जुड़ जाते है। मनुष्य का जीवन चक्र संबंधों की इस उछल-कूद में संपूर्ण बनता है।

मानवीय संबंधों की सबसे बडी खासियत यही है कि वह मनुष्य को अन्य प्राणियों से जोड़ देता है। परिणाम स्वरूप मनुष्य के अंदर जो संकुचित स्वार्थ भावनाएँ होती हैं उन सबका सकारात्मक परिवर्तन हो जाता है। इसके लिए प्यार, दया, अहिंसा, सहानुभूति, सच्चाई आदि मानवीय संवेदनाओं की (जिससे व्यक्ति अपने जीवन को नैतिक बनाता है) ज़रूरत है। आज के परिवेश में व्यक्ति में इन सभी संवेदनाएँ मौजूद हैं लेकिन व्यक्ति जानबूझकर इसका गलत फायदा उठा रहा है। इसका दुष्परिणाम आज के घर-परिवार में, दोस्ती में, प्रेम संबंधों में हम देख सकते हैं। यहाँ वैयक्तिक जीवन के संदर्भ में इन तीनों संबंधों में आये

परिवर्तनों को आँकने की कोशिश की गई है। मानवीय संबंधों में आये परिवर्तनों केलिए बहुत सारे कारण उपस्थित है। इसमें से एक ठोस कारण एक दूसरे पर रखे हुए विश्वास की कमी है। विश्वासाघात से भरे हुए दुनिया में अधिकांश लोग संबंध हीनता को ही चुन लेते हैं। हर संबंधों को बेड़ी मानते हैं। इसपर सुनीता जैनजी ने अपनी कविता 'बेड़ी' में यह प्रस्ताव रखा है -

"यह अकेलापन मुझे
झूठे दिलासों से अधिक
प्यारा बहुत है।" [1]

औद्योगिक सभ्यता में जीनेवाले लोग अब अपनी संवेदनाओं के साथ बेईमानी करने लगे हैं। परिणाम स्वरूप सभी मानवीय संबंध अब झूठ एवं छल पर निर्भर है। सब कहीं दिखावे की संस्कृति फैल गई है। अब लोगों ने एक दूसरे पर विश्वास रखना भी छोड दिया।

मानवीय संबंधों का टूटना आजकल के जमाने में एक सहज बात बन चुकी है। वह संबंध चाहे किसी के बीच का हो पारिवारिक हो या फिर सामाजिक, सब कहीं संबंधों को बनाये रखने केलिए मध्यस्थों की ज़रूरत पड़ रही है। इसपर रघुवीर सहायजी 'आत्महत्या के विरुद्ध' नामक कविता में कहते हैं -

"मनहूस शून्य के अथाह में पाँव नहीं टिकते हैं
हम डूबते नहीं उतराते रहते हैं
बार - बार यह कोशिश है कि हर एक संवाद
अर्थहीन हो जाए
लोगों के संबंध मध्यस्थों द्वारा बना करें।
आज इन टूटते रिश्तों को सार्वजनिक मान्यता देते हैं अध्येता।" [2]

---

1. सुनीता जैन - कहाँ मिलेगी कविता - पृ. 64
2. रघुवीर सहाय - एक समय था - पृ - 16

कवि ने यहाँ मानवीय संबंधों के बदलते चेहरे को दिखाया है। संबंध चाहे वह पति-पत्नी के बीच का हो, भाईयों के बीच का हो, दोस्तों के बीच का हो या फिर प्रेमियों के बीच का हो। उसका निर्वाह करने केलिए मध्यस्तों की ज़रूरत पड़ रही है।

मानवीय संबंधों को बनाये रखने केलिए प्यार की उपस्थिति सबसे ज़रूरी है जिसने आजकल अपना स्वरूप दुश्मनि में बदल डाला है। अब प्यार से भी ज़्यादा लोगों के बीच दुश्मनि ही नज़र आती है। आज के संदर्भ में दुश्मनियों को भूल जाना भी लोग गलती समझने लगे हैं। इसपर कवयित्रि कात्यायनीजी लिखती हैं -

"हैरान हैं कि
लोगों ने दुश्मनियाँ भूला दीं।
देखना होगा
हमीं से कहीं कोई
गलती हुई होगी।" [1]

अब दुश्मनियाँ मिट जाना लोगों केलिए अचरज की बात बन चुकी है। वर्तमान समय के लोगों में से ऐसे सकारात्मक कर्म बहुत विरले ही हो रहा है।

आगे मानवीय संबंधों के बदलते स्वरूप पर विस्तृत अध्ययन उपस्थित है।

2.2.2.1 पारिवारिक संबंध

परिवार वह संस्था है जिसके ज़रिए व्यक्ति और समाज के बीच संबंध स्थापित हो जाता है। विभिन्न समाजों में औद्योगिक क्रांति के पश्चात बढते हुए

1. कात्यायनी - जादू नहीं कविता - पृ.- 45

श्रम विभाजन, परिवार कार्यों में अत्यधिक विभेदीकरण, नगरीकरण, व्यावसायिक संरचना में परिवर्तन, जनसंख्या वृद्धि, सामाजिक- आर्थिक असमानताओं ने परिवार में बिखराव उत्पन्न किया है। सहयोगी संबंध परिवार के अस्तित्व का प्रमुख नियामक है। प्रभुत्व, अधीनता, प्रतिस्पर्धा, अनुकूलन, सहयोग, संघर्ष आदि सब पारिवारिक संबंधों के स्वरूप को बनाता मिटाता है। पारिवारिक संबंधों को अटूट बनाने वाली भावनाएँ हैं प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, समर्पण आदि। लेकिन आज के उत्तराधुनिक समाज में जीनेवाले लोगों ने अपने जीवन को इन भावनाओं से दूर कर दिया। परिणामतः अब परिवार में घुटन, तनाव एवं संत्रास की स्थिति मौजूद हुई है। अब घर घर नहीं बल्कि मकान में तब्दील हो गया। वहाँ प्यार से भी ज़्यादा वर्जनाएँ ही मौजूद है। अब एक ही घर में लोग अजनबियों की तरह रह रहे हैं। इस पर अफसोस प्रकट करते है कवि कूँवर नारायण अपनी कविता 'प्यार की भाषाएँ' में -

"एक से घरों रहते हैं
तरह-तरह के लोग
जिनसे बनते हैं
दूरियों का भूगोल।" [1]

कहते हैं कि लोग सबसे ज्यादा प्यार एवं लगाव के साथ रहने वाली एक ही जगह अपना घर है। लेकिन आज के घरों को देखकर ऐसा प्रतीत होना असंभव है। अब सबसे ज्यादा असहयोग घरों में ही हो रहा है।

परिवारिक संबंधों में घर की भूमिका महनीय माना जाता है। संस्कृति को

1. कुँवर नारायण - हाशिए का गवाह - पृ -12

बनाये रखने में, जीवन मूल्यों की व्यवस्थापन में भी परिवारिक संबंध खास कर घर नामक संस्था ने विशेष भूमिका अदा की है। घर एक ऐसी जीवन व्यवस्था है जिसमें व्यक्तिगत स्वार्थ को छोडकर मनुष्य आपस में जुडे रहते हैं। प्यार करते हैं, हर उलझन को साथ मिलकर सुलझाते हैं। लेन देन एवं सहभागिता की भावना से बने माहौल में खुश रहते हैं। आज ये सारी भावनाएँ मानव जीवन से दूर हो गयीं। अब घर एक मकान है जहाँ प्यार नहीं बल्कि दूरियाँ बहुत होती हैं जहाँ मनुष्य के बीच दीवारें ही ज्यादा दिखती हैं, वहाँ कोई चेतना नहीं। कवि कूँवर नारायणजी ने अपनी 'कोने' नामक कविता में इसपर यों लिखा है -

"दिशाएँ कोने नहीं बनातीं
हर तरफ दिशाओं का खुला आकाश होता है।
घरों में होते हैं कोने ही कोने
कोने - कोने में बसा जीवन
.....
हर एक के कोने से दिखाई देती
अगल-बगल ऊपर नीचे
दीवारें ही दीवारें
घर को घेर लेते
दीवारें और कोने
खो जाता नैसर्गिक दिशा - बोध।" [1]

घर की नैसर्गिकता अब मिट चुकी है। अब घर में भी सब केलिए अलग - अलग कोने मौजूद है। घर अपरिचित व्यक्तियों से भरा पड़ा है। वहाँ कोई

1. कुँवर नारायण -हाशिए का गवाह - पृ - 88

किसी को चाहता नहीं घर के सभी सदस्य संकुचित स्वार्थ के घेरे में फँसे हुए हैं।

व्यक्ति व्यक्तियों के बीच बनी तनाव का प्रभाव अब सभी परिवारों में भी घुटन की स्थिति पैदा कर रहा है। अब सारे के सारे लोग कामकाजी जीवन जीनेवाले हैं। सुबह झटपटाकर निकलते हैं घर से। सभी कामों को अधूरा छोडकर, शाम होते ही थककर मायूसी के साथ लौट आता है। परिवार या घर अब मकान में तब्दील हो गया है। वह चेतना हीन हो चुका है। 'उजाले में घर' नामक कविता में वीराजी कहती हैं-

"जब भी हम
लौटते हैं घर
देर रात में
शाम तक काम करके
थक के
उदास रूठे बच्चे की
तरह
शिकायत करता हुआ घर
डूबा हुआ अँधेरे में
खड़ा हुआ है
गुमसुम
ना उम्मीदी सी।" [1]

घर को घर का दर्जा तब प्राप्त होता है जब वहाँ प्यार एवं खुशी झलके। हर सदस्य एक दूसरे के साथ दे। लेकिन आज का घर सूना - सूना दिखता है।

---

1. वीरा-उतना ही हरा भरा- पृ. 85 - 86

अणुपरिवारों में बदलने के पश्चात् यह स्थिति काफी खतरनाक बन चुकी है। पहले लोग अपने काम से छुटकारा मिलते ही घर की खुशियों मे भाग लेने केलिए तरसता था अब वे काम से छुटकारा ही नहीं चाहते हैं। धन केंद्रित संस्कृति ने घर को मकान बनाने में काफी योगदान दिया है।

वर्तमान समय में घर-परिवार की व्यवस्था में काफी बदलाव आ गया है। घर की परिकल्पना सब को एक दूसरे से जोडने के उद्देश्य से बनायी गयी है। परंतू आज के लोग ज़ोडने के बदले सभी संबंधों को तोडने में लगे हुए हैं। आज का ज़माना इतना बदल चुका है कि लोगों को एक दूसरे पर संदेह के बगैर और कोई भावना ही नहीं बची है। रहते हैं वे एक ही घर में सबके साथ - साथ लेकिन किसी से भी किसी को भी प्यार नहीं, विश्वास भी नहीं। कवि ने यहाँ घर परिवार की व्यवस्था में अनेवाली अड़चनों को दिखाया है। अपनी सच नामक कविता में लीलाधर मंडलोईजी कह रहे हैं-

"रेत के सजीले घरधूले
बनाए जिन्हें हमने
बचपन में
तोडे अपनों ने
कभी सनक में
कभी अनजाने,
इस तरह जाना हमने
घरों के टूटने का सच।" [1]

घर की व्यवस्था रेत के बनाये घरधूले के समान है वह एकदम मासूम है,

1. लीलाधर मंडलोई - लिखे में दुख - पृ - 54

इसलिए एक छोटी उलझन आते ही उसका संतुलन नष्ट हो जाता है। समस्या तो यही है कि जिन लोगों पर इसको बचाने का दायित्व है वे ही उसे तोडने में लगे हुए हैं। घर को टूटने से घर वाले ही बचा सकते हैं।

पति-पत्नी संबंधः प्यार एवं सहभागिता सबको एक दूसरे से जोडते हैं। मनुष्य में इन भावनाओं को सदा प्रवहमान रखने केलिए शारीरिक एवं मानसिक संवेगों को काबू में रखने केलिए और संसार में मानव राशी को बनाये रखने केलिए स्त्री और पुरुष का संबंध अनिवार्य है। इस संबंध में भी मनुष्य का नैतिक होना परम आवश्यक रहा। क्योंकि मनुष्य ही इस संसार की एक ऐसी विशिष्ट प्राणी है जो अपने सभी कर्मों को मन और बुद्धि से संचालित करता है। समाज को व्यवस्थित रखने केलिए स्त्री-पुरुष संबंधों में भी पवित्रता की ज़रूरत है। इस उद्देश्य से पति-पत्नी संबंध की व्यवस्था शुरू हुई। कानून द्वारा यह भी तय किया गया है कि एक पुरुष एक ही स्त्री के साथ वैवाहिक संबंध जोड सकता है। एक ही समय कई स्त्रीयों से संबंध रखना कानूनी जुर्म है। पहले तो विभिन्न समुदायों, धर्मों एवं जातियों में बहुपत्नी प्रथा चलती थी, परंतू आज के संदर्भ में यह नहीं हो सकता। वर्तमान समय में इस पवित्र संबंध में बहुत सारी खोट आ गई है। अब यह संबंध प्रेम या प्यार पर अधिष्ठित नहीं। मनुष्य की बदलती नैतिकताएँ, उपयोगितावादी धन केद्रित संस्कृति, संवेदनशून्यता आदि सब का प्रभाव इसमें भी हम देख सकते हैं।

आज के संदर्भ में संबंधों का डोर बहुत जल्दी ही टूट जाता है। संबंधों को मन से ही नहीं बल्कि दिमाग से आँकने की प्रवृत्ति पति-पत्नी संबंध को भी बहुत जल्दी तलाक के कठघरे में ले जाने लगे हैं। केरल के संदर्भ में 2015 के आंकडे

के अनुसार वैवाहिक संबंध विच्छेदन केलिए उच्च न्यायालय में 19,028 मुकदमा दर्ज किया गया है। संबंधों में आ गए इस मूल्य च्युति को दर्शानेवाली कविता है 'रेखा मैत्र की रिश्तों की टूट -फूट' इसमें कवयित्री ने पति-पत्नी संबंध में आये बिखराव को दर्शाया है।

"संबंधों का स्थायित्व
कभी दूर तक जाता है
हमेशा साथ रहने का
भ्रम भी बनाता है
.....
फिर अचानक रिश्ते का
पॉव लड़खडाता है।
.....
साथी की देख - रेख
कहीं छूट गई थी।
पर, अब चेतने से
क्या बनता है?
अब तो रिश्तों को
टूटा ही चलना है।" [1]

यह तो आज की सच्चाई है आजकल प्रेम संबंध जब वैवाहिक संबंध में तब्दील हो जाता है। उसकी आयु बहुत कम हो जाती है। पति-पत्नी एक दूसरे को समझने पहचानने में पराजित होता जा रहा है।

1. रेखा मैत्र - रिश्तों की पगडंडियाँ - पृ. 20

भारतीय संस्कृति पति-पत्नी संबंध को पवित्रता की नज़रिए से आंकती है। लेकिन आज तो इसकी पवित्रता नष्ट होती जा रही है। लोगों केलिए प्यार करना उसे निभाना आदि सब बोझ बन गया है। उनका पसंद नापसंद भी पल पल बदलने लगा है। रिश्ते में जुडने के बाद भी वह किसी ओर को पसंद करने लगते हैं, और पहले के संबंध को तोडना चाहते हैं। उनके पास ज़रूरत से ज्यादा पैसा आ गया इसलिए पैसों के ज़रिए वह सबको ठीक कर देता है। अफसोस की बात यही है कि जिसके साथ वह सालों से रहा है उससे बिछुडने पर कोई दुख या व्यथा उसमें दिखाई नहीं देता है। इसपर कवि लीलीधर मंडलोईजी ने अपनी 'वजह' नामक कविता में लिखा है -

"रोने की वजह
तलाक नहीं
इसमें लग गया
इतना समय
कि शुरू न हो सका दूसरा जीवन।" [1]

वर्तमान समय का यथार्थ इन पंक्तियों में हम देख सकते हैं। लोग विकल्पों को चुनने की संस्कृति के आदी हो गए हैं। इस संस्कृति को अपने वैयक्तिक जीवन में भी लागू होने दिया है। और सारे संबंधों को तहस-नहस कर डाला, साथ ही जीवन के सभी मूल्यों को नष्ट कर दिया।

माँ - बाप और बच्चेः यह संबंध पारिवारिक जीवन का आधार है। समकालीन संदर्भ में यह भी बदल गया है। माँ-बाप से प्यार करनेवाले बच्चों के

1. लीलाधर मंडलोई - लिखे में दुख - पृ - 70

बारे में और बच्चों के हर ज़रूरत को समझकर उनसे प्यार करनेवाले माँ-बाप के बारे में आज बहुत विरले ही सुनने को मिलता है। आज की वैज्ञानिक प्रगति ने घर के अंदर भी अपनी पैनी दृष्टि जमायी है। अब माँ-बाप के प्रति बच्चे आदर को छोड कम से कम प्यार तो रखें तो बहुत अच्छा होगा। अपसंस्कृति के वर्तमान युग में जीनेवाले लोगों में संवेदना पैदा करने वाली कविता है कुँवर नारायणजी की 'माँ का कमरा' इसमें वह कह रहे हैं -

"और हाँ.....
वह कमरा
मेरी माँ की लंबी बीमारी के अंतिम दिनों का कमरा
जो तभी से बंद है
जिसमें आज भी कोई जीवित सा लगता है,
मृत्यु से कहीं बडे साहस भर जीवित।" [1]

वैसे ही माँ की ममता का अहसास दिलाने वाली कविता है उदय प्रकाशजी द्वारा लिखित 'माँ' नामक कविता इसमें कवि बता रहे हैं।

"अचरज है कि आज तक
जब भी घिरता हूँ मैं अंधेरे और अकेलेपन में अपनी जर्जरता के साथ
हर बार पता नहीं कहाँ से चला आता है वही पहला वाक्य
मेरी ओर अपने व्याकुल हाथ बढाता हुआ
वही पहला वाक्य
जिसके माध्यम में मैं इस धरती पर आया।" [2]

यहाँ कुँवर नारायणजी और उदयप्रकाशजी ने दोनों कविताओं में माँ की

1. कुँवर नारायण - हाशिए का गवाह - पृ - 103
2. उदय प्रकाश - एक भाषा हुआ करती है - पृ - 96

महनीयता को दर्शा रहे हैं। इसपर चर्चा करना आज के संदर्भ में बहुत मायने रखते हैं क्योंकि आजकल के बच्चे माँ को उपयोगिता की चीज़ मान रखे हैं। रोग-शोक से पीडित माँ - बाप को वे घर में नहीं रखना चाहेंगे उनका स्थान वृद्धावस्था में वृद्धालयों में होगा। यह सब हमारी संस्कृति में आये बदलाव का ही नतीजा है। अपने जीवन के आधी प्रतिशत माँ-बाप बच्चों के परवरिश केलिए ही बिताते हैं। दुनिया के हर माँ बाप चाहते हैं कि उनके बच्चे सही सलामत रहे, उनके हर ख्वाहिश पूरी हो जाए। माँ - बाप को सड़क पर फेंकने वाले बच्चों से कवि चन्द्रकांत देवतालेजी कहते हैं अपनी 'सपने' नामक कविता में -

"भीख माँगते हुए
और लकडी काटते हुए
और सब्जी लादते हुए
और कण्डे थापते हुए
इंजिन चलाते हुए
और कपडा बुनते हुए
एक सपना
अनकही प्रार्थनाओं में तैरता रहता है हमेशा
दुनिया के माँ - बाप की आँखों में।" [1]

पारिवारिक संबंध को निबाने केलिए सब कुछ त्यागते है माँ - बाप, वे बच्चों की हर ज़रूरत को पूरा करने में लगे रहते हैं। आज इस संबंध में दरारें पैदा हो गई है। इतना कुछ करते हुए भी आज के बच्चों की ज़िंदगी में माँ - बाप कोई खास महत्त्व के अधिकारी नहीं बन पा रहे हैं अर्थात्, आज के दौर में हमारी

1. चन्द्रकांत देवताले - उसके सपने - पृ - 116

आवश्यकताएँ बढ़ चुकी हैं। उसे पाने केलिए बच्चे चाहे कुछ भी करे माँ - बाप की आँखों में वह सब तुच्छ ही रहेगा। यह कविता मानवीय संवेदनाओं के नष्ट हो जाने का बेहत्तर उदाहरण है।

संयुक्त परिवार से अणुपरिवार में तब्दील हुए हमारे घर एवं पारिवारिक संबंध एक जिम्मेदारी बन गया है। वहाँ कोई मन से या चाहत से नहीं रह रहा हैं। पहले सोचते हैं संयुक्त परिवार में रहना बहुत ही मुश्किल है। वहाँ दूसरों केलिए अपनी खुशियों को त्यागना पड़ रहा है। वहाँ की व्यवस्थाओं में फँसना और भी कठिन एवं असहनीय है तो अणुपरिवारों की उपस्थिति हुई। वहाँ माँ बाप और बच्चे ही रह रहे हैं, वहाँ भी लोग खुश नहीं क्योंकि एक दूसरे से बातें करना तो दूर वहाँ एक दूसरे से मिलना भी विरले ही होते हैं। अब लोगों को अहसास होने लगा है कि इस अजनबीपन से तो भला है सबके साथ सबकी खुशियों एवं दुखों में भाग लेना। यहाँ कवि चन्द्रकांत देवताले परिवार से अपने माँ से दूर हुए और अपनी ज़िदगी बसाये बेटे के मूँह से यह कलवा रहे हैं 'माँ जब खाना परोसती थी' कविता में -

"वे दिन बहुत दूर हो गए हैं
जब माँ के बिना परसे
पेट भरता ही नहीं था
.....
फिर वो दिन आये
जब माँ की मौजूदगी में
कौर निगलना तक दुश्वार होने लगा था
.....

उसने कभी नहीं पूछा

कि मैं दिन भर कहाँ भटकता रहता था

और अपने पान तम्बाकू के पैसे

कहाँ से जुटाता था

.....

अपने बीवी बच्चों के साथ खाते हुए

अब खाने की वैसी राहत और बेचैनी

दोनों ही गायब हो गयी है

अब सब अपनी - अपनी जिम्मेदारी से खाते हैं

और दूसरे के खाने के बारे में एकदम निश्चिंत रहते हैं।"[1]

हम एक ऐसी संस्कृति के हिमायती है जहाँ माँ - बाप को ईश्वर का दर्जा प्राप्त है। परिवार को, अपने सगे-संबंधियों को मन से अपनाते हैं। आज इस व्यवस्था में परिवर्तन आ गया है। संस्कृति में आ गए बदलाव ने माँ - बाप और बच्चों के संबंध को भी बनावटी स्वरूप प्रदान किया है। अब अपने ही घरों में माँ-बाप बच्चों के पसंद और नापसंद नहीं जानते। बच्चे भी माँ - बाप के पसंद और नापसंद के बारे में अनजान है।

वर्तमान समाज में माँ की ममता को तिरस्कार ही मिल रहा है। माँ परिवार के सभी सदस्यों को एक डोर में बाँधनेवाली संयोजिका है। कठिन समय में भी वह अपनी इस भूमिका को बखूबी निभाती है। 'माँ' की अहमियत जानते हैं देवताले जी और अपनी कविता के माध्यम से उसके महत्त्व को हमारे सामने रखने की कोशिश भी उन्होंने किया है-

---

1. चन्द्रकांत देवताले - उसके सपने - पृ - 57-58

"माँ ने हर चीज़ के छिलके उतारे मेरे लिए
देह, आत्मा, आग और पानी तक के छिलके उतारे
और मुझे कभी भूखा नहीं सोने दिया
मैंने धरती पर कविता लिखी है
चन्द्रमा को गिटार में बदला है
समुद्र को शेर की तरह आकाश के पिंजरे में खड़ा कर दिया
सूरज पर कभी भी कविता लिख दूँगा
माँ पर नहीं लिख सकता कविता।"[1]

माँ की तुलना में दुनिया की सारी चीज़ें तुच्छ ही नज़र आएगी। माँ की ममता, प्यार, त्याग के सामने बाकी सबकुछ निरर्थक है। आज के जमाने इन सबको घृणास्पद दृष्टि से ही देख रहा है। उनके लिए इन सब बातों का कोई महत्त्व नहीं, नष्ट होते जीवन मूल्यों को वापिस पाने का प्रयास कविता में देख सकता है।

चन्द्रकांत देवतालेजी ने अपनी कविता में ऐसे बाप का चित्रण किया है, जो अपनी बेटियों से बेहद प्यार करते हैं। बेटियों को बोझ समझने वाले लोगों में चेतना पैदा करने केलिए उनकी कविता 'दो लड़कियों का पिता होने से' विशेष उल्लेखनीय है।

"एक सुबह
पहाड़ सी दिखती हैं बेटियाँ
कलेजा कवि का चट्टान सा हो कर भी
थर्राता है पत्तियों की तरह

1. चन्द्रकांत देवताले - उसके सपने - पृ - 135

और अचानक
डर जाता है कवि
चिडियाओं से
चाहते हुए उन्हें इतना
करते हुए बेहद प्यार।" [1]

बेटियों पर अत्याचार होना आजकल सहज साधारण बात हो गयी है। सभी घरवाले अपने घर में बेटा पैदा होना चाहते हैं। बेटियों को जन्म लेने नहीं देता। ऐसी दुनिया में कवि ने एक ऐसे पिता का चित्रण किया है जो बेटी से बिछुडना ही नहीं चाहते हैं। बडी होने पर उसकी शादी ब्याह एवं विदाई होगी इस बात को लेकर चिंतित पिता का चित्रण यहाँ कवि ने किया है। ऐसे पिता आज के जमाने में मिलना बहुत ही मुश्किल है। देवतालेजी की कविता है 'बेटी के घर ये लौटना' उसमें कवि ने अपनी बेटी के ससुराल से विदा लेते हुए बिलखते पिता का चित्रण किया है। प्यार देकर नहीं बल्कि आज कल लोग एक ज़िम्मेदारी निभाने के समान बेटियों को पाल रहे हैं। कवि कहते हैं-

"वापस लौटते में
बादल बेटी के कहे के घुमडते
होती बारिश आँखों से टकराती नमी
भीतर कण्ठ रूँध जाता थके कबूतर - सा
सोचता पिता सर्दी और नम हवा से बचते
दुनिया में सबसे कठिन है शायद
बेटी के घर से लौटना।" [2]

---

1. चन्द्रकांत देवताले - उसके सपने - पृ - 60 - 61
2. चन्द्रकांत देवताले - उसके सपने - पृ - 205

आज के समाज में ऐसे पिताओं का मिलना बहुत कठिन कार्य है। यहाँ कवि हममें मानवीय भावनाओं के संचालन करना चाह रहे हैं। जीवन मूल्यों की पहचान कराना चाह रहे हैं।

भ्रातृत्व : सभी जानते हैं कि हम जिस जीवन के हकदार है उसकी धुरी परिवारवालों तथा मित्रों का घनिष्ठ संबंध है। लेकिन आजकल की फुर्तीली तथा पैरों पर चक्र बाँधकर दौडनेवाली दुनिया में मनुष्य को अपने सगे संबंधियों से थोडी देर आराम से बैठकर, मन की बातों का आदान - प्रदान कर, संबंधों को दृढ बनाने की फुर्सत ही नहीं मिलता। धन केंद्रित संस्कृति ने परिवार को टुकडा-टुकडा कर दिया। मोबइल फोन की दुनिया में रहनेवाले मानव पारिवारिक संबंधों का मूल्य भूलकर अपने ही सगे भाइयों से अनैतिक करतूत करने में लगे हैं। छोटी-छोटी बातों को लेकर भाइयों के बीच झगडा सामान्य हो गया है। इसी कारण से परिवारों में बँटवारे की नौबत भी उपस्थित होती है। पारिवारिक संबंधों के टूटने की कई वजहें हैं। कहीं मनुष्य में उभर आनेवाली ग्रंथियों के कारण और कभी-कभी संपत्ति एवं मनुष्य की संकुचित मानसिकता के कारण यह स्थिति पैदा होती है। आज एक ही माँ की कोख से जन्मे भाई - भाई एक दूसरे से नज़रें चुराने लगे हैं। कवि विनोदकुमार शुक्ल ने अपनी कविता 'तथा' में कहा है-

"तथा
घर के लोगों से घर का संबंध नहीं
तथा यह सामाजिक समाज नहीं
तथा थोडी दूर पर रहने वाल मेरा भाई
कई दिनों से मिला नहीं

तथा सड़क से जाते हुए वह मुझे दिखा
उसने भी देखा
पर चला गया।"[1]

आज के समाज में मनुष्य स्वार्थी एवं कुटिल बन गया है। वह रिश्तों को नहीं मानता है। समकालीन संदर्भ के सारे मानवीय संबंध घुटन एवं तनाव से भरा पड़ा है। घर में भी लागों ने एक दूसरे से दूरियाँ बनाकर रखा है। कवि रामदरश मिश्रजी कह रहे हैं -

"आज हम एक ही मतपेटी में पडे हुए
अलग-अलग दलों के वोट हैं
व्यक्ति से मुहर बने हुए
साथ - साथ रहते हुए भी
एक दूसरे से तने हुए।"[2]

घर की स्थिति आज राजनीतिक दलों से कम नहीं। घर में भी अपने अपने पक्ष को लेकर सभी एक दूसरे से लड़ते रहते हैं। घर से ही व्यक्ति के व्यक्तित्व में नैतिकता का प्रसारण प्रारंभ होता है। घर ही अब घुटन एवं संत्रास और तनाव की स्थिति में है तो वहाँ पले बढनेवाले बच्चों से इन मूल्यों की उम्मीद कैसे रख सकते हैं।

ससुराल और बहुएँ : मानवीय संबंधों में सास और बहु की याने शादी के बाद ससुराल में लड़कियों पर होनेवाले अत्याचार में अब तक कोई परिवर्तन नहीं आया है। आज भी अखबार खोलते ही इससे जुडी बहुत सारी खबरें मिलती हैं।

---

1. विनोदकुमार शुक्ल - अतिरिक्त नहीं - पृ - 15
2. रामदरश मिश्र - बारिश में भीगते बच्चे - पृ - 82

गर्हिक उत्पीडन सहकर जीनेवाली बहुत सारी बहुएँ हमारे समाज में आज भी है। पता नहीं चलता है कि हमारे समाज में बहुएँ क्यों अग्नि में जल जाती हैं। अपने ही घर में सालों स्टोव्ह का इस्तेमाल करनेवाली लड़की जब ब्याहकर ससुराल जाती है तब अचानक अनजाने फटने लगता है स्टोव्ह। 'औरतें' नामक कविता में उदय प्रकाशजी कहते हैं -

"एक औरत के हाथ जल गये हैं तवे में
एक के ऊपर तेल गिर गया है कहाड़ी का खौलता हुआ
आस्पताल में हज़ार प्रतिशत जली हुई
औरत का कोयला दर्ज कराता है
अपना मृत्यु-पूर्व बयान कि उसे नहीं जलाया किसी ने
उसके अलावा बाकी हर कोई है निर्दोष
गलती से उसके ही हाथों फूट गयी किस्मत और
फूट गया स्टोव्ह।" [1]

सभी परिवारों में दहेज को लेकर आज भी बहुत सारी परेशनियाँ उपस्थित होती है। इससे कई लड़कियों को अपनी जान भी खोना पड़ रही है।

पारिवारिक संबंधों के संदर्भ में बच्चों एवं वृद्धों की समस्याओं पर भी विचार करने की ज़रूरत है। समाज में स्त्री, वृद्ध एवं बच्चे उपेक्षित वर्गों में शामिल हो गया है। घर होकर भी वे बेघर है। सब के साथ रहते हुए भी अनाथत्व झेल रहा है। इन तीनों की समस्याएँ आज वैयक्तिक जीवन से शुरू होकर विकराल सामाजिक समस्या बन चुकी है। सामाजिक जीवन मूल्यों के अंदर इसपर विस्तृत विशाल विश्लेषण किया जाएगा।

1. उदय प्रकाश - रात में हारमोनियम - पृ - 31-32

2.2.2.2 प्रेम संबंध

इक्कीसवीं सदी में पहूँचे भारतीय जनता अपनी संवेदनाओं एवं संबंधों के बिखराव का साक्षी बन रही है। मानवीय संबंधों में जो बदलाव आ चुका है उसमें प्रेम संबंध भी शामिल है। बाज़ारवादी समाज ने प्रेम को इस्तेमाल की चीज़ बना दी। इसलिए प्रेम संबंधों में बहुत जल्दी ही नफरत, तलाक एवं हत्या, यूज़ एण्ड थ्रो की प्रवृत्तियाँ आजकल सहज साधारण हो गयी है। प्रेम के बारे में आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदीजी ने बताया है - "प्रेम पावन करनेवाला धर्म है। वह मनुष्य को संकीर्णता, अहंभाव आदि से मुक्त करके ही चरितार्थ होता है।"[1]

आजकल प्रेम के नाम पर लोगों को धोखा देना बहुत आसान हो गया है। प्रेम का सच्चा स्वरूप कहीं खो गया है। दिन प्रति दिन अखबार में ऐसी खबरें आती रहती हैं कि प्रेम में धोखा खाकर लड़कियाँ अपना जान ले रही हैं। यह हमारी मूल्य व्यवस्था में आये नकारात्मक परिवर्तन का स्वरूप है। कवि उदयप्रकाशजी अपनी 'औरतें' नामक कविता में आज के प्रेम संबंधों की मुखौटा खोल रहा है।

" एक सीलिंग की कडी में बांध रही है अपना दुपट्टा
उसके प्रेमी ने सार्वजनिक कर दिये है उसके फोटो और पत्र ।"[2]

वर्तमान वैज्ञानिक सुविधाभोगी समाज ने लोगों को चरित्रहीन बना दिया। वे अपनी संवेदनाओं से बेईमानी करने को भी नहीं हिचकते। सच्चे प्यार के सारे प्रतिमान कहीं डूब गया अब प्रेम के नाम लेते ही छल एवं कपटता का चेहरा ही

1. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी - कुटज(भारत की ऐक्यः साधना साहित्य के क्षेत्र में) - पृ - 96
2. उदय प्रकाश - रात में हारमोनियम - पृ - 32

नज़र आता है। प्रेम को छल, हत्या, अत्याचार का समानार्थी मानना आज के संदर्भ में सही लग रहा है। कवि रवीन्द्रनाथ त्यागी ने लिखा है-

"प्रेम और हत्या का समय हो गया एकायक
इन दोनों चीज़ों में कोई फर्क कभी नहीं रहा।"[1]

भावुक हुए बिना कैसा प्रेम किया जाए यह आज के लोगों से सीखे कोई। प्रेम संबंधों में आयी भावुकता की कमी ने उस संबंध को ही अनैतिक स्थापित किया। आज तो एक दूसरे से मिले बिना एस.एम.एस के ज़रिए फेस बुक के ज़रिए भी प्रेम संबंध हो रहा है। इसमें पड़कर भावुक लोगों को भी अपनी ज़िंदगी की बरबादी देखनी पड़ रही है। इस मूल्य हीनता पर कात्यायनीजी कह रही है -

"चार वर्षों से
चाह रही हूँ
भावुक होना
कुछ देर केलिए .....
समय नहीं मिलता
पर प्रेम की एक कविता
लिखने केलिए
ज़रूरत नहीं भावुक होने की
जैसे भावुक हुए बिना
करते हैं आज प्रेम।"[2]

उत्तरौपनिवेशिक संस्कृति में जीनेवाला मनुष्य भावुकता से नहीं व्यावहारिकता

1. रवीन्द्रनाथ त्यागी - सलीब से नाव तक - पृ - 78
2. कात्यायनी - जादू नहीं कविता - पृ - 96

से अनुशासित है। आज के प्रेम संबंधों में आत्मीयता की भावना बिलकुल भी नहीं; प्यार करते हुए भी एक दूसरे को समझने में उनपर विश्वास रखने में अक्सर लोग हार जाते हैं। अब भरोसा फिक्सड डिपॉजिट के समान है। अनामिकाजी ने इसको थों अभिव्यक्ति दी हैं -

"प्रेमियों ने उसका करा रखा था
फिक्सड डिपॉजिट - सा।
सुबह - सुबह रोज फोन करते थे
एक दूसरे को
कि कैसे क्या करें, कहाँ-कहाँ कतरें ज़रूरतें
जो वह अक्षुण्ण रहे,
पर टूटना ही था उसे
सो वह टूट-
सपनों की अबरक की तरह
अचानक खच् से !
और फिर चमका
तो कई बरस बाद एक दिन
अनजान आँखों में चमका
जैसे कि घास में चमकता है कोई
अग्निगर्भ कीड़ा।"[1]

विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने प्रेम संबंधों की स्वच्छता एवं पवित्रता नष्ट कर दिया। बहुत जल्दी ही इसमें टूटन एवं बिखराव की स्थिति उत्पन्न होती है। प्रेम में सच्चाई और ईमानदारी नहीं रही है। यह भी मानना पडेगा कि जब लोग सच्चे

1. अनामिका - खुरदुरी हथेलियाँ - पृ - 141

दिल से प्यार किये तो उसपर भरोसा रखनेवाला कोई नहीं होगा। सभी मानवीय संबंधों का आधार विश्वास ही है। आज विश्वास के स्थान पर संदेह ने अपना स्थान जमाया है। 'अनाथ' नामक कविता में लीलाधर 'मंडलोई' कहते हैं -

"परवाह नहीं की
कभी ज़माने की
जब अपनों ने किया
संदेह प्रेम पर
मैं अनाथ हो गया।" [1]

यही सच है सच्चे प्यार को कोई भी नहीं अपनाता। झूठ, छल, एवं विश्वासघात की जमाने में दिल की साफगोई देना मूर्खता बन गया है। प्रेम सभी संबंधों का आधार है, मानव जीवन का मूल मंत्र है। उपयोगितावादी लाभकेंद्रित संस्कृति ने उसका सारा प्रतिमान बदल दिया।

2.2.2.3 दोस्ती

मानवीय संबंधों में आये बदलाव को दर्शाते समय दोस्ती पर भी चर्चा की ज़रूरत है। मनुष्य अपने अकेलेपन को दूर करने केलिए, घुटन एवं संत्रास से मुक्ति पाने केलिए अपने मन की बात दूसरों से कह देते हैं। इस संबंध का आधार प्यार एवं विश्वास होता है। वैज्ञानिक प्रगति के जमाने में रहने वाले लोग दूसरों पर प्यार एवं विश्वास रखने से डर रहे हैं। दोस्तों के बीच कोई आत्मीयता नहीं रहा है। दोस्ती को भी इस्तेमाल की चीज़ बना दिया है। जो अपना काम आता है जो अपने मतलब साधने केलिए कामयाब है लोग उसी से दोस्ती करना चाहता

1. लीलाधर मंडलोई - लिखे में दुख - पृ - 36

है। अब अच्चाई और बुराई तय करने का मापदण्ड भी यही उपयोगितावादी नज़रिए के अनुरूप बदल गया है। संबंधों को लोग इस्तेमाल करना चाहता है। दूसरों की संवेदनाओं का कदर उन्हें बिलकुल भी नहीं। कवि राजेन्द्रकुमार वर्माजी अपनी 'निकष' नामक कविता में इस सच्चाई को प्रकट करते हैं -

"तुम अच्छे हो
क्योंकि मेरे काम आते हो।
मैं तुमसे ज्यादा अच्छा हूँ
क्योंकि तुम्हारा हमदर्द हूँ
कामोवेश हम दोनों अच्छे हैं।"[1]

अपने स्वार्थ साधने के बाद लोगों केलिए दोस्ती भी बोझ बन जाती है। कहीं भी विश्वास एवं भरोसे का झलक नहीं दिखाई देती। दोस्ती में अब प्यार नहीं बल्कि वैयक्तिक अहंबोध ही ज़्यादत्तर नज़र आता है। दोस्ती अब प्यार से दूर होकर निर्भरता एवं पराश्रय पर अडिग रह गया। प्यार है तो भी वह एकदम संकुचित एवं स्वार्थवादी है। कभी - कभी लोगों की दोस्ती सिर्फ दिखावा महसूस होता है। कवि वेणुगोपालजी कह रहे हैं-

"तुम्हारा कहना यह है
कि दुनिया
तुम्हारी शर्तों पर ही
तुमसे मिल सकती है
तुम
यह भूल जाते हो

1. राजेन्द्र कुमार वर्मा - सर्य बनकर उगना है - पृ - 24

कि दोस्त
तुम्हारे कमरे में नहीं जनमते।
दुनिया में होते हैं
और
वहीं से
तुम्हारे करमे में आते हैं
और
वे कोई शर्त नहीं मानते
दुनिया की अपनी शर्तें होती हैं।
जिनके तरह
तुम्हारा कमरा मुमकिन होता है।
तुम
अपने कमरे में हो
फिर भी दुनिया में हो।
शर्तों के इस गणित ने
तुम्हारे होने को
तुम्हारी नज़रों में
संदिग्ध बना दिया है।" [1]

आज का ज़माना इस मोड पर चल रहा है कि वह अपने शर्तों के आधार पर जीना चाहते हैं, संबंधों को बनाना चाहता है और यह बात भूल देता है कि दुनिया की भी अपनी शर्तों होती हैं। हर कोई अपनी शर्तों को साकार होने की चाहत पर अडिंग है तो दुनिया का अस्तित्व मिट जाएगा। इसलिए दोस्ती करना है तो आपको अपनी शर्तों का समझौता करना पडेगा। वैयक्तिक ज़िद एवं हठ

1. वेणुगोपाल - चट्टानों का जल गीत - पृ - 78-79

धर्म पर अधिष्ठित होकर कोई भी संबंध आगे नहीं बढेगा। इसके लिए हमें समन्वय को अपनाना पडेगा।

जानवरों से मनुष्य का विवेचन उसमें विकसित बौद्धिक संवेदना के कारण हुआ। आजकल के लोगों में बौद्धिक एवं मानसिक संवेग गलत दिशा की ओर अग्रसर दिखाई पड़ रहा है। पहले तो लोग अपने दोस्ती को सबकुछ मान लेते थे। खुद से भी ज्यादा प्यार एवं भरोसा दोस्तों पर होता था। उस दोस्ती को निभाने केलिए कुछ भी करने को तैयार थे। अब स्थिति बदल गयी। सालों से दोस्ती निभानेवाले भी एक ही पल में सब कुछ भूल जाते हैं। आज दोस्ती के संबंध में इतनी दरारें आ गयी कि एक दूसरे से बिछुडने पर लोगों को दुख एवं अकेलापन सताता नहीं। उनके सामने और भी कई सारे विकल्प उपस्थित है। 'शीशा' नामक कविता में सुनीताजी कह रही है -

"अब कितने सहज भाव से
कह लेती हूँ, तुम नहीं रहीं
.....
गला नहीं भर्राता
आँख बिन भरी रहती है
बातों से बात बदलकर
मन सँभला - सँभला हो जाता है
मुझसे तो अच्छा
वह वतख है
.....
अपनी छवि को अपना

बिछुडा मीत समझकर
देता रहता आवाज़ें
कोई भी हम में से उसको
यदि समझा सकता
कि उसका सखा-
बतख नहीं रहा,
तो क्या जाने वह
अब तक
मर ही जाता।" [1]

लोगों का चरित्र जानवरों से भी बदतर हो गया है। जो संवेदनाएँ हम मनुष्य में नहीं देख पाते वह जानवरों में देख सकते हैं। लोग सोचते हैं कि एक दोस्त गया तो क्या उससे भी बढकर कई दोस्त मिल जाएँगो। यह भी एक समस्या बन चुकी है कि आजकल दोस्तों को आपस में बैठकर बातें करने का मौका भी नहीं मिल रहा है। दोस्ती निभाने का काम सामूह्य माध्यमों द्वारा हो रहा है। आज के छल, झूठ एवं दिखावे की संस्कृति में दोस्त एक दूसरे को पहचानने में भी भूल कर देता है। दोस्ती के नाम पर किसी की ज़िदगी एवं संवेदनाओं से खेलने की घटिया हरकत आज सामान्य हो गया है। इसपर 'दोस्त' नामक कविता में लीलाधर मंडलोईजी कहते हैं -

"नहीं नहीं
साँप के डसने से
नहीं हुई

1. सुनीता जैन - कहाँ मिलेगी कविता - पृ - 87-88

यह देह नीली

कल रात मैं अपने दोस्त के साथ था।"[1]

आज सबसे ज़हरीला साँप अपने ही होते हैं। अब साथ साथ चलकर धोखा देने में माहिर दोस्तों केलिए कोई कमी नहीं रहा है। आज के सभी मानवीय संबंध इस दुर्गति पर पहूँच चुका है।

मानवीय संबंधों में भी इतना बदलाव आ गया है कि दूसरों की मित्रता पाने केलिए लोग शत्रु के समान व्यवहार कर रहे हैं। आजकल दोस्ती भी एक नौटंगी बन गया। मन में कुछ और होता है, कहता है कुछ और, करता है और कुछ। दोस्ती को भी लोग एक दूसरे से छीनना चाहते हैं, और जो सालों की गिनती करके दोस्ती के नाम पर गर्व कर रहे हैं उनके अंदर भी नहीं बची है दोस्तों के प्रति कोई संवेदना। सबकुछ दिखावा जैसा बन गया है। दूसरों के बीच जलन पैदा करने केलिए कुछ लोग अपनी दोस्ती को बढा चढाकर दिखाना चाहता है। अब दोस्ती ने भी अपना सहज रूप खो दिया है। 'उसी एक क्षण ने' नामक कविता में कुमार अंबुज नष्ट होते वैयक्तिक जीवन मूल्यों पर अफसोस करते हुए कह रहे हैं।

"इस संसार में जो भी कहीं था
वह मित्र था या फिर शत्रु
कुछ इस तरह के शत्रु थे कि मुसीबत में आते थे काम
कुछ इस तरह मित्र थे
कि उनके रहते ज़रूरत न थी शत्रुओं की
.....

1. लीलाधर मंडलोई - लिखे में दुख - पृ - 60

जो तटस्थ दिखते थे वे अपनी तटस्थता में भी शत्रु थे या मित्र
हाँ - हाँ कहने से ही नहीं होता कोई किसी का मित्र
जैसे नहीं - नहीं करने से नहीं हो जाता कोई किसी का शत्रु
सभी लोग मित्र बनना चाहते थे इस संसार का
और यह चाहत इतनी खूँख्वार थी कि उसे पाने केलिए
वे पेश आते रहे शत्रु की तरह
.....
वह क्षण दुर्लभ था जब हम मित्र से
सचमुच मित्र की तरह पेश आए
और शत्रु से शत्रु की तरह
उसी एक क्षण ने
थोड़ा बहुत ठीक किया इस दुनिया को।"[1]

मनुष्य की आचरण हीनता ने किस प्रकार सारे मानवीय संबंधों का सत्यनाश कर दिया है, इसका उत्तर कवि की इन पंक्तियों में मौजूद है।

अतः समकालीन हिंदी कविताओं में वैयक्तिक जीवन मूल्यों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति ने किस प्रकार आधुनिक ज़माने में अपने अनैतिक करतूतों से, अधार्मिक व्यवहारों से अपने जीवन को कुत्सित बनाया है। स्नेह, दया, सहभागिता, करुणा, प्यार, आदि के स्थान पर अब छल, कपट, क्रूरता, स्वार्थता आदि उपस्थित हो गया है। व्यक्ति एकदम स्वार्थी एवं मतलबी हो गया। अपनी संवेदनाओं के साथ भी वे छल-कपट कर रहे हैं। यही नहीं व्यक्ति द्वारा बनाये गए सारे संबंध अब एकदम विकृत हो गए। घर-परिवार की व्यवस्था

1. कुमार अंबुज - अनंतिम - पृ - 15 - 16

उजड गई। तलाक की संख्या बढ़ गयी। प्रेम के नाम पर धोखा खानेवाली लड़कियों की संख्या में भी वृद्धि हुई। सासे वैयक्तिक जीवन मूल्य मानव से दूर हो गए। समकालीन कवियों ने इस यथार्थ को अपनी कविताओं में पेश किया है। हमसे दूर हो गए जीवन मूल्यों की अहमियत की अहसास कराने की कोशिश में साथ ही मानव राशी केलिए उन जीवन मूल्यों की पुनःस्थापना की आवश्यकता पर भी उन्होंने ज़ोर दिया है।

2.3 सामाजिक जीवन-मूल्य

व्यक्ति और समाज के सापेक्ष संबंध को लेकर पहले अध्याय में और दूसरे अध्याय के प्रारंभिक भाग में भी चर्चा की गई है। यहाँ वैयक्तिक जीवन मूल्यों में हुए परिवर्तन और मानवीय संबंधों के बिखराव ने किस प्रकार सामाजिक व्यवस्था पर भी अपना प्रभाव डाला है इसपर समकालीन कविताओं के माध्यम से चर्चा प्रस्तुत है।

समाज केवल मनुष्यों का समूह नहीं बल्कि व्यक्ति-व्यक्ति के संबंधों की व्यवस्था है जिससे सभी मानव जाति एक डोरी में बाँध जाती है। यह संबंध मनुष्य में सामाजिकता का गुण अंकुरित होने में सहायक होता है। मनुष्य की सामाजिकता का गुण ही उसे पशु से श्रेष्ठ सिद्ध करता है। समाज से अलग होकर एक एकाकी जीवन बिताना मनुष्य केलिए संगत नहीं क्योंकि समाज की निश्चित दायरे में रहने पर ही वह सुरक्षित एवं सुखमय जीवन बिता सकता है। समाज से तात्पर्य विभिन्न सामाजिक परिघटनाओं की उस व्यवस्था से नहीं बल्कि वह एक सुसम्बद्ध एवं सुगठित व्यवस्था है जिसका नींव परस्पर संबंध एवं सहवर्तित्व में टिका है। मानव

जीवन का विकास विभिन्न सामाजिक संबंधों की व्यवस्था के भीतर ही हुआ करता है। ये संबंध मनुष्यों के विभिन्न सामाजिक समूहों, जातियों एवं वर्गों के अंतः संबंधों, राज्यों के पारस्परिक रिश्तों एवं राज्यों तथा राष्ट्रों के आपसी हितों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। इन्हीं संबंधों के अंतर्गत व्यक्ति की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विचारधाराओं एवं मूल्यों का अध्ययन संभव होता है। जीवन-मूल्य लोकमानस की वे लहरियाँ हैं जिनसे समाज अस्तित्ववान् रहता है। मूल्य, मानव- व्यक्तित्व को या सामाजिक अंतः प्रक्रिया की व्यवस्था को संगठित रखने में सहायक होते हैं। वे कुछ सामान्य आदर्शों, लक्ष्यों या नीतियों को सामाजिक जीवन में प्रतिष्ठित कर सामाजिक संघर्ष की भावनाओं अथवा सामाजिक जीवन की अनिश्चितताओं को कम करते हैं। मूल्य, सामाजिक व्यवस्था के मुख्य उपादान है। मूल्यों का उद्‌भव, विकास एवं उसका संक्रमण समाज में ही संभव है। मूल्यों का आधार व्यक्ति मन से उद्‌भूत होकर समाज हित की ओर अग्रसर होता रहेगा। अगर मूल्य किसी एक व्यक्ति, दल या संस्था के स्वार्थ में बंधे रहेंगे तो वह रूढ बन जाएगा इससे न ही व्यक्ति का हित साधन संभव हो जाएगा न ही समाज का। यह समाज का नियम है कि वह पूर्ण रूप से एकता प्राप्त करें। परिवार, देश, राष्ट्र यह सब इसकी प्रारंभिक सीढ़ी है।

21वीं सदी के भारत ने भी अपने समाज को जातिगत, धर्मगत्, लिंगगत् एवं वर्गगत् भेदभावों के ज़रिए बाँटकर रखा है। मनुष्य की संवेदन शुन्यता की चरम परिणति उनके सामाजिक सरोकार में बखूबी उभरकर आयी है। किसी को उसकी जाति, कुलीनता, उच्च-नीचत्व के आधार पर नीचा दिखाने की घटिया हरकतें पूरे भारत समाज में आज भी हम देख सकते हैं।

अखबार खोलते ही यही सुनने को मिल रहा है कि जाति के नाम पर शैक्षिक संस्थाओं में विद्यार्थियों का अपमान हो रहा है। उत्तराधुनिक भारत भी हिंदु, मुसलमान एवं ईसाई में फर्क करने को तुले हैं। इनसान को इनसानियत के बल पर नहीं बल्कि वह किस धर्म के अनुयायी है उसी के आधार पर समाज में स्थान मिल रहा है। स्त्री- पुरुष में भेद भाव पैदा करने की रूढ़िवादी परंपरा के अनुयायी है हम भी। स्त्री होने के कारण अपने वैयक्तिक एवं सामाजिक अस्मिता को खो बैठी है आज की लड़कियाँ। यह भेदभाव बचपन से लेकर जीवन के अंत तक उसका पीछा कर रहा है। समाज स्त्री को जीवित प्राणी के रूप में नहीं बल्कि भोग की वस्तु के रूप में देख रहे हैं। सारी अमानवीयताएँ उनके साथ ही घटित होती है। समाज सभी अमानवीयताओं केलिए स्त्री को ही दोषी ठहराते है। मनुष्य की संवेदन शून्यता का परिणाम भुगत रहा है समकालीन संदर्भ के बच्चे एवं बूढे वर्ग उन्हें भी सहज जीवन जीने का अधिकार नहीं मिल रहा है। हमारे समाज में इनके साथ विस्तापित जनसमुदाय की स्थिति भी शोचनीय बन चुकी है। उन्हें समाज के सामने बाकी सबके समान स्वीकृति नहीं मिल रही है। आज के समाज की सबसे क्रूर नीति यह है कि जो उनके काम नहीं आ रहा हैं वह त्याज्य है चाहे वह निर्जीव वस्तु हो या फिर जिंदा मनुष्य। इन सभी विडंबनाओं का उल्लेख समकालीन कविता के प्रतिष्ठित कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से उभार दिया है। उनमें प्रमुख है - राजेश जोशी, हेमंत कुकरेती, वेणु गोपाल, रेखा मैत्र, सुनीता जैन, लीलाधर मंडलोई, कुमार अंबुज, विनोद कुमार शुक्ल सदृश्य कविगण। अपनी कविताओं में इन्होंने सारे सामाजिक जीवन मूल्यों की च्युति को दर्शाया है। उनका लक्ष्य रहा है कि मनुष्य को जीने की कला सिखाएँ। क्या है जीवन? और कैसा होना चाहिए जीवन? आदि चिंताओं

का सही समाधान उनके सामने रखें। उनको यह अहसास दें की उससे कुछ छूट रहा है उसे वापिस पाने की सख्त ज़रूरत है।

2.3.1 जातिभेद का विरोध

जाति व्यवस्था का कोई आधार नहीं, उसकी संरचना ऐसी हुई कि प्रारंभिक काल में लोग अपने अनुवंशिक विशेषताओं के कारण एक साथ रहने लगे और बाद में यह प्रवृत्ति और भी विकसित हुई एक से अधिक आनुवंशिक विशेषताओंवाले समूह उभरकर आये। कालांतर में इनमें जो अधिक प्रयत्नशील रहा वह श्रेष्ठता की श्रेणी में आ गए और बाकी निम्न श्रेणी में। जाति व्यवस्था का इतिहास कुछ इस प्रकार है कि प्रागैतिहासिक काल में मनुष्य आखेटक अवस्था में जीते समय अलग-अलग जुट में रहते थे और खान पान की व्यवस्था भी एकजुट होकर करते थे। जाति व्यवस्था की शुरुआत भी यहीं से माना जाता है। ये विभिन्न समूह एक ही जीवन शैली को अपनाकर जीने लगे। आगे चलकर ये नदी तटों में रहने लगे इस दौर में कृषि का आविर्भाव हुआ और लोग एकजुट होकर कृषि करते हुए अपनी आजीविका चलाने लगे। बाद में ज़मीन पर लोग कब्जा करने लगे और जिनके पास ज़मीन थी वे अपनी आवश्यकताओं से परे खाद्यपदार्थों का उत्पादन करने लगे बाकी लोग अपना श्रम देकर उनके लिए आवश्यक खाद्य पदार्थों को पाने लगे। फिर पहिए एवं सिक्कों का आविष्कार हुआ। कुटीर उद्योगों की शुरुआत हुई। एक ही धंधे में रहनेवाले लोग एक ही जाति के हो गये और उस परंपरा में जन्म लेनेवाले सभी उसी जाति के नाम पर जानने लगे उसी धंधे में मशहूर होने लगे। उनकी अलग जीवन शैलियाँ, जीवन रीति, संस्कृति की पैदाइश हुई। ज़मीन्दारी व्यवस्था ने इस व्यवस्था को

कट्टर बना दिया। स्पृश्यता अस्पृश्यता की व्यवस्था शुरु हुई। पहले जो जाति व्यवस्था में सहयोग एवं पारस्परिक लेन देन की व्यवस्था थी वह शोषक - शोषित संबंध में बदल गई। 21वी. सदी में पहूँचकर जाति की कट्टरवादी परंपरा और भी मज़बूत होने लगी। कुछ लोगों को उनकी जाति के आधार पर हीन, दलित समझने लगे। वे अपने सारे अधिकारों से वंचित रह गए। ज़मीन्दारी व्यवस्था में जाति के नाम पर शारीरिक शोषण सहने वाले लोग आगे चलकर कानून की सहायता से मुख्य धारा में प्रवेश करने लगे तो बीसवीं इक्कीसवीं सदी में पहूँचकर उन्हें जाति के नाम पर मानसिक शोषण एवं अवहेलना सहने की नौबत हुई। शैक्षणिक संस्थाओं में, कामकाजी क्षेत्र में, राजनीति के क्षेत्र में सब कहीं इस अपमान को सहकर जीने केलिए वे बाद्य बन गए। कवि जातिभेद की इस कट्टर विवेकशून्यता को सबसे बडा एवं खतरनाक सामाजिक मूल्य च्युति के रूप में मानने के पक्षधर है, क्योंकि जाति जन्म से लेकर मनुष्य के पीछे पड़ जाती है। अमुक व्यक्ति अमुक जाति की है इसका कोई सबूत अब तक नहीं विकसित हो पाया है। इस व्यवस्था के विकृत रूप ने आजकल के समाज को अराजक बनाया है। इसका प्रमाण समकालीन कविताओं में हम देख सकते हैं।

जातिभेद के आधार पर लोगों को समाज में स्थान देने की प्रक्रिया बहुत पहले से लेकर यहाँ उपस्थित है। जनता का जीवन मूल्यों के निर्धारण में भी जाति भेद का स्थान रहा है। जातियों में बाँटे गए समाज में लोग तरह - तरह के काम करते रहे और अपनी आजीविक चलाने का मार्ग ढूँढता रहा। कालांतर में इस व्यवस्था में भी ऊँचनीचत्व की भावना मौजूद हुई। इसके आधार पर एक विशाल जनसमुदाय बाकी लोगों के मेहनत पर जीने लगा और उन्हें निचले समझकर उनका शोषण भी करने लगा। समकालीन कवियों ने इस कटु यथार्थ को

समझकर उसे जनता के बीच में लाने की कोशिश की। ज़िंदगी की आधारभूत आवश्यकताओं केलिए जिन चीज़ों की ज़रूरत पड़ती है उसका निर्माण करनेवाले एक विशाल जनसमुदाय गंदी गलियों में जी रहे हैं। इनकी बनायी गयी चीज़ों से दुनिया भर के लोग अपने दैनंदिन जीवन की शुरुआत करते हैं। फिर भी दुनिया की आँखों में ये लोग घृणा का पात्र बन जाते हैं - कवि अरुण कमल ने अपनी कविता 'खुशबू रचते है हाथ' में इस यथार्थ को दर्शाने की कोशिश की है-

"यहीं इस गली में बनती हैं
मुल्क की मश्हूर अगरबत्तियाँ
इन्हीं गंदे मुहल्लों के गन्दे लोग
बनाते हैं केवडा गुलाब खस और रातरानी
अगरबत्तियाँ
दुनिया की सारी गन्दगी के बीच
दुनिया की सारी खुशबू
रचते रहते हैं हाथ।" [1]

जातिभेद की निरर्थकता को सिद्ध करने की कोशिश इन पंक्तियों में देख सकते हैं। अगर गंदी गलियों में जीनेवाले लोगों के हाथों से बनाये चीज़ों का इस्तेमाल करने में शर्मिंदगी नहीं है तो फिर इन लोगों के ऊपर घुणा भरे दृष्टिकोण कयों बनाये रखे हैं। कवि इस उजडी हीन सामाजिक जीवन व्यवस्था का पर्दाफाश चाह रहे हैं। इक्कीसवीं सदी में पहूँचे हमारे भारतीय समाज में मनुष्य आज भी जाति के नाम पर बहुत सारे उत्पीडन सह रहे हैं। संस्कृति आचरण की पवित्रता को सर्वश्रेष्ठ जीवन मूल्य के रूप में अपना रही हैं।

1. अरुण कमल - अपनी केवल धार - पृ - 80 - 81

जबकि हमारे यहाँ अच्छे एवं बुरे व्यवहार का आधार जातिगत भेदभावों के माध्यम से तय किया गया है। जीवन मूल्य हर कोई इनसान के साथ मनुष्य के सद्व्यवहार का पक्षपाती है। वह इसके खिलाफ है कि हम किसी को उसकी जाति के आधार पर उन्हें चिडाएँ या धमकाएँ, उनके जीने का अधिकार छीन लें। कवि परमानंद श्रीवास्तव जी 'मेरा बोलना' नामक कविता में जातिगत् भेदभाव की निष्ठुरता को हमारे सामने उभार रहे है-

"यहीं उन्होंने
मुझे चुप करना चाहा
कभी डरा धमकाकर
कभी पद प्रलोभन या पुरस्कार देकर
इस पर भी बस नहीं चला
तो मेरी जाति
मेरी अकुलीनता
मेरी औकात बताकर
चुप करने केलिए
इनमें कोई एक ही तरकीब काफी थी।"[1]

यह सबसे बड़ी अमानवीयता एवं मुल्यच्युति है कि मनुष्य को मनुष्य की नज़रिए से नहीं बल्कि उसकी जाति कुलीनता एवं औकात के नज़रिए से देखें। कवि ने यहाँ इन पंक्तियों के ज़रिए मानवीय संवेदनाओं में जाग्रति पैदा करने का काम किया है।

एक ही समाज में समान अधिकारों के हिस्सेदार बनकर जीनेवाले

1. परमानंद श्रीवास्तव - चौथा शब्द - पृ - 143 - 144

लोग भी जाने अनजाने सभी मानवीयता से वंचित रह गए हैं। उन्हें रोज़ी रोटी तक नहीं मिल रहा है। वह जीवित है या फिर मर चुके है इसपर कोई ध्यान नहीं देता। मरने की वजह भी गुप्त रह जाती है। हाशिये पर छोडे इन आदिवासी जनजीवन की दुरवस्था को शब्दबद्ध करते है अपनी कविता 'जगंल के उजाड़ में' में कवि विनोद कुमार शुक्ल-

"जंगल के उजाड में
कोदा खोदते - खोदते
भूख से बोहोश पडे आदिवासी केलिए
कौन डाक्टर को बुलाएगा।
उसे अस्पताल ले जाना चाहिए
या रसोईघर !!
यहाँ दूर तक कोई अस्पताल नहीं
दूर-दूर तक ऐसी झोंपडी नहीं
जहाँ रसोई पकती हो।
भूख से बेहोश पडे आदमी का
प्राथमिक उपचार क्या होगा।" [1]

कभी-कभी जाति एवं अकुलीनता ने मनुष्य से उनका जीवन भी छीन लेता है। अस्पृश्यता ने जो सामाजिक विद्रूपताएँ पैदा कर दी है उसके परिणाम स्वरूप मनुष्य को मनुष्य नहीं बल्कि जानवरों से भी बदतर जीवन प्राप्त हुआ है।

जाति के नाम पर उपस्थित विद्रूपताओं को दर्शाने में सूरजपाल चौहानजी की 'कहाँ से आएँगे चपरासी' नामक कविता उल्लेखनीय है। हमारे यहाँ जितनी

1. विनोदकुमार शुक्ल - अतिरिक्त नहीं - पृ - 113

जातियाँ उपस्थित है उन सबकी जीवन रीतियाँ, रिवाज़, आचार, रहन - सहन, विश्वास, संस्कृति सब अलग - अलग है। इतनी विविधता और कहीं हम नहीं देख पाएँगे। अफसोस की बात यह है कि ये सब विविधताएँ कुछ लोगों की भलाई एवं बाकी लोगों के शोषण का माध्यम बन रहा है। कहने का तात्पर्य है नीच जाति में पैदा होने के कारण कुछ लोगों को अपनी वैयक्तिक अस्मिता को खोना पड़ रही है। वे अपनी सारी बौद्धिक क्षमताओं को दबाकर रखने केलिए मज़बूर है-

"कितने चतुर - चालाक हैं
भारत के काले अंग्रेज़
अपने बच्चों को
अंग्रेज़ी का ज्ञान
अर्जित करने केलिए
भेज देते हैं विदेश
ये धूर्त और मक्कार
जानते हैं अच्छी तरह
यदि
देश का दलित
अंग्रेज़ी पढ़ लिख गया
तो फिर
इस महान देश में
कहाँ से आएँगे
गुलामी करने केलिए
हिंदी पढे-लिखे
चपरासी।" [1]

1. सूरजपाल चौहान - क्यों विश्वास करूँ - पृ - 31 - 32

आज की उत्तराधुनिक समाज व्यवस्था में भी जाति भेद का बुरा प्रभाव हमारे समाज को ग्रस रहा है। मुख्य धारा समाज नहीं चाहते कि देश के दीन-दलित लोग भी बौद्धिक विकास प्राप्त करे। आज भी हम अखबारों में इससे संबंधित बहुत सारी खबरें पढ़ते हैं। अपनी काबीलियत के तहद कोई शैक्षिक संस्था में दाखिला लेता है, आरक्षण के तहद उन्हें कम फीस में पढाई करने का अवसर प्राप्त होता है तो भी यहाँ की पूँजीवादी व्यवस्था उनसे यह अवसर छीन लेने की कोशिश में लगी रहती हैं। उनके लिए पूँजी ही सबसे आगे हैं। इसलिए उन्होंने किसी भी हालत में उक्त पद केलिए बिलकुल अयोग्य व्यक्ति की भर्ती करवाते हैं वह भी ऊँचे शुल्क लेकर। यह भी नहीं जाति के नाम पर छात्र-छात्राओं का अपमान हो रहा है। इसके परिणाम स्वरूप विद्यार्थियों की आत्महत्याएँ भी हो रही हैं। यह सब हमारे सामाजिक जीवन मूल्यों की सबसे बड़ी त्रासदी है। सामाजिकता तभी कायम रहेगा जब समाज में एकजुटता हो, अगर कोई किसी पर अधिकार जमाना चाहता है या फिर किसी का अधिकार छीनना चाहता है तो वह समाज उच्च सामाजिक जीवन मूल्यों को मानने वाला या मानवीयता पर आधारित नहीं हो सकता।

'उपहास' नामक कविता में कुलीनता और अकुलीनता पर आधारित भारतीय जातिव्यवस्था की अनैतिकता को सूरजपाल चौहानजी ने अनावृत किया है। जिस विश्वमानवीय संस्कृति को बनाने में समाज के निम्न वर्गों ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया है उसी संस्कृति ने उन्हें हाशिये पर छोड दिया।

" साहित्य में-
गुप्त, चतुर्वेदी व द्विवेदियों को
बडे चाव से
करते हो याद

किंतु
हीरा डोम
या
अछूतानंद का नाम लेते हुए
आती है तुम्हें लाज।" [1]

अब भी लोगों की पहचान उनके काबीलियत के आधार पर नहीं जाति एवं कुलीनता पर निर्भर है।

'बेचैनी' नामक कविता में जाति के नाम पर उपेक्षित प्रतिभाओं का चित्रण किया गया है। प्रस्तुत कविता में चौहानजी जातिभेद के आधार पर पैदा हुई सामाजिक असमानता को दर्शाते है। सामाजिक समानता के नारे उठनेवाले भारतीय समाज में दलितों एवं दमितों को आगे बढाने का मौका नहीं मिल रहा है। यह सब सांस्कृतिक अपचय का कारण बन जाता है।

अरे, वह भंगी
जो
जीवित रहा है
हमारी जूठन पर
सियाना हो गया है
और अब
दौडने भी लगा है
अपने ही पैरों पर।
रोको उसे
हरामी करने लगा है प्रयास

1. सूरजपाल चौहान - क्यों विश्वास करूँ - पृ - 33

एकलव्य की तरह
जमीं से
आसमान छूने का।
अरे - अरे
देखो-देखो !!
उसकी यह मजाल !!!
तोड रहा है
हमारे सौंदर्य - शास्त्र के किले
और प्रतीकों को
अपनी लेखनी की
पैनी नोक से।" [1]

यहाँ की रूढ़िवादी परंपरा अब भी विशालकाय वृक्ष के समान अपनी जडें फैला रही है। पहले से ही तय किया गया है कि किसको क्या करना चाहिए। कला और साहित्य, पूजा- पाठ, उच्चशिक्षा आदि हासिल करने का अधिकार उच्चजात वालों को ही है। दूसरों के मैल ढोने का काम भंगी लोगों को ही करना चाहिए। समकालीन दौर में इस व्यवस्था की जड़ें हिलने लगी है। इसका प्रभाव तत्कालीन समाज और साहित्य में स्पष्ट झलकता है।

कहते हैं संपूर्ण मानव समुदाय का जन्म एक ही ब्रह्म से हुआ है। फिर भी समाज में जाति, वर्ण पर आधारित भेदभाव अपनी ताकत और भी तेज किए हुए नज़र आ रहा है। 'जन्म और कर्म' नामक कविता में पाण्डेयजी कहते हैं

"सब के सब
ब्रह्म से निकले
मूँह से ब्राह्मण

1. सूरजपाल चौहान - क्यों विश्वास करूँ - पृ - 65

बाँहों से क्षत्रिय
वैश्य जाँघों से
पैरों से शूद्र निकले
अभेद से भेद की
शुरुआत हुई
पवित्र से छुआछूत की।"[1]

इक्कीसवीं सदी में रहनेवाले भारतीय समाज भी छुआछूत की समस्या को झेल रही है। मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखने का विवेक अब भारतीय समाज से कोसों दूर है। गोरख पाण्डेयजी द्वारा लिखित 'ज़मीन्दार सोचता है' नामक कविता में सामाजिक असमानता पर आवाज़ उठानेवाले तिलकू का चित्रण मिलता है।

"चमार कहो तो तिलमिला उठता है
पूछता है -
जब हम गेहूँ काट-दाँवकर लगते हैं
तो अछूत नहीं होते
मगर जब आप उसकी रोटी चाभते हैं
तो अछूत हो जाते हैं
यहाँ कहाँ का धरम हैं?"[2]

सदियों से नीच जातवालों को यही समस्या सताती है। हज़ारों देवताओं को पूजने वाले भारतीय जनता इस तथ्य को भूल जाते हैं कि जो हमें अन्न दे रहा है। जिसके श्रम का फल हम खा रहे हैं, थोड़ी बहुत इज्ज़त उन्हें भी देना चाहिए।

---

1. गोरख पाण्डेय - जागते रहो सोने वालो - पृ - 45
2. गोरख पाण्डेय - जागते रहो सोने वालो - पृ - 71

जातिगत भेदभावों के चक्कर में पड़कर गिड़गिडाने वाला और एक समाज है आदिवासी समाज। जिनको आज भी लोग जंगली समझ बैठा है। उनके सबकुछ छीनने के बाद उन्हें छोड दिया गया है हाशिये पर। उन्हें भी जीने का अधिकार है, पेट भर खाने का, पढाई करने का, मौज-मस्ती करने का अधिकार है। परंतू ज़िंदगी की अवश्यक शर्तों की पूर्ति में भी वे हार जाते हैं। वे समाज से इतना ही माँग रहे हैं - 'इब्बार रब्बीजी' ने 'पनासी के आदिवासियों का गीत' नामक कविता में लिखा है-

"सोमवार, मंगल और, बुध को नहीं
गुरु, शुक्र और शनि को भी खायें रोटी हम
पेट भरा हो रवि को
टूइला बजायें
बाँसुरी बजें
टमस के किनारे
तलहट्टी की चट्टान पर
झूमे हम
ढोलक ही न बजायें
फाग गायें हम
बच्चे पढ़ें शाला में
पानी पियें
लाल साहब के कुएँ पर
फोडे गुड़ की भेली
सपने में नहीं देखें रोटी हम।" [1]

1. इब्बार रब्बी - लोग भाग - पृ - 103 - 104

हमारा समाज जाति के नाम पर लोगों से पाशविकता के साथ पेश आने की व्यवस्था से मुक्त नहीं हुआ है। जिस प्रकार सभी जीवित प्राणियों को भूख, प्यास लगता है वैसे ही जाति में नीच कहलाने वाले लोगों को भी होता है। मगर वे अपने इन ज़रूरतों को पाने से भी वंचित रह गए हैं। आज भी अपनी सुविधाओं को पाने का हक उन्हें नहीं है और न ही हमारा समाज और शासन व्यवस्था उन्हें यह हक देता है।

सडकों के पार गंदी गलियों के पास बसे हुए लोग भी हमारी संस्कृति के हिस्सेदार है। वे भी भारतीय समाज में जनतंत्रात्मक शासन व्यवस्था के हकदार है। उनकी ज़िंदगी की वास्तविकता को उभारते हुए कवि ज्ञानेन्द्रपति 'एक आदिवासी गाँव से गुज़रती सड़क' नामक कविता में कहते हैं-

"गड़हे में सुअरों के साथ खेल रहे नन्हे बच्चे
कीचड़ के रंग के बने हुए
सुअरों से अभिन्न
सभ्यता के इस तरफ सुअरों के साथ खेलने के लिए छोड़ दिये गये बच्चे
जिनके तन में केवल आँखें चमकती हैं
मानव -शिशु की आँखों की तरह
अहो! कि जिनसे
मिलकर झुक जाती हैं आँखें।" [1]

यहाँ कवि ने झारखण्ड के आदिवासी गाँव में रहने वालों की दु:स्थिति का चित्रण किया है। एक ही समाज में कुछ लोग ऐसी बदकिस्मती को

1. ज्ञानेन्द्रपति -कवि ने कहा - पृ - 44

लेकर जी रहे हैं तो सामाजिक जीवन मूल्यों का संरक्षण कैसे हो पाएग।

अतः इन कविताओं के अध्ययन से हम कह सकते हैं कि मनुष्य जितने भी आधुनिक हो जाए उनके अंदर छिपे पाशविकता एवं रूढिगत आस्थाओं से वह कभी मुक्त नहीं होंगे। सामाजिक जीवन मूल्यों के संरक्षण केलिए मानव समाज में फैली जाति गत् व्यवस्थाओं के ऊपर मानवीयता की भावना को स्थापित करने की कोशिश अवश्य होनी चाहिए।

2.3.2 धर्म भेद का विरोध

धर्म वह संकल्पना है जिसके आधार पर मनुष्य श्रेष्ठ, आदर्शवादी, नैतिक जीवन जी सकता है। धर्म मनुष्य को उसका कर्म करने की प्रेरणा देता है। व्यक्ति के जीवन को सुव्यवस्था एवं सदाचार पर केंद्रित करना धर्म का परम लक्ष्य है। जीवन-मूल्यों के निर्माण में धर्म ने भी अपनी विशेष भूमिका अदा की है। भारत एक बहुधार्मिक देश है। यहाँ हिंदू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख आदि सभी धर्म के लोग रहते हैं। ये सारे धार्म मनुष्य को धर्मावलंबी होते हुए एक व्यवस्थित जीवन जीना सिखाते हैं। सभी चराचरों में समभाव की भावना ही धर्म की केंद्र बिंदु है। सभी धर्म यही सिखाते है कि हमारे भौतिक जीवन को हानि पहूँचाने वाले सभी व्यवहारों से मनुष्य को दूर रहना चाहिए। सभी धर्म अहिंसा को धार्मिक आचारों के मूल समझते हैं। मनुष्य को सारी अनैतिकताओं से दूर होने का उपदेश देता हैं। ध्यान, योग, मंत्रोच्चारण एवं प्रार्थनाओं के ज़रिए मनुष्य को पंचेन्द्रियों के वशीकरण का मार्ग दर्शाता है। आज के समय में इन्हीं धार्मिक तत्त्वों को पकड़कर लोग हिंसा, दंगा-दहाड़ फैला रहा है। मानव धर्म भूलकर अपने - अपने ईश्वर की रक्षा में लगे रहते हैं। रूढ़िग्रस्त मानसिकता में फँसकर संपूर्ण मानव

राशि को कुचल रहा है। इससे मुक्ति तभी संभव हो जाएगा जब हम धार्मिक समन्वय प्राप्त करेंगे। धार्मिक समन्वय का तात्पर्य है सभी धर्मों के बाह्य आचारों को अपनाते इसके मूल तत्त्व को स्वीकार करना, न कि सही या गलत सिद्ध करना।

सभी धर्म मनुष्य को मनुष्य के गुणों से ओतप्रोत करनेवाला है। वेद, बैबिल, हदीस आदि जो धार्मिक ग्रंथ है उनमें कहीं भी एक दूसरे से विद्वेष का पाठ नहीं है। यह मनुष्य का चाल है वह अपने ही स्वार्थ केलिए लोगों में अंध आस्थाएँ पैदा करके उन्हें एक दूसरे के विरुद्ध खडा करें वास्तव में धर्म और आस्था एक दूसरे से भिन्न है। इसपर शंभूनाथजी कहते हैं "धर्म और आस्था एक नहीं है। धर्म नदी का बहता जल है, हर क्षण बदलता साफ होता, जबकि आस्था मटमैला घाट। जो लोग किसी इकहरी कठोर और बंद आस्था को ही मानव धर्म बनाकर पेश करते हैं, वे पिछली दो सदियों की वैज्ञानिक उपलब्धियों पर ही पानी फेरना नहीं चाहते, दर्शन, काव्य और भक्ति आंदोलन द्वारा विकसित धर्म की प्राचीन परंपरा से भी आम जनता को विच्छिन्न कर देना चाहते हैं।"[1] 21वी. सदी में रहनेवाले मानव समाज भी कुछ रूढ़िगत आस्थाओं के पक्षधर हैं। इसका नतीजा लोग भुगत रहा है। समकालीन कवि बदलते धार्मिक परिवेश के जीवन मूल्यों पर पडे प्रभाव को लेकर चिंतित हैं। भारत जैसे बहुधार्मिक देश में धर्म का मतलब अंधविश्वास एवं पाखण्ड है। धर्मों की स्थापना मानव कल्याण को लक्ष्य करके की गई है। हिंदू धर्म हिंदू बनकर श्रेष्ठ जीवन जीने का उपदेश देता है। इस्लाम धर्म इस्लाम बनकर श्रेष्ठ जीवन जीने का और ईसाई धर्म ईसाई बनकर श्रेष्ठ जीवन जीने का उपदेश देता है। मनुष्य को अमानवीयता, दुख, पराश्रयत्व, दीनता,

1. शंभूनाथ - ईश्वर और धर्म निरपेक्ष संस्कृति - पृ - 15

रोग-शोक से मानसिक मुक्ति दिलाने के उपदेश सभी धर्मों का सार है। साथ ही श्रेष्ठ जीवन जीने केलिए जिन नैतिक आचरण की ज़रूरत है उस पर ज़ोर दिया गया है। यहाँ की सामाजिक व्यवस्थाएँ इतनी उजडी है कि हर एक व्यक्ति डर के साथ जी रहा है। मृत्यु उनके आसपास मंडरा रहा है, जो धर्म अहिंसा का पाठ देता है वही आजकल धार्मिक असहिष्णुता के साक्षी बन रहा है। चन्द्रकांत देवताले कहते हैं-

"माँ ने एक बार मुझसे कहा था -
दक्षिण की तरफ पैर करके मत सोना
वह मृत्यु की दिशा है
और यमराज को क्रुध्द करना
बुध्दिमानी की बात नहीं
.....
पर आज जिधर भी पैर करके सोओ
वही दक्षिण दिशा हो जाती है
सभी दिशाओं में यमराज के आलीशान महल हैं
और वे सभी में एक साथ
अपनी दहकती आँखों सहित विराजते हैं
.....
माँ अब नहीं है
और यमराज की दिशा भी वह नहीं रही
जो माँ जानती थी।"[1]

धर्म के नाम पर चल रही असहिष्णुता ने अब मानव जीवन केलिए

1. चन्द्रकांत देवताले - उसके सपने - पृ - 209

खतरे उपस्थित किए हैं। सब कहीं धर्म के नाम पर दंगा-दहाड चल रहा है। कहीं भी मनुष्य नहीं बल्कि हिंदू, मुसलमान एवं ईसाई ही दिख रहा है। यह वर्तमान समय की समस्या है। अब कोई धर्म, विश्वास या आस्था मनुष्य जीवन को बचाने केलिए नहीं काम आता है। धार्मिक पाठ यही समझाते है कि मनुष्य के कर्मों का फल उसे मिल जाता है। लेकिन आज विशाल मानव समुदाय किसके किए हुए कर्मों का फल भोग रहा है यह भी नहीं पहचान पा रहा है।

हम सब मानते हैं कि भारत एक बहुधार्मिक देश है। यह भी हम जानते हैं भारत एक धर्म निसेक्ष देश है। अगर ऐसा है तो भारत के छोटे बच्चे के मन में यह सवाल कैसे पैदा हुए कि अपने घर में काम करने केलिए आये व्यक्ति से वह यह पूछने केलिए मज़बूर हुआ कि वह हिंदू है या मुसलमान। कवि परमानंद श्रीवास्तवजी ने "बच्चे का सवालः और मैं कौन हूँ" नामक कविता में इस बात को लेकर अपना अफसोस प्रकट किया है -

"अंकल पहले यह बताइए
आप हिंदू है
या मुसलमान
.....
बच्चा वहीं खड़ा था
सहमा हुआ और डरा हुआ
और पूछ रहा था मैं कौन हूँ !
क्यों बेटे! मैंने उसका हाथ थामा
कहने केलिए कि मैं हिंदू हूँ
अब वह और सिमटा हुआ अपने में
फुसफुसाते हुए कह रहा था
लेकिन अंकल मैं तो मुसलमान

कितना अच्छा है बेटे
कितना अच्छा
कि मैं हिंदू तुम मुसलमान
दोनों एक ही! एक ही और
कितने गहरे दोस्त !
वह खुश था।" [1]

यहाँ कवि ने मानवीयता के सारे गुणों से दूर हुए संकुचित एवं स्वार्थ मानसिकता युक्त समाज का चित्रण किया है, जहाँ बच्चे भी इस तरह के सवाल उठाने को मज़बूर बन रहे हैं। बच्चों की मासूमियत पर भी धार्मिक कट्टरता की काली छाया मंडरा रही है।

समाज में धार्मिक भेद - भाव से उत्पन्न होनेवाली विसंगतियाँ बढ़ रही हैं। हिंदू अपने विश्वास को, मुसलमान अपने विश्वास को और ईसाई अपने विश्वास को बढा - चढाकर दिखाने केलिए परस्पर लड़ रहे हैं, वह भी अधार्मिक तौर - तरीकों के ज़रिए, जबकि सभी धर्म ने विश्वमानवीय एकता को अपना मूल मंत्र बना रखा है। इस तत्त्व की ओर जनता का ध्यान खींच रहे हैं कवि कूँवर नारायणजी अपनी 'ट्यूनीशिया का कुआँ' नामक कविता में -

"ट्यूनीशिया में एक कुआँ है
कहते हैं उसका पानी
धरती के अंदर ही अंदर
उस पवित्र कुएँ से जुडा हैं
जो मक्का में हैं।

1. परमानंद श्रीवास्तव - चौथा शब्द - पृ - 149 - 151

मैंने तो यह भी सुना है
कि धरती के अंदर ही अंदर
हर कुएँ का पानी
हर कुएँ से जुड़ा है।" [1]

सभी धर्म भेद से अभेद की ओर जाना सिखाता है। परंतू मनुष्य धर्म का इस्तेमाल अभेद से भेद की ओर जाने के लिए कर रहा है। आजकल धार्मिक भेद भाव के कारण जो असहिष्णुता की स्थिति मौजूद हुई है, उसमें पड़कर बहुत सारे बेकसूर लोगों को अपने जान गंवाना पड़ रहा है। इस संवेदनशुन्यता एवं विवेकहीनता को 'अपनी पत्ता-पत्ता, बूटा-बूटा' नामक कविता में अनामिकाजी ने यों चित्रित किया है -

"टीवी में देखा था उस दिन-
दंगाई पहले तो औरतों के फाडते हैं कपडे,
फिर पेट
बच्चों का सिर वे शायद
पत्थर पर यों पटककर तोड़ देते हैं
जैसे तुमने उस दिन बेल तोड़ा था
शरबत की खातिर।"[2]

सभी धर्मों ने मनुष्य को अहिंसा का मार्ग दिखाया है। परंतु मनुष्य राम एवं मुहम्मद के नाम पर हिंसा कर रहे हैं। वे मासूम बच्चों एवं औरतों तक को भी नहीं छोडते हैं। सामाजिक जीवन मूल्यों के पतन केलिए इससे बेहत्तर उदाहरण और कहीं हम नहीं देख पाएँगे।

---

1. कुँवर नारायण - हाशिए का गवाह - पृ -32
2. अनामिका - खुरदुरी हथेलियाँ - पृ - 127-128

इक्कीसवीं सदी के लोगों में भी धर्म का ज़हर तेज़ गति से चल रहा है। उनकी विवेकशून्यता कभी - कभी मानव समाज के विकास को अवरुद्ध कर देती है। जब धरती पर राम, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद नहीं थे तब भी यहाँ मानव जीवन बहुत ही संतुलन के साथ जी रहे थे, उन्हें सिर्फ और सिर्फ प्रकृति, जल, वायु आदि ही ईश्वरीय सत्ता नज़र आते थे। इस सच्चाई को दर्शाते हुए कवयित्री अनितावर्माजी 'तर्पण' नामक कविता में कहती है -

"जब नहीं थे राम बुद्ध ईसा मुहम्मद
तब भी थे धरती पर मनुष्य
जंगलों में विचरते आग पानी हवा के आगे झुकते
किसी विश्वास पर टिका ही होता था उसका जीवन
फिर आए अनुयायी
आया एक नया अधिकार युद्ध
घृणा और पाखण्ड के नए रिवाज़ आये
धरती धर्म से बोझिल थी
उसके अगंभीर भार से दबती हुई।" [1]

आज मनुष्य उस काल्पनिक अमानुषिक शक्ति के पीछे भाग रहा है जिसकी उपस्थिति या अनुपस्थिति का प्रभाव आज तक उसके जीवन पर नहीं पड़ा है। दुख की बात यह है कि उस शक्ति केलिए वे कुछ भी करने को तैयार बैठे हैं। परिणामतः संपूर्ण मानवता ने अपने जीवन के संतुलन को खो बैठा है। मनुष्य अपने विवेक का सही इस्तेमाल नहीं कर रहा है। जब भी उसके जीवन में संकट की स्थिति पैदा होती है तब मनुष्य ही मनुष्य का काम आता है।

1. अनिता वर्मा - एक जन्म में सब - पृ - 72

देवी शक्ति से मनुष्य की रक्षा की बात पर विश्वास करके खुद के जीवन को मानव समुदाय ने विनाश के कगार छूने दिया है। वास्तव में दुनिया के सभी धर्म में भी यही उपदेश छिपा रहता है। इस वास्तविकता को लेकर कवि रामदरश मिश्रजी कह रहे हैं -

"लोग एकाएक जागे तो
अपने को पानी में पाया
.....
पानी ने नहीं देखा
कौन घर हिंदू है कौन घर मुसलमान
.....
हिंदू और मुसलिम-पीड़ा
एक दूसरे में समाती रही
लोग अपने दर्द से थोडा उबरकर
दूसरे का हाथ सँभालते रहे
यह नहीं देखते रहे कि
यह हाथ हिंदू का है कि मुसलमान का
.....
सबके पेट में एक ही भूख
सनातन सत्य सी हाहाकार मचाए हुए हैं
.....
सभी सोच रहे हैं -
उन्हें बचाने न राम आए, न रहीम
न नेता आए न अभिनेता
न पंडित आए न मुल्ला,
वे अपनी असहायता में भी
एक - दूसरे का सहारा बने हुए हैं

वे जानते हैं कि
ये सभी आएँगे
लेकिन अपने-अपने समय पर।" [1]

यहाँ कवि जीवन की वास्तविकता को हमारे सामने व्यक्त कर रहे हैं। धार्मिक भेद-भाव को छोड़कर मनुष्य को मानवीयता पर ज़ोर देना चाहिए। क्योंकि मानव जीवन के अस्तित्व केलिए धर्म की नहीं बल्कि मानवीयता की ज़रूरत है।

धर्म की स्थापना मनुष्य समुदाय को नैतिकता का पाठ देने केलिए उसमें सामाजिकता के विकास केलिए किया गया था। हर धर्म मनुष्य को वैयक्तिक स्वार्थ के घेरे से मुक्ति दिलाना चाहता है। परंतू आज हमारा समाज इसी धर्म के ही नाम से व्यक्ति-व्यक्ति के बीच दरारें पैदा कर रहा है। यहाँ लोगों की पहचान आदमी होने से नहीं बल्कि हिंदू, मुस्लिम एवं ईसाइत के तहद हो रहा है। इसलिए सब कहीं हिंदू, ईसाई एवं मुसलमान ही नज़र आते है, आदमी नहीं। "यह किसका घर" नामक कविता में रामदरश मिश्रजी आदमी को ढूँढ रहे है।

""यह किसका घर है?"
"हिंदू का।"
"यह किसका घर है?"
"मुसलमान का।"
"यह किसका घर है?"
"ईसाई का।"
शाम होने को आयी
सवेरे से ही भटक रहा हूँ

1. रामदरश मिश्र - बारिश में भीगते बच्चे - पृ - 26 - 29

मकानों के इस हसीन जंगल में
कहाँ गया वह घर
जिसमें एक आदमी रहता था?
अब रात होने को है
मैं कहाँ जाऊँगा?।" [1]

घर को घर बनाने केलिए उसमें रहने वालों में आदमियत एवं इनसानियत की ज़रूरत है। यह ज़रूरी नहीं कि उसमें हिंदू, मुसलमान या ईसाई रहे। धर्म के पाखण्डों ने घर को मकान में तब्दील कर दिया। धर्म के नाम पर भेदभाव पैदा करके लोगों का शोषण करना भी ठीक नहीं है जो आजकल चल रहा है। धार्मिक होकर भी जातिगत भेदभावों की भावना से मनुष्य दूर नहीं हुआ है। सबके लिए अलग-अलग धर्म, धर्म के नाम पर पाखण्डों को बनाये रखकर लोगों का शोषण करने में भी आज तक कोई कमी नहीं हुई है। कवि सूरजपाल चौहानजी की कविता 'क्यों विश्वास करूँ' इसका सच्चा दस्तावेज है-

"तुम्हारी नैतिकता की छतरी में
छेद ही छेद हैं-
अनाचारों के
और पैनाए हुए हैं
धर्म की आड़ में
हिंसा के नाखून।
तुम्हारे
दिलों में भरी है कलुषता
और ओच्छी प्रतिद्वन्द्विता।

1. रामदरश मिश्र - बारिश में भीगते बच्चे - पृ - 38

फिर भला
कैसे विश्वास करूँ
तुम्हारी सहिष्णुता
एवं भाईचारे की भावना पर।"[1]

जो आजकल धर्मावलंबी होने का दिखावा करता है वही सबसे ज़्यादा अधर्मी निकलता है। आज के पंडे, पुरोहित ने भी धर्म के नाम पर वहम पैदा करने में कोई कसर नहीं छोडी है। कोई भी धर्म जाति, लिंग एवं वर्ग के नाम पर मनुष्य को नहीं बाँटा है। प्रस्तुत कविता में कवि ने इस सच्चाई को प्रकाश में लाने की कोशिश की है। सच तो यह है कि हमारे समाज में रहनेवाले आम जनता के बीच धार्मिक भेद-भाव पैदा करने में पंडे, पुरोहित, मुल्लाओं एवं राजनीतिज्ञों ने बखूबी कोशिश की है। आम जनता बहुत जल्दी ही इनके बहकावे में आ जाते हैं। उन्हें यही चिंता होती है कि ये जो लोग है वे पढ़े लिखे मशहूर है। ईश्वर के प्रिय है उनकी कही हुई बात सच ही होगी। वे साधारण लोगों की इस सहजता का लाभ उठाने हैं और उन्हें भटकाते रहते हैं। कवि रमणिका गुप्ताजी इस सच्चाई पर अपनी 'मज़दूरायण' नामक कविता में कहती हैं-

"राम और रहीम का फरक
खून-पसीने ने कभी नहीं किया भाई - मन
गुरू - जन
यह सब तो आप करते - कराते हैं
हमनी तो सबे साथ-साथ
प्रेम से खटत हैं

1. सूरजपाल चौहान -क्यों विश्वास करूँ - पृ - 28

एक साथ ढेरों पसीना बहावत है।"[1]

जिनके पास जीने केलिए कुछ नहीं है उनके लिए राम रहीम सब बराबर है। उन्हें राम के पसीने एवं खून से तथा रहीम के पसीने एवं खून में कोई अंतर नहीं महसूस होता है। यही जीवन का यथार्थ है।

आज की सबसे बडी विडंबना है कि 21वीं सदी में पहूँचने के बाद भी हम देश की प्रगति एवं वैज्ञानिक विकास को लेकर नहीं धर्म के नाम पर धार्मिक कट्टरता के नाम पर गौरवान्वित होने को चाह रहे हैं। कवि पवन करण ने अपनी 'हिंदू' नामक कविता में इस वास्वविकता को शब्दबद्ध किया है-

"और तो और कोई कुछ भी कहे, कहता फिरे दुनिया भर में, मुझे अपने
चिकित्सक, वैज्ञानिक, तकनीशियन, लेखक, गायक
श्रमिक, कृषक, भारतीय और मनुष्य होने पर नहीं, हिंदू होने पर
गर्व होना चाहिए और मैं हिंदू हूँ, यह बात मुझे गर्व से कहनी चाहिए।
धर्म को कर्म के रूप में मानने के बजाय।"[2]

चाहे भारतीय समाज विकास के कोई भी मंजिल हासिल करें जब तक यहाँ धार्मिक कट्टरता एवं धर्म के नाम पर भेदभाव कायम रहेगा तब तक ये सारी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ निरर्थक ही रहेगी।

मनुष्य की सबसे बडी ज़रूरत पेट भर खाने को कुछ न कुछ मिलना ही है। इससे परे होकर कोई आवश्यकता हमें नहीं है क्योंकि जीने केलिए अन्न की ज़रूरत पड़ता है। आजकल के लोगों को इससे भी ज़रूरी है अपने - अपनेईश्वर की रक्षा करना। सब कहीं ईश्वर के नाम पर बडे-बडे आलीशान महलें बना रहे हैं।

---

1. रमणिका गुप्ता - भीड़ सतर में चलने लगी है - पृ -33
2. पवन करण - अस्पताल के बाहर टेलिफोन - पृ - 95

समाज में एक विशाल जनसमुदाय भूख के कारण अपना दम तोड रहा है। इस सच्चाई को प्रस्तुत कर रहे हैं अरुण कमल अपनी कविता 'पृथ्वी किसलिए घूमती रही' में-

"कोई देवी-देव नहीं, कोई सूर्यदेव नहीं
तुम्हीं से पूरी होगी सारी इच्छाएँ
यहीं इसी धरती पर मिलते हैं
छप्पन व्यंजन
पढे-लिखे बेटे - दामाद
और सुख भरा जीवन
कभी नहीं बदली ये छोटी इच्छाएँ
हज़ारों वर्षों के बाद भी अतृप्त है इच्छाएँ
आज भी सबसे बडी इच्छा है भरपेट अन्न।" [1]

धार्मिक पाखण्डों की जडों को हिलाने का प्रयास कवि ने यहाँ किया है। आजकल मरने के बाद स्वर्ग मिलने की लालसा से बहुत सारे लोग आतंकवाद फैला रहे हैं, जबकि कवि यही समझाना चाह रहा है कि स्वर्ग और नरक दोनों यहीं पर है यह हमें तय करना चाहिए कि इसे हम स्वर्ग बनाकर रखें या फिर नरक। इसकेलिए धर्म की नहीं बल्कि इनसानियत की मानवीयता की स्थापना होनी चाहिए। मनुष्य की आधार भूत आवश्यकताओं को लेकर चिंता करनी चाहिए, न कि हिंदुत्व एवं मुसलमानियत पर सोचें। कवि एकांत श्रीवास्तव ने वहुत ही अफसोस के साथ पूछा है -

"किस कोख से जनम लूँ
कि हिंदू न मुस्लिम कहलाऊँ।"[2]

---

1. अरुण कमल - अपनी केवल धार - पृ - 32
2. एकांत श्रीवास्तव - अन्न हैं मेरे शब्द - पृ - 104

जन्म लेकर इस दुनिया में आते ही धर्म की छाया मनुष्य के ऊपर मंडराने लगेगी। अब मनुष्य मनुष्य की हैसियत से जीने केलिए तरस रहा है।

अतः कहा जा सकता है कि समकालीन कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से मनुष्य को रूढ़िवादी मानसिकता से मुक्त होकर श्रेष्ठ जीवन जीने का मार्ग दर्शाया है। यहाँ कविताओं के माध्यम से धर्म को गलत स्थापित करना कवियों का उद्धेश्य कदापि नहीं हैं। वे चाहते हैं कि मनुष्य धर्म के ज़रिए अपने कर्म की ओर प्रेरित हो जाए। वे धार्मिक उपदेश को श्रेष्ट जीवन मूल्य के रूप में अपनाकर मानवीयता पर बल दे रहे हैं। धर्म को गलत व्याख्या से मुक्ति दिलाने की कोशिश इन्होंने किया है। वे चाहते हैं कि धर्म सार्वजनिक कल्याणकारी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो जाए।

2.3.3 लिंग भेद का विरोध

हम एक ऐसी संस्कृति के अनुयायी है जहाँ स्त्रीयों को बडी इज्जत दिया जाता है। स्त्री को देवी का स्वरूप मानकर पूजती हैं। प्राचीन भारत के इतिहास पर दृष्टिपात करने से हमें ज्ञान होता है कि यहाँ नारियों को बहुत ही सम्मान एवं आदर मिलते थे। "यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमन्ते तत्र देवताः" जहाँ नारियों की पूजा होती है वहाँ देवताएँ निवास करती है। सामाजिक जीवन मूल्यों के संदर्भ में लिंग भेद के वर्गीकरण को लेकर कविताओं की जाँच परख की अनिवार्यता इसलिए मौजूद हुई कि उत्तराधुनिक समाज में जीकर भी मनुष्य लिंग भेद के आधार पर मानव जाति के एक पक्ष(स्त्री) को दबाकर रख रहा है। उनके सारे अधिकारों को उनसे छीन रहे हैं। यह प्रकृति का नियम है कि संसार में सिर्फ दो ही मनुष्य जाति है। एक पुरुष और दूसरा स्त्री। अब तीसरे लिंग को भी मान्यता प्राप्त है।

अर्थात् ट्रैन्सजेन्टर भी एक लिंग में समाहित होता जा रहा क्योंकि लिंग भेद के कारण शोषण सहनेवालों में ये भी शामिल हैं अर्थात् हाशियेकृत वर्गों में वे भी आते है। कानून के सहारे स्त्रीयों केलिए और उपेक्षितों केलिए जितने भी नियम बनाये जाए लेकिन समाज में उसे स्थान तभी हासिल होगा जब विशाल जनसमुदाय इनके साथ भी मानवीयता की भावना रखेगा। यह काम जीवन मूल्यों की पुनः स्थापना से ही संभव हो जाएगा। जीवित प्राणियों से मानवीय संवेदनाओं के साथ पेश आने केलिए चारित्रिक शुद्धता की ज़रूरत है। नैतिक आचारण की ज़रूरत है। इतिहास एवं काल इन प्रवृत्तियों के साक्षी बने कि एक समय भारतीय समाज में नारियों की पूजा होती थी। परिवारिक संपत्ति पर उनका अधिकार होता था। जब पुरुष मेधा समाज ने स्त्रीयों के खिलाफ खडे होकर अपने स्वार्थ को पाने में नाकामयाब रहा तब उन्होंने ऐसी सामाजिक व्यवस्थाएँ बनायी जिससे संपूर्ण नारी समाज के पैरों पर बेडियाँ डाल सके। उनसे सारे अधिकार छीन लिए। धन मोह के कारण ऐसी पाखण्डी आचारों को भी बनाया कि वह पति के मरने के बाद ज़िंदा नहीं रहे। विधवाओं को सती का अनुष्ठान करनी चाहिए। आधुनिक युग पुनरजागरण का युग रहा। यहाँ कानून के सहारे स्त्रीयों पर होनेवाले इन अत्याचारों पर रोक लगने लगा। वह स्वतंत्र हो गयी। वह शिक्षा हासिल करने लगी, नौकरी करने लगी। परंतू खोट यहाँ की पुरुषमेधा समाज के मन से नहीं निकल पाया। 21 वी. सदी में भी नारी को भोग्या मानने की अपसंस्कृति का शिकार है भारतीय समाज। स्त्री सिर्फ एक शरीर है जिसके ज़रिए पुरुष अपने काम तृष्णा की संपूर्ती कर सके। न कि परिवार में, काम की जगह में, ससुराल में वह खुली साँस ले पा रही है। समकालीन कविताओं में स्त्रीलिंग में पैदा होने के कारण बहुत सारे उत्पीडनों के शिकार होनेवाली नारी को लेकर भी चर्चाएँ उपस्थित हैं। जिसके ज़रिए

इन कवियों ने उजडी सामाजिक जीवन मूल्यों की पुनः स्थापना चाहा है।

बाल-विवाह, पर्दा प्रथा, विधवाओं की दीन-हीन दशा, सती प्रथा, कन्या पक्ष का नीचा समझा जाना, उच्च शिक्षा का बहिष्कार, उत्तराधिकार से वंचित होना आदि सामाजिक कुरीतियों ने स्त्री स्वातंत्र्य पर बोझ बनकर उपस्थित हुई। प्रत्यक्षतः अब समाज से इन सब का तिरोभाव तो हो गया है। लेकिन परोक्ष रूप में भारतीय जनता इसी रूढ़िवादी परंपरा को मानते हैं। आज भी हमारा समाज ऐसी स्त्रीयों को चाह रहा है जो बिलकुल पुरुष परायण हो। समानता की बातें बहुत ज़ोर से किया जा रहा है, लेकिन जब स्त्री आगे आएगी तब समाज की समानतावाली सभी चिंताओं में कट्टरवादी पुरुषमेधाशक्ति आ जाती है। इक्कीसवीं सदी के भारतीय समाज भी स्त्री को अपने सारे अधिकारों से वंचित रखना चाह रहा है। आज के उत्तराधुनिक समाज भी स्त्री को लेकर एकदम गिरी हुई सोच बरकरार रखे हैं। कवि परमानंद श्रीवास्तवजी ने अपनी कविता 'स्त्री सुबोधिनी' में कहा है -

"न निकलना घर से अकेले
न निकलना रात - बिरात
न ठहरना ठाँव कुठाँव
लौट आना
दिया बाती से पहले
बहुत पहले
चुप-चाप रहना
पति के सामने
न रूढना
न चीखना

न सजना - सँवरना
पति को छोड़
कहीं और
श्रृंगारहाट से बचना
पति के
परदेस गमन पर।" [1]

हमारा समाज एक जडित एवं जर्जरित मूल्य व्यवस्थिति में टिका है। सदाचार का मतलब किसी की संवेदनाओं के साथ खिलवाड करना नहीं। उसको अपनी इच्छानुसार एक कठपुतली बनाकर नचाना नहीं। पुरुषमेधा समाज व्यवस्था चाहती है कि स्त्री उनके ईशारे के बगैर मत हिले। उसे अपनी मन की बातें दूसरों से बताने की, पति की अनुपस्थिति में पैसों के हिसाब देखने का अधिकार नहीं, वह अपने मूँह ढँके चले, केश को छिपा रखे, देहली के आसपास भी न आये, सिर्फ अपने मरजाद और बच्चों के बारे में सोचे, परिवार के लिए खाना पकाएँ, ज़िदगी भर मार-पीट खाती रहे और रोती रहे, सदा अपनी पवित्रता को बनाये रखें, ज्यादा न बोलें, ज्यादा पढाई न करें आदि इतने सारे नियम हैं जिनके ज़रिए कई सालों से स्त्रियों को भ्रम में रखा जा रहा है। उसको आगे आने से रोक रहे है। बेटी के जनम को अपशकुन माननेवाले इस कट्टर रूढ़िवादी व्यवस्था को तोडता है अरुण कमल की 'एक नवजात बच्ची को प्यार' नामक कविता के पिता -

"जिस दादी ने जूठन खाकर ही गुज़र दी ज़िंदगी
जिस माँ ने अपने पति की मार चुपचाप सही
और जिस पिता ने देखा है तिलक दहेज का क्रूर व्यापार

1. परमानंद श्रीवास्तव - चौथा शब्द - पृ - 127

वे कैसे खुश होंगे?
लेकिन आज वही नही है दुनिया उतनी कठोर
जो कल था परसों थी
समय के प्रवाह में
तुम्हारे ही लिए घुल रही है दुनिया
जल्दी- जल्दी बढो मेरी बच्ची
जल्दी- जल्दी।" [1]

दुनिया भर के पिता अगर अपनी बेटी केलिए ऐसे सोचें तो समाज द्वारा निर्मित नारी संबंधी सभी किरात व्यवस्थाएँ मिट्टी में मिल जाएगी। स्त्री को इज्जत एवं सम्मान, संरक्षण देनेवाले सामाजिक मूल्यों पर टिके संसार की शुरुआत हो जाएगी। स्त्री की नैतिकता तय करने का अधिकार उन्हें खुद मिलनी चाहिए। दहेज एवं लैंगिकता के आधार पर होनेवाली सभी कुरीतियों का उन्मूलन भी आज सबसे ज़रूरी बन गया है। इसकी शुरुआत घर से होनी चाहिए, माँ- बाप से होनी चाहिए।

लिंग भेद ऐसी अमानवीय स्थिती पैदा कर दी है कि यहाँ बेटियाँ जन्म लेने के अधिकार से भी वंचित रह गयी हैं। बेटियाँ पैदा होने से परिवार में बोझ आ जाता है। उसकी शादी करवाने केलिए दहेज का इंतज़ाम करना पडेगा। अगर उसे किसी से प्यार हो गया तो परिवार की बेइज्जती हो जाएगी। इसलिए इन सब समस्याओं से बचने केलिए भला है कि लड़कियाँ पैदा ही न हो जाए। समाज की इस क्रूर नीति ने अब तक कई लड़कियों का जान ले लिया है। कवि उदय प्रकाश ने अपनी 'औरतें' नामक कविता में लड़कियों पर होनेवाले अत्याचार एवं अमानवीयता को दर्शाया है -

1. अरुण कमल - अपनी केवल धार - पृ - 49

"हज़ारों -लाखों छुपती हैं गर्भ के अंधेरे में
इस दुनिया में जन्म लेने से
इंकार करती हुई
वहाँ भी खोज लेती हैं उन्हें भेदिया
ध्वनि तरंगें
वहाँ भी, भ्रूण में उतरती हैं हत्यारी कटार।" [1]

हमारी संवेदनाएँ इस हद तक गिर चुकी हैं कि किसी का जान लेना भी आजकल सहज साधारण हो गया है। अफसोस की बात यह है कि बेटियों के हत्यारा स्वयं उनके बाप ही है। इस तरह की अमानवीय संस्कृति से मानवीय मूल्यों और जीवन मूल्यों की उम्मीद रखना व्यर्थ होगा ।

स्त्री जीवन हर युग में अपमान सहने के लिए विवश है । हमारा समाज स्त्री के साथ बेशरम व्यवहार रखने से नहीं हिचकता । स्त्री से आदर के साथ बर्ताव करना भी वे ज़रूरी नहीं समझते । क्योंकि अपसंस्कृति ने उसे ऐसा सीख दिया है कि स्त्री आदर एवं सम्मान के अधिकारी नहीं। उनकी पैदाइश अपमान एवं गालियाँ सुनने केलिए हुई हैं। रघुवीर सहाय 'फर्क़' नामक कविता में कहते हैं -

"अठारह बरस की लड़की से यह कहना कि तुम बेवकूफ हो
उसको रिझाना है
पर अड़तीस साल की औरत से यही कहना
उसे दुत्कारना है -
पर तुम यही करते रहे हो !
स्त्री की उम्र इस तरह

1. उदय प्रकाश - रात में हारमोनियम - पृ - 33

इज्ज़त से शुरू करके अपमान की ओर बढने को बाध्य है।"[1]

स्त्री का उम्र जितने साल की भी हो उसे बचपन से यही सुनना पड़ती हैं कि तुम बेवकूफ हो। घर में घर के बाहर भी वह यही सुनती आ रही है,और अपने जीवन की अंतिम घडी तक वह यह सुनने को बाध्य है। कवि ने यहाँ इस घिसी पिटी जीवन व्यवस्था को सामाजिक असमानता को हमारे सम्मुख रखा है। इसकी परवाह नहीं करना समाज की सबसे बड़ी विवेक हीनता है कि अपने ही समाज के अपने ही सहजीवी के साथ किस तरह का आचार व्यवहार होनी चाहिए।

लिंग भेद के कारण बहुत कुछ सहती है भारतीय नारी समाज, युगों एवं परिस्थियों के अनुसार समाज ने स्त्री केलिए बहुत सारी नियम व्यवस्थायाँ बनायी हैं, लेकिन इस पर दृष्टिपात करने से एक भी नियम ऐसा नहीं मिलेगा जिससे नारी जीवन में कोई सकारात्मक परिवर्तन उपस्थित हो जाए। परंपरा के नाम पर स्त्री पर अत्याचार करना सबसे बडी सामाजिक विद्रूपता है। सामाजिक जीवन मूल्यों के संरक्षण केलिए समाज में रहनेवाले सभी लोगों को समान अधिकार की प्राप्ति अनिवार्य है। इसके लिए सबसे पहले रूढ़ परंपराओं को तोडना चाहिए। कवि रघुवीर सहाय ने स्त्रीयों पर होनेवाले अत्याचार को दर्ज किया है अपनी 'चेहरे की सिकुडने' नामक कविता में -

"थकी हुई औरत के चेहरे की सिकुडने
किसी एक परिवार की लंबी मुश्किलों की
आड़ी सतरें हैं

1. रघुवीर सहाय - एक समय था - पृ - 111

उनकी लिखावट कुछ अलग दूसरों से है
क्योंकि परिवार के पुरखों ने अलग-अलग
भाषाएँ लिख दी हैं।"[1]

नारी को माँ, बहन, पत्नी, भाभी, बहू आदि सभी दायित्वों को पूरी करनी है, पुरखों से बनाये हुए नियमों एवं नैतिकताओं की शर्तों को मानते हुए। चाहे उसकी ज़िंदगी बरबाद हो जाए फिर भी इन सीमाओं को नहीं लाँघनी चाहिए।

वर्तमान काल एवं परिस्थिति से हम मानवीयता की उम्मीद नहीं रख सकते।

आजकल लिंग भेद के कारण होनेवाली अमानवीयताएँ अपनी सारी हदें पार कर चुकी हैं। स्त्री को इज्ज़त एवं मर्यादा देने की बात तो दूर आजकल के समाज स्त्री को मात्र मांसपिंड ही समझ लेता है। छोटी बच्चियों से लेकर 68 वर्ष की बूढी औरत को भी अपनी काम तृष्ण की समाप्ति केलिए उपयोग करते हैं। ऐसी स्थिति में लड़कियाँ कहीं भी सुरक्षित नहीं नज़र आ रही है । 'चादर' नामक कविता में अनामिकाजी कहती हैं -

"मेरी माँ
अकसर ही सोते में
मुझको उढ़ा देती है चादर!
डर लगता है उसको मेरी
बेपर्दगी से!
मुझे तो
पता भी नहीं,

1. रघुवीर सहाय - एक समय था - पृ - 152

क्या मेरी नींद
मुझे बेपर्दा करती है?
बेपर्दा करते हैं
मुझको मेरे ख्वाब?" [1]

समाज की सबसे विकृत चेहरा इन पंक्तियों में हम देख सकते हैं। लोगों को अब नैतिकता और अनैतिकता में कोई फर्क नहीं दिख रहा है। लडकियों के ऊपर पर्दा डालने से इस संस्कार हीनता का अंत कभी भी नहीं हो पाएगा। यह प्रत्येक व्यक्ति संस्कार पर निर्भर है कि उन्हें किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। लड़कियों को घर में छिपाकर रखने से मर्दों की काम तृष्ण में कोई कमी नहीं हो जाएगी। परंतू हमारा समाज यही चाहता है कि लड़कियाँ पर्दे के पीछे रहें क्योंकि उनके पर्दा हट जाने से यहाँ के मर्द लोग अनैतिक करतूतों केलिए प्रेरित हो जाता है। इस तरह की सोच रखने वाले समाज में जीवन मूल्यों की पुनः स्थापना कभी नहीं हो पाएगी।

हमारा परवरिश एक ऐसी सांस्कृतिक व्यवस्था में हुई कि यहाँ स्त्री को परुष पर निर्भर रहनी चाहिए। चाहे अपने ऊपर कुछ भी हो जाए कोई शिकायत किये बिना सबकुछ सहकर जिएँ। अगर वह छुप नहीं रहती हैं तो समाज उसे विपथगमिनी सिद्ध करता है। इस संकुचित सोच से आज भी जनता की मुक्ति नहीं हुई है। 'डोरिन' नामक कविता में अनिता वर्माजी कहती है-

"पति है उसका शराबी
नहीं करता है कोई काम

1. अनामिका - खुरदुरी हथेलियाँ - पृ - 37

वही पालता है उसके दो बच्चे

.....

लोग करते हैं डोरिन की तारीफ

कितनी अच्छी है कितना खटती है

कितना सहती है

डोरिन अच्छी है डोरिन चुप रहती है।" [1]

लोग यहाँ डोरिन की आत्मपहचान को, उसकी कठिन मेहनत को देखकर नहीं बल्कि ये सब करते हुए भी वह चुप रहती है उसकी इस चुप्पी को बधाइयाँ दे रहे हैं। इक्कीसवीं सदी का समाज भी चुप रहनेवाली स्त्री को ही माँगते हैं। बच्चे बिगडा हुआ है तो इल्जाम स्त्री पर, परिवार टूटता है तो आरोप स्त्री पर, ऊँचे आवाज़ में बोलती है और शिकायत करती है तो स्त्री घमंडी इस दृष्टिकोण में अब तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

यौन उत्पीडन आज सब कहीं सहज साधारण बन गया है। आजकल यौन उत्पीडन की अप्राकृतिक घटनाएँ भी बहुत तेज़ी से बढ़ रही हैं। ऐसी घटनाओं के शिकार होनेवाली लडकियों की शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ जाता है जिससे मुक्ति उसे कभी भी हासिल नहीं होती। हम अखबारों में इससे संबंधित घटनाएँ तो बहुत पढ़ते हैं। इन घटनाओं पर प्रतिक्रिया भी जाहिर करते रहे हैं, लेकिन इस बात को लेकर अनजान है कि ये लड़कियाँ कहाँ किस तरह का जीवन जी रही हैं। एक बार ऐसी हादसा किसी लड़की के साथ होती है तो उसका फल उसे ज़िंदगी भर भुगतना पड रहा है। उसकी मर्जी से नहीं हुई घटना का भी बुरा

1. अनिता वर्मा - एक जन्म में सब - पृ - 65

परिणाम उसे ज़िंदगी भर सताता रहता है। 'बलात्कार' नामक कविता में अनिताजी कहती हैं -

"सबने उसे खबर की तरह पढा
और भूल गये
पर वह ज़िंदा है
डरी छिपी रहती है वह
हमारे सभ्य अंधकार में।" [1]

एक सुव्यवस्थित समाज में इन लड़कियों के लिए भी हितकारी पद्धतियों का आविष्कार होना सबसे ज़रूरी है। लेकिन जो पद्धतियाँ विकसित हुई है कानून के सहारे और इसप्रकार के शोषण की शिकार हुई लड़कियों के सुधार केलिए जिन संस्थाओं का विकास हुआ है वहाँ भी इन लड़कियों के साथ बुरा व्यवहार ही चल रहा है। असुरक्षा की ज़ंजीरें माँ की कोख से लेकर लड़कियों का पीछा कर रही हैं-'अतीत को स्मरण' नामक कविता में कवि विनोदकुमार शुक्लजी का कहना है-

"मेरी चीख अवाक होती है
जब भविष्य सी मरी हुई
एक छोटी सी लड़की को
पीछे के दरवाजे से
घर से बचाकर बाहर निकालते हुए
एक डरी हुई माँ को देखता हूँ
तो अवाक् चीख रोकता हूँ
कि कोई सुन न ले ।

1. अनिता वर्मा - एक जन्म में सब - पृ - 105

आसपास सभी घरों में
लड़कों के पिता बनने वाले पिता हैं
अजन्मी लड़कियों को
कोख में मार डालने वाले हत्यारे पिता।"[1]

प्रस्तुत पंक्तियों को पढने से भारतीय समाज की सभी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ एवं विकास सब कुछ निरर्थक सिद्ध होता है। क्योंकि विकास के हर कोने को छूनेवाला भारतीय समाज मूल्य च्युतियों केलिए भी अब आगे निकलता हुआ प्रतीत होता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के इतने वर्ष बाद भी आज के आधुनिक वैज्ञानिक ज़माने में अब तक स्त्री को उस स्वतंत्रता नहीं प्राप्त हुई है जिसकी वह हकदार है। 90 प्रतिशत पुरुष चाहते हैं कि उसकी पत्नी चाहे तो काम पर जाए या अपना पसंदीदा सबकुछ करे फिर भी वह ये सब अपने पति के अनुशासन उसके पसंद के आधार पर ही करे। अर्थात् वह यह सब करती हुई एक आदर्श पत्नी का फर्ज भी बखूबी निभाए।

"कानूनन समान है
वह स्वतंत्र भी है
बडे बडों की नज़रों में तो
धन का एक यंत्र भी है
भूल रहे वे
सबके ऊपर वह मनुष्य है
उसे चाहिए प्यार
चाहिए खुली हवा

1. विनोदकुमार शुक्ल - अतिरिक्त नहीं - पृ - 33

लेकिन बंद खिड़कियों से टकराकर
अपना सिर
लहुलुहान गिर पडी है वह
.....
गिरती है वह
गिरती है आधी दुनिया
सारी मनुष्यता गिरती है
हम जो ज़िंदा हैं
हम सब अपराधी हैं
हम दंडित हैं।"[1]

समाज के हर क्षेत्र में आज भी स्त्री बिलकुल एक वस्तू के रूप में प्रतिष्ठित है। हर कहीं उसका शोषण एवं उपयोग हो रहा है। उसे एक मनुष्य के रूप में मान्यता नहीं मिल रही है।

पारिवारिक जीवन के संदर्भ में भी स्त्रीयों के शोषण की परंपरा का उल्लेख करना ज़रूरी है। हमारे समाज ने पहले से बेटा - बेटी में फर्क पैदा कर दिया है। बेटे को हर सुविधाएँ मिलती हैं। बेटी को बोलने तक और प्यार के चौखट को छूने तक का अधिकार नहीं मिलता। आज भी यह व्यवस्था कायम है नहीं तो इतनी सारी भ्रूण हत्याएँ कैसे उपस्थित होती। 'बेटी' नामक कविता में लीलाधर मंडलोईजी कह रहे हैं-

"बेटे न हो तो
अपूर्ण है परिवार

1. गोरख पाण्डेय- जागते रहो सोने वालो - पृ - 20 - 21

याद रहा हमें
बेटी न हो तो
घर की देहरी
न केवल अपूर्ण
अपवित्र बनी रहती है
भूल गये हम।"[1]

आज के ज़माने में भी लोग घर में लड़का पैदा होने की ख्वाहिश रखते हैं। हमारा समाज बहुत आगे बढ गया है। हर क्षेत्र जिसका संचालन पुरुष द्वारा हो रहा था आज पुरुष के समान उसमें सत्रीयों को भी भागीदारी मिल रही है। फिर भी समाज की सोच में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। पारिवारिक संदर्भ में स्त्रीयों पर होनेवाला और एक शोषण तलाक को लेकर है। अपने पति से बिछुडने का फैसला लेनेवाले औरतों की ज़िंदगी में और एक पुरष की उपस्थिति होना मुश्किल है। क्योंकि तलाक स्त्री के लिए कलंक एवं पुरुष केलिए आज़ादी है। समाज भी तलाक के संदर्भ में स्त्रीयों पर यही नज़रिया अपनाता है चाहे वह अपनी मर्जी से तलाक ले रही है या फिर मज़बूर होकर, समाज उसकी साफगोई सुनने केलिए तैयार नहीं होगा। कवि एकांत श्रीवास्तव कहते हैं-

"तलाक के बाद अधिक स्वतंत्र हो जाता है पुरुष
दूसरी उमा की खोज केलिए
मगर उमाएँ हो जाती हैं अधिक असहाय
कि कोई रुद्र अब उन्हें स्वीकार नहीं करेगा।"[2]

---

1. लीलाधर मंडलोई - लिखे में दुक्ख - पृ - 97
2. एकांत श्रीवास्तव - बीज से फूल तक - पृ - 59

तलाक वाली स्त्री के साथ अनैतिकता करने में भी कोई नहीं चिहकता। उसके चरित्र पर आरोप लगाते रहते हैं। हमारी सांस्कृतिक अपचय एवं मूल्यच्युति इन पक्तियों में स्पष्ट झलकती है।

लिंग भेद को लेकर सामाजिक अनैतिकताएँ झेलने वाला वर्ग है तीसरे लिंग में शामिल हुए लोग। उन्हें न पुरुष जाति में स्थान मिलता है और न ही स्त्रीयों के बीच। उनके लिए एक अगला समुदाय भी है जहाँ रहकर भी वे शारीरिक शोषण के शिकार बन रहे हैं। दिन के उजाले में सभ्य समाज उनसे घृणा भरा दृष्टिकोण रखता है, रात के अंधेरे में उन्हीं का ही शोषण करता है। लिंग भेद ने उन्हें एक घृणित एवं असुरक्षित जीवन प्रदान किया है। उनके सहज जीवन उनसे छीन लिया है। शारीरिक शोषण के शिकार होनेवाले लड़कियों की और एक बदहालत यही है कि वे न चाहते हुए भी वेश्यावृत्ति की ओर मुड़ जाती है, क्योंकि समाज में वह सहज साधारण जीवन जी नहीं सकता तब अपनी आजीविका केलिए जीवन को बचाने केलिए अनैतिक जीवन की ओर प्रेरित हो जाती हैं। सामाजिक जीवन मूल्यों के संरक्षण केलिए लिंग भेद पर आधारित शोषण पर नियंत्रण अनिवार्य बन गया है। कानून के द्वारा कई कोशिशों के बावजूद भी इस स्थिति में अब तक कोई बदलाव नहीं हुआ है। कानून के सहारे मुजरिमों पर मुकदमा दर्ज करने से कुछ भी नहीं होता। वे कैसे भी करके इससे मुक्ति हासिल करते हैं और इन अनैतिकताओं का रास्ता भी नहीं छोडते। जोअपराध करता है उसे तो दण्ड अवश्य मिलनी चाहिए, तभी हमारे समाज में समाजिक जीवन मूल्य बरकरार रहेगा।

2.3.4 उपेक्षित वर्गों की सामाजिक स्वीकृति

हम जिस समाज में रह रहे हैं वहाँ जो स्वतंत्रता समानता, सुरक्षा हमें प्राप्त होती है उसी के अनुरूप ये सब हासिल करने का अधिकार सभी मनुष्य को होता है चाहे वह स्त्री हो, पुरुष हो, बच्चे हो, बूढे हो, अपाहिज, दलित, दीन-हीन, विस्थापित जनता क्यों न हो। वे भी इस संसार का हिस्सेदार है उन्हें भी जीने का अधिकार है। स्त्रीयों की समस्या को लेकर चर्चा तो ऊपर हो चुकी है। वृद्धों एवं बच्चों की चर्चा पारिवारिक संबधों के संदर्भ में बहुत ही संक्षिप्त रूप में किया गया है। अब यहाँ वृद्धों, बच्चों एवं अन्य उपेक्षित वर्गों पर चर्चा प्रस्तुत है। वे भी समाज के हिस्सेदार है। उनका भी जीवन हमारी संस्कृति में शमिल है। उनके साथ भी मानवीयता बरतना हमारा फर्ज़ है। तभी पूर्ण रूप से मूल्यों सहित नैतिक समाज एवं सामाजिक संबध और सामाजिक व्यवस्थाएँ उपस्थित होगी। समकालीन हिंदी कविता में इन उपेक्षित वर्गों के जीवन की विसंगतियों एवं समाज द्वारा उनपर होनेवाली अनैतिकताओं का विश्लेषण हुआ है।

बच्चे - वर्गों में विभाजित भारत समाज में शोषित एक वर्ग है यहाँ के बच्चे। एक विकसित समाज का दयित्व है कि वह अपने आनेवाली पीढी को सही जीवन दिशा प्रदान करे। वास्तव में आज की स्थिति कुछ इस तरह बदल गयी है कि यहाँ बच्चों के प्रति उपेक्षा भरा दृष्टिकोण अपनाते है। जहाँ एक ओर बच्चों को सारी सुविधाएँ मिल रही हैं वहाँ दूसरी ओर ऐसे बच्चों को भी हम देख सकते हैं जिन्हें ज़िदगी की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने केलिए भीख माँगना पड़ रहा है। कहीं होटलों में बर्तन धोना पड़ रहा है। सड़कों पर छोटी -

छोटी चीज़ें लेकर हर एक महंत के कार के पास आकर अपने हाथ की चीज़ें खरीदने केलिए उनके आगे गिड़गिडाना पड़ रह है। ट्रेन में ढोलक बजाते हुए दूसरों से पैसा माँगना पड़ रहा है। संविधान में सभी बच्चों को 14 आयू तक प्राथमिक शिक्षा देने को कहा गया है वह भी मुफ्त में बिना शुल्क लेकर। परंतु हमारे चारों ओर हम आज के उत्तराधुनिक समय में भी ऐसे बच्चों को देख रहे हैं आज भी ऐसे कई बच्चों से मिल रहे हैं जो ढोल गले में डालकर ट्रेन एवं बसों में फिल्मी धुन गाकर भीख माँगते हैं। इसपर कवयित्रि अनामिकाजी कहती है -

"बस में गाकर
बच्चे जो माँगते हैं
वह भीख नही होती
होती है फी उनके गाने की !
इस उमर में
जब वे तितलियाँ पकड़ सकते थे
उन्हें पकडने को मिली हैं-
बसें और फिल्मी धुने और बाँहें -
बेलैस मुसाफिरों की।" [1]

जहाँ बच्चों के साथ समाज इतने क्रूर व्यवहार अपनाते हैं वहाँ सामाजिक जीवन मूल्य कैसे बच पाएँगे। वे खेलना चाहते हैं पढना चाहते हैं दूसरे बच्चों के समान ज़िदगी की सारी खुशियाँ चाहते है लेकिन उनकी आर्थिक स्थिति इसके अनुकूल नहीं इसलिए उन्हें दूसरों के आगे हाथ पसारना पड़ रहा है। जिस उम्र में बच्चों को खूब मज़े के साथ जीना चाहिए उसी उम्र में वे काम पर आ रहे हैं।

1. अनामिका- अनुष्टुप - पृ - 79

पढने खेलने के इस उम्र में उनके हाथ में शू पॉलिश की काले धाग दिख रहा है। राजेश जोशी ने इस भयानक स्थिति को उकेरा है 'बच्चे काम पर जा रहे हैं' नामक कविता में -

"बच्चे काम पर जा रहे हैं -

हमारे समय की सबसे भयानक पंक्ति है यह
भयानक है इसे विवरण की तरह लिखा जाना
लिखा जाना चाहिए इसे सवाल की तरह
काम पर क्यों जा रहे हैं बच्चे? ।"[1]

भले ही बच्चे को पालना माँ बाप का दायित्व है। परंतू जब माँ बाप अपनी आर्थिक पराधीनता के कारण उन्हें जीवन की सभी खुशियों से दूर रखते हैं तब यह समाज का दायित्व बनता है, राजनीतिज्ञों एवं शासकों का, नीति न्याय व्यवस्थाओं का दयित्व बनता है कि वे इन बच्चों को अच्छी शिक्षा उपलब्ध कराके उनके चरित्र में सामाजिक प्रतिबद्धता की चेतना जगाएँ। बच्चों में अनैतिक करतूतों का विकास कराने में माँ बाप का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। उनसे सुबह और शाम कठिन मेहनत करवाकर पैसा कमानेवाले माँ बाप उस पद के लायक भी नहीं। "कि बची रहे मनुष्यता हममें" नामक कविता में रमणिकाजी कहती हैं -

"यह ठीक है तुम्हें ज़रूरत हैं
हमारे श्रम की
ओ मेरे बाबा
ओ मेरी माँ

1. राजेश जोशी - नेपथ्य में हँसी - पृ - 23

पर सुबह- शाम तो
हमारे लिए छोड दो
कि हम फड़फडा सकें अपने पंख
कि चहचहा उठे हमारा
बचपन
.....
मत हांको इतना
मत जोतो इतना
मत पोरो इतना
ओ हमारे आका
कि हम जायें मर
या फिर लग जायें मारने
तुम्हीं सब को।" [1]

बच्चों के चरित्र में हिंसा का भाव पैदा करने में माँ - बाप का भी योगदान रहता है। सबसे पहले बच्चों का चरित्र पारिवारिक माहौल से ही प्रभावित होता है। समाज में रहनेवाले अन्य बच्चों के समान सुविधायुक्त जीवन न जी पानेवाले बच्चों पर संवेदना बरतते हुए कवि ज्ञानेन्द्रपति 'एक रेल के डिब्बे में' नामक कविता में कहते हैं-

"हाथ फैलाता है वह आखिरकार, तुम्हारे आगे
भीख नहीं, मेहनताने केलिए फैली वह बाल हथेली
जिसकी जीवन रेखा से तुम आँखें चुराते हो

1. रमणिका गुप्ता - भीड़ सतर में चलने लगी - पृ - 60

मस्तिष्क -रेखा से तुम आँखें चुराते हो
तुम उसके मैले स्वाभिमान से आँखें चुराते हो
देते बेमन से एक सिक्का।"[1]

ज्ञानेन्द्रपति की ही और एक कविता है 'खून का रिश्ता' इसमें भी उन्होंने बालकों की मेहनत से खूब खाते - पीते लोगों का चित्रण किया है-

" तुम कहना चाहते हो
हाँ, वे बच्चे और वे 'बड़े'
रिश्तेदार तो हैं
पर वह रिश्ता कैसा है यह देखो
उन बच्चों की दुबली देह से
जो रक्तशोषी साइफन लगा है
वह उन बड़के गालों को लाल रखता है
रिश्ता खून का है बेशक।
कि जिस रिश्ते का खून कर देने को
छटपटाता है तुम्हारा जी।" [2]

बच्चों पर होनेवाले शोषण से संबंधित इन पंक्तियों को पढने से हमारा दिल पिघल जाता है और इन अमानवीयता को रोकने केलिए हम कुछ भी करने को तैयार हो जाएँगे। जीवन मूल्यों के संरक्षण केलिए अब इसकी सख्त ज़रूरत है। 'गणतंत्र दिवस' नामक कविता में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी सारी स्वतंत्रताओं से दूर हो गये बच्चों का ज़िक्र किया है ज्ञानेन्द्रपतिजी ने-

---

1. ज्ञानेद्रपति - कवि ने कहा - पृ - 20
2. ज्ञानेद्रपति - कवि ने कहा - पृ - 22

"गिनती - सीखने की उम्र वाले बच्चे
गणतंत्र-दिवस - समारोह के शामियाने के बाहर खडे
जड़ाती रात की उछीड़ सड़क पर
झण्डों का झुण्ड उठाये, दीठ के आगे लहरातेः
झण्डा ऊँचा रहे हमारा।" [1]

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी हमारे यहाँ के बच्चों को गणतंत्र दिवस में झण्डे बेचकर भूख मिटाना पड़ रहा है। हमारे समाज की सबसे बडी त्रासदी इससे बढकर क्या हो सकती है? बच्चों के साथ बेहूदा हरकत सिर्फ और सिर्फ वही कर सकता है जिसके मन एवं चरित्र में कहीं भी मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता न हो। जिसका चरित्र आचरण हीन हो। बच्चों को ले जाकर उनके अंग -भंग करके उन्हें भीख माँगने केलिए गंदी गलियों छोडने वाले आज भी हमारे समाज में बिना डरके रह रहे हैं। कवि ज्ञानेन्द्रपतिजी 'कबिरा खडा बाज़र में' नामक कविता में इस सच्चाई को हमारे समाने रख रहे हैं-

"आज मिलेगा भी नीरू - नीमा सा पालक कोई
कि मिलेंगे शिशु का अंग - भंग कर
गली- गली भीख मँगाने वाले
हाथों को करघा नहीं, कटोरा पकडाने वाले
कबिरा खड़ा बाज़ार में होगा और ही भाँति
या फिर करघा हुआ तो
होगा, अनुल्लंघ्य राईफलों से रक्षित
अलंघ्य चारदीवारी के भीतर

---

1. ज्ञानेद्रपति - कवि ने कहा - पृ - 23

भदोही, हंडिया, मिर्जापुर के किसी धन - लोलुप कालीन
कारखाने में
बँधुआ बाल मज़दूरों का पीने वाला खून।" [1]

यही समाज की सच्चाई है, अपने आर्थिक लाभ केलिए इस तरह की अमानवीयता को बढावा देने में हमारे समाज के वरिष्ठ लोगों का भी हाथ रहा है। तब कानून को इन सब करतूतों के आगे अपना सर झुकाना पड़ता है।

वृद्ध - वृद्ध जीवन की त्रासदी को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने माता-पिता और अभिभावकों की देख - रेख करने केलिए संतानों को कानूनन बाध्य करने संबधी विधेयक 'माता- पिता एवं वरिष्ठ नागरिक देख - रेख एवं कल्याण विधेयक 2007' को 5 दिसंबंर 2007 ई को लोकसभा तथा 6 सितंबर 2007 ई - को राज्यसभा में पारित करवा लिया है। इसके अनुसार बच्चे एवं रिश्तेदार अनिवार्यतः अपने पालकों, बुजुर्ग रिश्तेदारों की देखभाल अच्छी तरह करें। उपर्युक्त कथन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि अगर देश को देश की जनता से कानून के सहारे माँ - बाप के देखभाल की धमकी देना पड़ रही है तो इससे हम यह अंदाज़ा लगा सकते हैं कि हम जीवन मूल्यों की दृष्टि में संस्कार की दृष्टि में कितना गिरे हुए हैं। देश तो अपना कर्तव्य निभा रहा है, अब हमें भी अपना कर्तव्य निभाना चाहिए। इतना घटिया हरकत अपने ही माँ - बाप के साथ भला कौन कर सकता है कि उनके सब कुछ छीनकर उन्हें वृद्धाश्रमों में छोड देता है। हालाँकि नई कानून व्यवस्था के अनुसार अब हर जिले में वृद्धों की मदद केलिए एक प्राधिकरण होगा, जो बुजर्गों के साथ ज़्यादती के मामले में स्वयं संज्ञान लेकर

1. ज्ञानेंद्रपति - कवि ने कहा - पृ - 82

कार्रवाई कर सकेगा। वारिस की परिभाषा में बच्चों, पोते-पोतियों के अलावा उन सभी को रखा गया है,जो उस व्यक्ति की संपत्ति के उत्तराधिकारी होंगे। बुजुर्गों को अधिकार दिया गया है कि प्राधिकरण की मदद से वारिसों को अपनी संपत्ति के अधिकार से वंचित कर सकते हैं या उससे संपत्ति वापस प्राप्त कर सकते हैं।

60 वर्ष या उससे अधिक आयु का व्यक्ति प्रधिकरणों में दरखास्त दे सकता है। वृद्ध माता - पिता की सेवा न करनेवाले बच्चों को अब तीन माह तक जेल जाना पड़ता है। ऐसी सजा के खिलाफ अपील भी नहीं की जा सकेगी। यह सब कानून द्वारा की गई व्यवस्था है। यह सब करने की नौबत इसलिए हुई कि हम अपने नैतिक आचरण से एकदम विचलित होकर जी रहे हैं। लोगों को अपना नैतिक आचरण एवं दायित्वों को कानून के सहारे नहीं परंपराओं एवं मूल्यों के निर्देशन द्वारा करना चाहिए। पूँजीवादी मानसिकता ने सबको लाभ की नज़रिए से देखने को बाध्य बनाया है। यहाँ जिसका कोई उपयोग नहीं हो रहा है, जो उपयोग शून्य बन गया है, वह त्याज्य है। चाहे वह कोई वस्तु हो या फिर ज़िदा मनुष्य। इसका बुरा प्रभाव आज के वृद्ध जीवन पर भी पडा है। वृद्धों की समस्या की चर्चा अब पारिवारिक जीवन के संदर्भ में नहीं कर सकता क्योंकि आज के परिवार में वृद्ध लोग शामिल नहीं हैं।

समकालीन कविता में बहुचर्चित एक विषय है वृद्धों की समस्याएँ। आज कल पारिवारिक संबंधों में इतना उजडाव आया है कि लोग बुजुर्गों को घृणा भरी दृष्टि से देखते हैं। यहीं नहीं बच्चों के मन में भी बडों के द्वारा बूढे लोगों को लेकर ऐसी घृणाभरी दृष्टि की पैदाइश हुई है। घर के बच्चे पहले तो दादा-दादी के मुँह से कहानियाँ सुनना चाहते थे। आज के बच्चे चाहते हुए भी सुन नहीं पा

रहा है। सुनीता जैन की प्रस्तुत कविता इसके लिए सटीक उदाहरण है-

"दादाजी, मैं जाऊँ ?
क्यों बेटा ! बैठ अभी
नहीं, माँ गुस्सा करेगी
वह कहती है
आप बहुत खाँसी करते हो
मैं बीमार हो जाऊँगी
बॉय, दादाजी!
जीती रहो, बेटी!" [1]

भारतीय जीवन मूल्यों की सबसे बडी त्रासदी है यह बूढे एवं बुजुर्गों के प्रति इस उपेक्षा भरी दृष्टि ने पूरे भारत को वृद्धाश्रमों से भरा दिया। आजकल के बच्चों केलिए बूढ़े माँ-बाप उनके रास्ते में व्यवधान पैदा करने वाली चीज़ें हैं। 'दुर्घटना' नामक कविता में विनोद भारद्वाज ने माँ को दुर्घटना समझने वाले बेटे का चित्रण किया है।

"माँ, तुम यहाँ कहाँ ?
तुम्हें तो होना चाहिए था
बिस्तर पर
तुम कहाँ इस भगदड में?
.....
तुम जा रहे हो बहुत दूर
सोचा बाँध दूँ
कुछ मीठे से पकवान।

1. सुनीता जैन - कहाँ मिलेगी कविता - पृ - 26

अरे, माँ, तुम कैसी हो माँ
मैं अब नहीं रहा एक बच्चा
मैं ठहरा एक व्यस्त आदमी
ज़रूर कोई हुई है यहाँ दुर्घटना
तभी तो यह ट्रैफिक जैम है
.....
देखो, तुम्हीं को देखकर
सारा ट्रैफिक रुक गया है
अरे यही तो है शायद
दुर्घटना।"[1]

आजकल बूढे माँ के प्रति संवेदना रख़नेवाले बच्चे बहुत विरले ही मिलते हैं। माँ-बाप केलिए बच्चे का जनम भाग्य है मगर बच्चे जब माँ बाप की कमाई से पलकर बढे हो जाते है तब उन्हें बूढ़े माँ-बाप दुर्घटना नज़र आता है। अपने लिए एक परिवार बस जाने के बाद सभी बच्चे चाहते हैं कि संपत्ति का बँटवारा हो जाया। 'बँटवारा' नामक कविता में संपत्ति के बँटवारा हो जाने के बाद माँ को अपने हिस्से में बरामदा ही मिल रहा है। उनकी कोख से जन्मे बेटे सबकुछ छीनकर उसे बरामदे में छेड देता है - पवन करणजी कहते हैं -

"माँ बरामदे में रहेगी और बारी- बारी से
बेटों के यहाँ खाएगी, पिएगी, फिर यह उसकी मर्जी
वह जिसके पास रहना चाहे फैसला हुआ,
माँ बँट भी नहीं सकती थी इस वजह से
अपने -अपने हिस्से पर निगाह जमाए बेटों ने

1. विनोद भारद्वाज - होशियारपुर - पृ - 41 - 42

माँ को लेकर बनी सहमती में हिला दिये अपने सिर
लेकिन माँ बैठी रही चुपचाप फिर बेटों के अनुसार
सब है तो माँ का ही, वह तो इसलिए कि
माँ के सामने उसके जीते जी सब हो जाए तो अच्छा

.....

माँ के पैरों की तरफ इशारा करते हुए उसने कहा
मरने के बाद यह चाँदी की कड़ियाँ
जो अम्मा ने पहन रखी हैं अपने पैरों में
वे किसके हिस्से में आएँगी
पंचायत और बूढी माँ अवाक्
देखती ही रह गई सबसे छोटे बेटे का चेहरा।"[1]

जीते जी माँ के साथ ऐसे व्यवहार करनेवाले बेटों से आखिर बूढे माँ - बाप क्या उम्मीद रख सकते हैं। सबकुछ मिलने के बाद भी बेटे की नज़र माँ की कडियों में है। वह चाहता है कि अभी के अभी उसपर भी फैसला हो जाए।

अन्य उपेक्षित वर्गः इस संसार के सभी जीवित प्राणियों को जीने का समान अधिकार प्राप्त है। लेकिन हमारे यहाँ कुछ लोग इन सभी अधिकारों से वंचित रह गए सिर्फ शारीरिक या आर्थिक नाकामयाबी की वजह से, इन लोगों के प्रति हम कभी भी प्रतिबद्ध नहीं हो सके हैं। इसमें रोगों से पीडित लोग आते हैं, अपाहिज, यतीम आदि सब आ जाते हैं। वे राजनीतिक अधिकारों से भी वंचित है। उनका नाम मदाधिकार सूची में नहीं होगा। जिन्हें राशन तक नहीं मिलता। जिस देश में ऐसे लोग रह रहे है और वहाँ की प्रशासनिक एवं सामाजिक

1. पवन करण- अस्पताल के बाहर टेलिफोन - पृ - 115 - 116

व्यवस्थाएँ उनके लिए कुछ भी नहीं कर रहे हैं तो उस देश को प्रगतिशील हम कैसे कह पाएँगे। 'विधेयवादी की चीख' नामक कविता में कैलाश वाजपेयी जी कह रहे हैं -

" कमज़ोर लोगों को रोने दो
मरने
भिखमंगों, कोढियों
अपाहिजों, बूढे गरीबों
यतीम बच्चों को
शोर धुआँ हल्ले का
जलता सहारा ओढे हुए
दहकते अलाव पर खडी है वह
सैकडों सालों से
रोग भूख छितराकर
औंधी गिरती हुई-
अब कहीं जाकर गिरी है वह।" [1]

इनके प्रति मानवीयता की भावना होने से ही देश की सफल प्रगति संभव हो जाएगी। इसके लिए हमारे यहाँ के लोगों में जीवन मूल्यों की ओर जागरण पैदा होना ज़रूरी है। हमारे भारतीय समाज में अमानवीयता की विडंबनाओं को सहने वाले और एक वर्ग है यहाँ के विस्थापित जनसमुदाय, उन्हें सहज जीवन के अधिकारों से वंचित रहना पड़ रहा है। कभी-कभी युद्ध के कारण, महामारियों के कारण, प्राकृतिक आपदाओं के कारण, विकास योजनाओं के कारण कई

1. कैलाश वाजपेयी - देहांत से हटकर - पृ - 24

लोगों को अपनी मिट्टी से दूर हो जाना पड़ता है। ये लोग अपने सब कुछ छोडकर कहीं और नया जीवन बसाता है तो भी उन्हें अपने सहज जीवन जीना मुश्किल बन जाता है। प्रवासी पक्षी मौसम बदलने पर कहीं दूर चली जाती है वैसी है इनकी भी स्थिति; उनसे भी बदतर है, क्योंकि पक्षियाँ तो फिर अपनी ही जगह में लौट आती हैं मगर इन्हें ज़िंदगी भर घूमते रहना पड़ता है। उनके बच्चे भी इसका नतीजा भुगत रहा है उन्हें रिक्षा प्रदान करना, महामारियों से बचाना इनके लिए बहुत कठिन हो जाता है। कहीं दूसरी जगह पर जीवन बिताने वाले लोग समाज से यह विडंबना भी सहते हैं कि उन्हें कोई नहीं अपनाता। अपनी संस्कृति, घर - परिवार सगे संबंधियों से दूर होनेवाले विस्थापित जनसमुदाय पर कवि ज्ञानेन्द्रपति ने लिखा है-

"क्या लौटेंगे, इनके साथ
इनके पीछे -पीछे
गंगा - यमुना के दोआबे में
तंबू- बस्तियों में रहने वाले
कश्मीरी विस्थापित
होगा उनके हेमंत का अंत
उनके घर पर जड़ा हुआ बरफ का ताला
खुलेगा क्या इन गरमियों में
कुमारियाँ बनेंगी वधुएँ, वधुएँ माँएँ
क्या उनका बनवास बीतेगा।"[1]

यहाँ कवि ने विस्थापित जन समुदाय की पीडा को उकेरा है। बेटियों की

1. ज्ञानेन्द्रपति - गंगातट - पृ - 53

ब्याह में व्यवधान, बच्चों की शिक्षा में रुकावट एवं स्वास्थ्य संबंधी परेशानियाँ, असुविधाजनक रहन - सहन आदि समस्याएँ उनके जीवन से कभी दूर नहीं हो जाती है। उनके जीवन में जीवन मूल्यों का संरक्षण होना नामुमकिन है।

भारतीय समाज अनेक जातियों,वर्गों,नस्लों,धर्मों के आधार पर बाँट गया है। सबकी अपनी अलग जीवन शैलियाँ आचारण की रीति,विश्वास, परंपरा आदि होती है। इसी के आधार पर इनके जीवन मूल्य भी तय हो गया है। इन छोटी - छोटी सामाजिक व्यवस्थाएँ एक साथ जुड़कर ही विशाल भारतीय समाज एवं संस्कृति का उदय हुआ है। साथ ही साथ इन सामाजिक संस्थाओं के ज़रिए समाज में इतनी सारी विद्रूपताएँ पैदा हो रही है। इसी के नाम पर लोग आपस में लड़ रहे है। समकालीन संदर्भ में अपने अधिकारों से वंचित रह गए सभी मानव जीवन की पुकार गुँज रहा हैं। जिन व्यवस्थाओं के ज़रिए मनुष्य में जीवन मूल्यों की चेतना संचालित करने की कोशिश हुई है वही व्यवस्थाएँ आज अमानवीयता को छू रही है। कवि भवानी प्रसाद मिश्रजी की 'प्राथमिक' नामक कविता को निष्कर्ष के रूप में उद्धृत करना काफी उचित होगा।

"याद तो हमें
अपने आदमी होने की
रखना है
क्योंकि जो कुछ भी सुख - दुख
चखना है हमें जाति या धर्म
कौम या वर्ग या देश के
सो चखना है

आदमी होने और
बने रहने के माध्यम से
सबसे पहली आशा हमसे
आदमी बने रहने की
की गयी है
.....
अगर हमने
आगे नहीं रखा चीज़ से
आदमियत को
तो और जो चाहे कर लें
जाति धर्म कौम देशाभिमान
सब छुएंगे पशुता के छोर
और चुएँगे
किसी एकांत में
आदमीयत के आँसू।"[1]

सामाजिक जीवन मूल्यों के संरक्षण का इससे भी ज्यादा उपयोगी तरीका और कोई हो भी नहीं सकता है। अगर मनुष्य - मनुष्य के बीच मानवीयता की भावना जागृत हो जाएँ तो समाज की सारी विद्रपताएँ अपने-आप मिट जाएगी।

निष्कर्ष

व्यक्ति और समाज के सापेक्ष संबंध को समझने केलिए यह बात जानना होगा कि समाज विभिन्न रुचियों, विचारों, एवं गुणों वाले व्यक्तियों का समूह है।

1. भवानी प्रसाद मिश्र - संपति पृ - 27-28

यहाँ व्यक्ति को इस समझौते के साथ रहना पडता है कि उसे अपने वैयक्तिक स्वार्थों को भी सार्वभौमिक कल्याण को मानते हुए पाना चाहिए। समाज में व्यक्ति उतना भी स्वतंत्र नहीं रह सकता जिनता वह विचारों से रहता है याने की मानसिक जगत में स्वतंत्र रहनेवाले व्यक्ति भी व्यावहारिक जीवन में परतंत्रता का अनुभव करता है। अगर व्यक्ति वैयक्तिक हानि-लाभ को ध्याय में रखते हुए जीना प्रारंभ करेंगे तो सामाजिक व्यवस्थाएँ बिगड जाएगी। साहित्य इसी नैतिकता को प्रोत्साहन दे रहा है। साहित्य मनुष्य को यही सिखाता है कि वह अकेले नहीं रह सकता। मानव की स्वार्थपरता युक्त मनोकामनाएँ जितना प्रबल आज दिखता है उतना तो पहले नहीं था। प्रारंभिक काल में प्रकृति ने स्वयं मनुष्य को सहयोग के साथ जीना सिखाया है लेकिन जो प्रगति हमें इस उत्तराधुनिकता के समकालीन संदर्भ में घसीटकर ले आया उस प्रगति ने मनुष्य से उनकी सारी नैतिकताएँ छीन लीं। अब प्यार, सहभागिता, दया, अहिंसा, सत्यवादिता, अन्याय के विरुद्ध प्रतिक्रिया समाज के प्रति प्रतिबद्धता आदि मानवीय संवेदनाएँ व्यक्ति से दूर हो गया। उपयोगितावादी संस्कृति मनुष्य को चीज़ों में तब्दील कर दिया। संवेदनाओं में आये बदलाव ने मानवीय संबंधों में बिखराव पैदा किया। आज परिवार तो अणु-अणु में तब्दील होता जा रहा है। घर में परस्पर प्रेम की भावना का लोप होता जा रहा है। परिवार में अब सब कुछ कर्तव्य मानकर किया जा रहा है,जैसे दफ्तर में फाइल निस्पादित किए जाते हैं। परिवार के सदस्यों में सम्मान मात्र दिखावा बन गया है, मान और अभिमान तो अब नहीं दिख रहा है। मान न हो तो प्रेम कैसे फलेगा और प्रेम न फले तो फिर रिश्तों का क्या मतलब? संबंधों में हुए बिखराव ने मानव जीवन से प्रेम, दोस्ती सबको दूर कर रखा है। वैयक्तिक

संबंधों में आये इस बदलाव ने सामाजिक व्यवस्थाओं को भी प्रभावित किया। हमारे समय की सबसे बडी अनैतिकता है धर्म,जाति, लिंग, वर्गें में बाँटकर समाज को एकदम कुत्सित बना देना। मनुष्य को मनुष्य की हैसियत से नहीं बल्कि जाति, कौम, सभ्यता, असभ्यता, कुलीनता आदि के आधार पर देखने की प्रवृत्ति ने आज बहुत सरी विद्रूपताओं को जन्म दिया है। जिसकी जकड़ में फँसकर लोग क्रूर नियति के शिकार बन रहे हैं। समकालीन कविता ने व्यक्ति एवं समाज के संदर्भ में जीवन मूल्यों की च्युति पर गंभीर विचार विमर्श किया है। इन कविताओं का लक्ष्य जीवन मूल्यों की च्युति से उत्पन्न समस्याओं पर चर्चा करना मात्र नहीं बल्कि अमानवीयता के स्थान पर मानवीयता को पुनःस्थापित करना होता है। मानव जाति में यह जागृति पैदा करना है कि अगर व्यक्ति एवं समाज अपनी नैतिकता को छोडकर आगे बढने की प्रक्रिया जारी रखेंगे तो आनेवाला कल मनुष्य जाति के विध्वंस के साक्षी बनेंगे।

****

तीसरा अध्याय
समकालीन हिंदी कविता में सांस्कृतिक जीवन - मूल्य

तीसरा अध्याय

समकालीन हिंदी कविता में सांस्कृतिक जीवन - मूल्य

संस्कृति मनुष्य के बाह्य एवं आंतरिक व्यक्तित्व को मूल्यों से जोड़नेवाला तत्त्व है। वह मानव व्यक्तित्व को नैतिकता से अनुप्राणित रखने में सहायक सिद्ध होती है। वैसे तो संस्कृति, जीवन - मूल्य एवं साहित्य का अटूट संबंध रहता है। युगीन संस्कृति अपनी परंपरा, धर्म, साहित्य आदि से मुखरित होती है। साथ ही संस्कृति मनुष्य को मूल्यों का पालन करने केलिए मज़बूर बनाती है ताकि संस्कृति का अस्तित्व सदा विद्यमान रहे। जीवन मूल्यों को माननेवाले समाज द्वारा ही संस्कृति का बचाव संभव है। एक ज़माने में रहनेवाली जनता की जीवन शैली क्या थी, वह अपने आचरण को किस प्रकार मोड़ लेता था, उनका वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन को निश्चित करनेवाले जीवन - मूल्य क्या था? ये सब हम वहाँ के सांस्कृतिक अध्ययन से समझ सकते हैं। युगीन परिस्थितियों में आनेवाले परिवर्तनों ने भी संस्कृति संबंधी अवधारणा में बहुत सारे बदलाव खड़े किए हैं। इस बदलाव को समकालीन हिंदी कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से शब्दबद्ध किया है। प्रस्तुत अध्याय में इसका विवेचन विश्लेषण प्रस्तुत है। सत्य, धर्म, अहिंसा अपरिग्रह आदि पर आधारित भारतीय सांस्कृतिक जीवन - मूल्यों का वर्तमान स्वरूप इन कविताओं के अध्ययन से हम जान पाएँगे।

3.1 संस्कृति स्वरूप एवं अवधारणा

संस्कृति वह अवधारणा है जो एक देश अथवा राष्ट्र की अपनी जीवन शैली, भाषा, आदतें आदि का परिचायक होती है। हिंदी का 'संस्कृति' शब्द अंग्रेज़ी 'कल्चर' शब्द का पर्यायवाची है संस्कृति का व्यापक अर्थ नर विज्ञान में प्राप्त होता है कि संस्कृति सामाजिक परम्परा से प्राप्त होनेवाले व्यवहार का नाम है, जिसको मनुष्य समाज से सीखता है। विकासवादी संस्कृति के तीन चरण मानते हैं- जंगलीपन, बर्बरता एवं सभ्यता, सामान्य रूप से संस्कृति की व्याख्या इस प्रकार दे सकती है कि संस्कृति उन गुणों का समुदाय है जिससे व्यक्तित्व का परिष्कार एवं विकास होता है। धीरेन्द्र वर्मा का मानना है "देश की संस्कृति से हम मानव जीवन तथा व्यक्तित्व के उन रूपों को समझ सकते हैं, जिन्हें देश विशेष केलिए महत्त्वपूर्ण अर्थात् मूल्यों का अधिष्ठान समझा जाता है।"[1] विख्यात साहित्यकार दिनकरजी का मानना है कि संस्कृति को परिभाषित नहीं किया जा सकता उसकी पहचान लक्षणों के ज़रिए हो सकती है। जिस समाज में हम जन्म लेते हैं उसमें सदियों से इन लक्षणों को हम पा सकेंगे जो एक साथ जमा होकर ज़िंदगी का एक तरीका बन जाता है। इसके निर्माण एवं विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का प्रभाव रहता है तथा यह संपूर्ण मानव जीवन को प्रभावित करती है। संस्कृति विरासत में उपलब्ध मानव चिंतन और क्रियाओं के उस परिष्कृत और सम्यक रूप की द्योतक होती है, जिसमें समाज की पहचान सन्निहित रहती है। सांस्कृतिक जीवन - मूल्यों से समाज की संस्कृति पुष्ट और विकसित होती है। संतोष कुमार चतुर्वेदी कहते है "संस्कृति वह सामाजिक

1. धीरेन्द्रवर्मा - हिंदी साहित्य कोश - पृ - 802

विरासत है जिससे परम्परा से कला- कौशल, विचार-व्यवहार, आदतें, नैतिक - मूल्य आदि समावेशित हो जाते हैं।"[1] रामस्वरूप चतुर्वेदीजी ने संस्कृति के बारे में कहा है "संस्कृति एक निरंतर प्रवहमान धारा है, नये संदर्भों से टकराती, अपने को और उन संदर्भों को भी अनुकूलित करती चिकनाती चलती हुई।"[2] 'संस्कृति' मानव जीवन का सार है। इसमें मानव जीवन के बाह्य, आंतरिक, बौद्धिक, नैतिक तथा धार्मिक पक्षों की अभिव्यक्ति होती है। वैसे तो शशि सहगल का मानना है - "हर पीढ़ी का अपना इतिहास होता है, अपने सांस्कृतिक मूल्य होते हैं, वह उन सांस्कृतिक मूल्यों को कहीं अस्वीकार करते हुए चलती है।"[3] यहाँ सहगलजी ने सांस्कृतिक संक्रमण एवं मूल्य परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए अपना मत प्रकट किया है।

अतः सांस्कृतिक जीवन मूल्यों के संदर्भ में अगर हम संस्कृति का अध्ययन कर रहे हैं तो यह बात ठीक से समझना ज़रूरी है कि हमारी परंपरागत धार्मिक संस्कृति आज के जीवन में कहाँ तक संगत है। संस्कृति के प्रमुख अंगों पर ध्यान देने से संस्कृति की अवधारण और भी स्पष्ट बन जाती है।

3.2 धर्म और संस्कृति

धर्म और संस्कृति का संबंध अटूट है। भारत जैसे बहुधार्मिक क्षेत्र में बहुदैववाद के प्रभाव से पहनने-ओढने, खान-पान, चलने - फिरने, वेश-भूषा, भाषा, कला, साहित्य सब में वैविद्य हम देख सकते हैं। धर्म मनुष्य के चरित्र निर्माण एवं उसे व्यवस्थित और मानवोचित जीवन जीने का तरीका सिखाता है।

---

1. संतोष कुमार चतुर्वेदी - भारतीय संस्कृति (भूमिका) - पृ - 7
2. रामस्वरूप चतुर्वेदी - भारत और पश्चिम संस्कृति के अस्थिर संदर्भ - पृ - 46
3. शशि सहगल- नयी कविता में मूल्य बोध - पृ - 127

धर्म केवल मनुष्य मात्र की नहीं बल्कि चराचरों की कल्याण कामना पर आधारित है। धर्म का संस्कृति पर जो अधिकार है वह भी इस सर्वमंगलमय की कामन से प्रेरित है। भारत में जितने भी धर्म हो उन सब में उसी धर्म के अवलंबन लेते हुए एक अच्छे इनसान कैसे बन सकते हैं इसपर जोर दिया गया है। धर्म कर्मवाद पर आधारित है और उसका लक्ष्य व्यष्टि हित न होकर समष्टि हित है। वह अध्यात्मवाद पर ज़ोर इसलिए दे रहा है कि मनुष्य अपनी संवेदनाओं का गुलाम है उनकी यह जैविक विशेषता उसे अनैतिक कर्मों की ओर प्रेरित करता है। इश्वरीय न्याय की बात पर विश्वास रखकर वह अपने काम-क्रोध-लोभ-मोह की प्रवृत्ति पर विजय हासिल कर सके, यही धार्मिक अध्यात्मवाद की मुख्य प्रवृत्ति है। अगर एक संयमित जीवन जीने केलिए मनुष्य काबिल बन जाता है तो उनसे उद्‌भूत होनेवाली संस्कृति संपूर्ण मानव जीवन का हित कर सकता है। ऐसी संस्कृति जीवन को मूल्यवान बना सकता है।

भारतीय संस्कृति वेदों की, पुराण की, भागवत् की संस्कृति है। विद्या, दान, तप और सत्य को धर्म मानने की संस्कृति है। धर्म को यहाँ इश्वरीयता से ज़ोडने के बजाय कर्म से जोडा गया है। व्यक्ति किसी भी जाति का हो किसी भी समुदाय एवं सम्प्रदाय का हो किसी भी वर्ग विशेष का हो, उसके जीवन का सही दिशा निर्देश ही धर्म का प्रयोजन है। ईसाइयत एवं मुसलमानी धर्म भी इसी प्रयोजन को आगे ले जानेवाले ही है। धर्म तो वही है जो शील, सदाचार, आत्मसंतोष आदि की कसौटी पर खरा उतरे और जब तक विवेक पर खरा नहीं उतरता धर्म की सही पहचान नहीं हो सकती है। यही वर्तमान समय की सबसे बड़ी त्रासदी है। सांस्कृतिक जीवन मूल्यों के बिगडने का कारण भी।

3.1.2 कला और संस्कृति

धर्म के पश्चात संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग है कला, जो सौंदर्य एवं आनंद का अनुभव प्रदान करता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय सिद्धातों में कला को जीवन की कुरूपता को दूर करने का साधन बताया है। संस्कृति का मतलब है संस्करित एवं परिष्कृत, तब कला संस्कृति का वह सहायक तत्त्व है जो संपूर्ण मानव जीवन से कुरूपता को दूर करके एकदम संस्करित जीवन का प्रतिमान उनके सामने उपस्थित कर सके। जीवन मूल्यों केलिए यह भी सबसे वांछनीय तत्त्व है। पाश्चात्य पुनर्जागरण के दौर में फ्रांस कला संबंधी बहुमुखी आंदोलनों का केंद्र बन गया था। 'कला कला केलिए', 'कला जीवन केलिए', आदि तत्त्वों की स्थापना हुई और कला में नैतिक तत्त्व, सदाचार एवं मर्यादा की आवश्यकता को तिरस्कार ही प्राप्त हुआ क्योंकि इन सबको धर्म का विषय मानने लगा। जबकि भारतीय मनीषियों ने कला को स्थूलता से सुक्ष्मता की ओर ले जाने वाले तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। भारतीय मनीषियों का मानना है ललित कलाएँ अर्थात् स्थापत्य कला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत एवं काव्य आदि में पहले तीन आनंद की स्थूलता पर खरा उतरनेवाली है और संगीत एवं काव्य आनंद की सूक्ष्म धरातल पर पहूँचानेवाली। अतः कलाएँ सौंदर्य एवं आनंद की स्थूलता से गुज़रकर काव्य में पहूँचते ही उसकी सूक्षमता एवं गहराई को जानने केलिए सक्षम बन जाती है। अतः कला एवं साहित्य देश, जाति, वर्ग युक्त समाज की सांस्कृतिक जीवन मूल्यों का वाहक है जिसका बदलता स्वरूप आज हमारे सामने जन संस्कृति के रूप में विद्यमान है।

3.1.3 परंपरा और संस्कृति

वास्तव में परंपरा ही वह तत्त्व है जो मनुष्य को उसके भूत, भविष्य एवं

वर्तमान से संबंध बनाये रखने में मदद करती हैं। संस्कृति के वे तत्त्व या मूल्य या व्यवहार या आचरण जिन्हें इतिहास में स्थान मिला हो उसे परंपरा कही जा सकती है। परंपरा को एक मूल्य या संस्कृति के रूप में तभी स्वीकार किया जा सकता है जब उसमें निरंतरता होती है। गतिहीनता एवं जड़ता परंपरा को रूढ़ बना देता है। जब कोई परंपरा रूढ़िवादिता पर आधारित होती है तब वहाँ की संस्कृति एवं मूल्यों को संक्रमित होना पड़ता है। साथ ही अपने को नए प्रतिमानों के आधार पर विश्वकल्याणकारी रूप में पुनः स्थापित करना पड़ता है। मूल्य, परंपरा और संस्कृति की आवश्यकता उस मानव समाज को होती है जो सामाजिक है, एकाकी मानव एवं मानवेतर प्राणियों को इन तत्त्वों की ज़रूरत नहीं पड़ती। इन सबका निर्माता मनुष्य स्वयं है लेकिन वह शून्य से कुछ ग्रहण नहीं करता; भूत एवं वर्तमान इसके लिए आधार बन जाता है और इन मूल्यों, परंपराओं एवं संस्कृति मनुष्य के भविष्य को उज्वल बनाने में सहायक बन जाता है। वर्तमान समय में परंपरा का कोई मूल्य नहीं रह गया है, उसे आदर्श रूप में स्थापित किया है और वह पूजनीय है, उसे व्यवहार में नहीं लाया जा सकता, यह विवेकशून्यता वर्तमान मानव समाज को ग्रस लिया है, जो सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों को बुरी तरह से प्रभावित करता है।

3.1.4 दर्शन और संस्कृति

संस्कृति का अगला महत्त्वपूर्ण अंग है दर्शन। दर्शन संबंधी विस्तृत अध्यन पहले अध्याय में हो चुका है। यहाँ दर्शन और संस्कृति के सह संबंध मात्र पर विचार किया जाएगा। वैसे तो भारत में वहुत सारे दार्शनिक सिद्धांतों

को हम देख सकते हैं, जिसमें जीव और परमात्मा के संबंध पर विचार किया गया है और सबका यही निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य को भौतिक सुखसुविधाओं के चकाचौंध में नहीं पड़ना चाहिए। जीवन का परम सत्य मोक्ष की कामना है उसके लिए हमें कर्म करते रहना चाहिए। वह भी ऐसा कर्म जिससे मात्र हम ही नहीं बल्कि हमसे जुडे परिवेश एवं अन्य जीवों को भी फायदा हो सके। इनमें मात्र चार्वाक दर्शन है जो सिर्फ बाहरी भौतिक जगत् को सत्य माना और वैयक्तिक स्वतंत्रता की हदों को पारकर अपनी खुशी हासिल करने का उपदेश दे रहा है। वर्तमान समय की संस्कृति भी इसी दर्शन पर अडिग है। नतीजा यह हुआ कि लोग बिलकुल निरंकुश एवं निरर्थक जीवन जीने लगा है। अब बाकि दर्शन भी मानव के विवेक को ठीक रास्ता दिखाने में नाकामयाब रह गया। अब आध्यात्मिक आनंद को भी वे पैसों से मिलनेवाली सस्ती चीज़ मान बैठे हैं।

3.1.5 सभ्यता और संस्कृति

समकालीन सांस्कृतिक जीवन मूल्यों पर ध्यान देते वक्त हमें सभ्यता की ओर भी ध्यान देना चाहिए। जिससे संस्कृति बनी है, और मानव जीवन को जंगलीपन से मुक्ति एवं विवेकाधारित नैतिक जीवन प्राप्त हुआ है। सभ्यता के बारे में ओम प्रकाश जोशीजी का मानना है - "मनुष्य ने अपनी भौतिक सुखसुविधाओं को बढ़ाने केलिए जिन वस्तुओं की खोज की तथा जिन उपादानों का निर्माण किया और उनके उपयोग प्रयोग से जो विकास किया, उस विकसित मानव जीवन को सभ्यता कहा जाता है।"[1] अरबिंदो घोष ने भी इसी मान्यता के पक्षधर है कि मनुष्य ने पशु के समान जीवन व्यतीत करने की अवस्था से आगे बढ़कर अपने

1. ओम प्रकाश जोशी - विश्व की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति - पृ - 1

मनुष्यत्व की विशेषता के सहारे जो रचानात्मक कार्य करने केलिए संघर्ष किया, वही मनुष्य जाति की सभ्यता का प्रारंभिक स्वरूप रहा है। सभ्यता से ही संस्कृति का निर्माण हुआ जब से मनुष्य ने बेकार पड़े पत्थरों को साकार आकार देकर उसे कालात्मक एवं सौंदर्यात्मक आनंद का माध्यम बनाया, तब से लेकर उसमें छिपी सृजनात्मकता भौतिकता से परे भावात्मकता को महत्त्व देने लगा और यहीं से संस्कृति की शुरुआत हुई।

वास्तव में सभ्यता और संस्कृति दोनों का संबंध मानव की सर्जनात्मक गतिविधियों से हैं। जब इसमें उपयोगिता की भावना आ जाती है तब यह सभ्यता का रूप ग्रहण कर लेता है, और जब इसमें जीवन मूल्यों के प्रति जागरूकता की भावना आ जाती है तब वह संस्कृति के रूप में परिलक्षित होता है। संस्कृति जीवन का आंतरिक (मानसिक) और सभ्यता जीवन का बाहरी(भौतिक) पक्ष है। अपने इस भौतिक जगत् में पायी जानेवाली मानवोपयोगी सभी चीज़ों जैसे घर, सड़क, फोन, टी-वी, कार, पोशाक, भोजन सब कुछ सभ्यता का परिचायक है। संस्कृति का काम यह समझाना होता है कि इन सब चीज़ों का उपयोग हम कैसे करें। सभी सभ्य लोग सुसंस्कृत होंगे ऐसा हम नहीं कह सकेंगे क्योंकि बाहर से सभ्य दिखनेवाले लोग अंदर से एकदम असभ्य होगा। पाश्चात्य एवं भारतीय संस्कृति में रहनेवाले लोगों के पोशाक बिलकुल अलग रीति की होती है। अच्छे ढंगे से पोशाक पहनने पर भी वे तबीयत से नंगे है और यह नंगापन भारतीय संस्कृति के खिलाफ है। कपडे की कीमत नहीं बल्कि नंगेपन को ढकने के हिसाब से संस्कृति को आंका जा सकता है। हर सुसंस्कृत आदमी सभ्य भी नहीं होंगे क्योंकि हमारी दुनिया में इतने सारे लोग रहते हैं जिनके पास जीवन की आवश्यक

सुविधाएँ तक उपलब्ध नहीं किंतु वे दूसरों से मानवीयता बरतना ज़रूर जानते हैं। हज़ारी प्रसाद द्विवेदीजी भी मानते हैं कि मनुष्य की बाह्य आवश्यकताओं के पूर्तीकरण के साधन सभ्यता कहलाते हैं और आंतरिक आनंद के साधन संस्कृति होती है। पाश्चात्य विद्वान हंटिगटन एवं टॉयनबी के अनुसार विश्व में 21 सभ्यताएँ हैं। अब तो इसमें से छः सक्रिय है। जो आज उपस्थित है वे भी परस्पर टकराते रहते हैं। पहले यहाँ जो संघर्ष चल रहा था वह सामरिक(Strategic) अर्थात् कूटनीतिक संघर्ष था फिर उसने आर्थिक संघर्ष में अपना रूप बदल दिया। समकालीन दौर में सभ्यताओं के बीच संघर्ष चल रहा है। क्योंकि संस्कृति एवं सभ्यता भी दर्शन - धर्म - साहित्य कला के क्षेत्र से निकलकर कूटनीति के चगुल में फँस गया। सांस्कृतिक जीवन मूल्यों का संकट भी यहीं से शुरु हुआ।

3.2 वर्तमान भारतीय संस्कृति और जीवन - मूल्य

वर्तमान भारतीय संस्कृति भूमंडलीकरण, उत्तर आधुनिकता, उत्तर औपनिवेशीकरण से प्रभावित संस्कृति है। भारतीय संस्कृति की आधारभूत विशेषताओं जैसे निरंतरता, प्राचीनता, आध्यात्मिकता, धर्मपरायणता, देवपरायणता, सार्वभौमिकता, सहिष्णुता, सामंतवाद, ग्रहणशीलता, सर्वांगीणता, बहुदेववाद, एकेश्वरवाद, सर्वजनहिताय सर्वजन सुखाय आदि को अब बदली युग परिवेश में देखना ज़रूरी हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि भारतीय धर्म दर्शन, साहित्य जहाँ भारतीय संस्कृति की अमुक विशेषताएँ कूट-कूट कर भरी रहती थी अब पाश्चात्य उपयोगितावादी संस्कृति में आकर हमारी सांस्कृतिक पहचान और सांस्कृतिक अस्मिता का चेहरा भी बदल गया है।

समकालीन दौर बहुराष्ट्रीय पूँजीवादी शासन का दौर है। यहाँ हमारा जो कुछ था उसका स्थान अब हाशिये पर है और जो कुछ होना है यह तय करने का अधिकार औरों के हाथ में फँस गया है। यह बहु राष्ट्रीय पूँजीवाद का संबंध फ्रास में 70 के दशक में उपजी उत्तर आधुनिकता से है। यह पाश्चात्य दर्शनों पर आधारित है। जाने अनजाने पाश्चात्य दर्शन ने भारतीय जनता के शारीरिक एवं मानसिक स्तर को बहुत अधिक प्रभावित किया है। भारतीयता को पाश्चात्यीकरण ने निगल लिया है। अनेकता में एकता वाली भारतीय संस्कृति को भी उसने एकता में अनेकता ढूँढना सिखाया और संस्कृति में भारतीय आध्यात्मवाद का प्रभाव खत्म हो गया। अब कहीं भी एकता की बात नहीं उठती और सभी लोग खण्ड-खण्ड होकर अपनी अस्मिता ढूँढ रहे हैं। साहित्य भी विभिन्न विमर्शों का नाम देकर इस पाश्चत्य विचारधारा को प्रमाणित कर रहा है। पहले फूट डालो और राज करो कि नीति पाश्चात्यों ने प्रत्यक्ष रूप से भारतीयों पर थोप दिया था। अब बौद्धिक स्तर पर फूट डालो और राज करो की नीति को हथियार बनाया है। स्त्री अपनी अस्मिता खोजती है, आदिवासी अपनी, दलित अपनी, वृद्ध, बच्चे, सब अपनी-अपनी अस्मिता को ढूँढ रहा है और मनुष्य की अस्मिता यहीं पर खत्म हो गयी। मानवीयता भी मनुष्य के अंदर से बाहर की ओर निकल पड़ी। ये जो छोटे - छोटे वर्ग, जाति का भेद है वे दूसरों से इतनी घृणा करने लगे हैं कि वे कहते हैं अब तुम तुम्हारा काम देखो हमें अपने औकात पर छोडो, जो गैर है जो सिर्फ एक मनुष्य है उसे इन भेद-भावों की संस्कृति में टिकाव कैसे प्राप्त होगा। इसका प्रभाव साहित्य मात्र में नहीं बल्कि समाज, अर्थ, राजनीति संस्कृति सब पर पड़ रहा है।

भूमंडलीकरण एवं बाज़ारवाद का वर्तमान दौर भी मनुष्य एवं मानवीयता की संस्कृति को नकारते हुए केवल भौतिक सुख - सुविधाओं पर ध्यान देने लगा है। छोटे- बच्चों से लेकर बुजुर्गों तक इसकी गहरी पकड़ हम देख सकते हैं। भूमंडलीकरण उपयोगितावाद पर विशेष बल दे रहा है। विश्वभर को विशाल मंडी बनाकर एक दूसरे के साथ जोड़कर चीज़ों की बिक्री एवं लाभ यही भूमंडलीकरण का महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। अब सूचना प्रौद्योगिकी ने इस लक्ष्य को साकार करने का आसान रास्ता खोल दिया है। घर बैठे बाज़ार को अपने चौखट पर ले आने की सुविधा आज मनुष्य के सामने उपस्थित है। इन्टरनेट, स्मार्टफोन आदि के सहारे लोगों ने जीवन को विशाल परिवेश दे दिया है। साथ ही इस जनसंस्कृति अर्थात पॉपुलर कल्चर जिसका भी विकास पश्चिम ने किया है जिसकी आड़ में बिलकुल एक बनी बनायी ज़िदगी जी रहे हैं। उपयोगितावाद विज्ञापन की संस्कृति को जनता तक पहूँचाने के आसान तरीकों को ढूँढ निकालने की प्रवृत्ति में अग्रसर है। अब सब कुछ चीज़ों में तब्दील हो गया। यहाँ तक लोगों की संवेदनाओं का भी मूल्य बाज़ार तय करने लगा है। असल में यह संस्कृति हमारी संवेदनाओं को लूट रहा है। यह वहम पैदा कर देता है कि जो भी चीज़ें पूँजीवादी कंपनियाँ बना रही हैं वे सब हमारे लायक है इसके बिना हम जी नहीं सकेंगे। वे हमें समझाने लगे कि जीवन को सहजता की नहीं बल्कि आसान तरीकों की ज़रूरत है। कला, साहित्य, संस्कृति, प्रकृति, स्त्री, जडीबूटियाँ सब कुछ अब बाज़ार के लायक बन गया है। वर्तमान दौर Performance का है। यह लोकप्रियता की संस्कृति है। इसमें सबकुछ प्रदर्शन के लायक है। इस तरह के प्रदर्शन का हिमायती वे लोग होते हैं जिन्हें इससे आर्थिक लाभ है। वे ही इसे

लोकप्रिय कह रहे हैं और वे ही खुद तय करते हैं कि अब इसको ही लोकप्रिय होना चाहिए। पहले तो चुनाव करने का विकल्प मौजूद था अब विकल्पों की गुंजाइश नहीं क्योंकि मार्कट में जो भी है वे सब कहीं न कहीं आपके लिए उपयोगी है ही। अब आपसे बढ़कर आपके सेहत की चिंता उन लोगों को हो रही है जो ये सब चीज़ें बना रहे हैं।

अब का दौर विकास का है इस वास्तविकता से हम मुकर नहीं सकेंगे और यह भी वास्तविकता है कि हम अब इस उपयोगितावादी, लोकप्रिय संस्कृति से बिलकुल अलग जीवन नहीं जी पायेंगे। तो यह भी सच है कि इस अपसंस्कृति का हमपर जो असर पड़ रहा है इसकी मात्रा चाहे तो हमारी कोशिश के दौरान हम कम कर सकते हैं। क्योंकि जो भी वैज्ञानिक आविष्कार हमारे यहाँ हुआ है उसका सदुपयोग या दुरुपयोग करना है यह तय करना सिर्फ और सिर्फ मानव विवेक पर ही आधारित है। संस्कृति को और सांस्कृतिक जीवन मूल्यों को बचाने का एकमात्र तरीका भी यही है। चीज़ों को हम खरीदें। चीजें हमें खरीदने की नौबत न आये। भौतिक सुखसुविधाएँ प्राप्त करना मात्र ज़िंदगी है इस वहम को दूर करके अपनी नैतिकता को आगे बढाना है। हमारे कर्मों से दूसरों को किसी भी तरह की नुकसान न पहूँचे इस सोच के साथ जीना है। वर्तमान उपयोगितावाद एवं जनसंस्कृति ने सत्य, न्याय, अहिंसा, नैतिकता, मूल्य आदि के लिए सार्वभौमिक परिभाषा को छोड़कर अपनी मनोनुकूल परिभाषाएँ बना रही हैं जो सबसे खतरनाक सांस्कृतिक संकट है और हमें यह भी जानना ज़रूरी है कि भारतीय संस्कृति की जो विशेषताएँ ऊपर उल्लिखित हुआ है यह संपूर्ण मानव समाज को लक्ष्य करता है न कि एक व्यक्ति को क्योंकि एकाकी व्यक्ति को इन सब मूल्यों की कोई ज़रूरत नहीं।

हमारी संस्कृति को लेकर दिनकरजी का कहना है - "पश्चिम ने विज्ञान को पाकर जिस चीज़ को खो दिया, भारत अगर विज्ञान के साथ उस वस्तु को भी कायम रख सके, तो इससे कल्याण केवल भारत का ही नहीं, सारे संसार का हो सकता है।"[1] यहाँ दिनकर जी भी उन मूल्यों के बचाव की बात कर रहे हैं जो भारतीय लोगों के जीवन को मानवीयता के साथ जोड़ने में सहायक सिद्ध हुआ है। क्योंकि जीवन मूल्यों का विकास संस्कृति की उन विशेषताओं से हुआ है जिनसे व्यक्ति का मानसिक भाव, जीवन संबंधी विभिन्न विचारधाराएँ, व्यक्ति का वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन व्यवहार में मेल मिलाप संभव हो सका है। गत दो-तीन शताब्दियों से उदारीकरण एवं उपभोक्तवादी प्रवृत्ति के विकास एवं क्रांतियों से जीवन के सभी पक्षों में जो परिवर्तन हो रहा है विशेषकर सांस्कृतिक जीवन - मूल्यों के संदर्भ में इसका प्रभाव इन तीन शताब्दियों में अर्थात् 80 से लेकर 2010 तक प्रकाशित कविताओं में हम देख सकते हैं। अब जीवन की स्वाभाविक समरसता के स्थान पर सभ्यता एवं संस्कृति की प्रतिद्वन्द्विता, वैमनस्य, हिंसा, भय और आतंक का वातावरण मौजूद है। कहीं धर्म के नाम पर, कहीं जाति के नाम पर कहीं स्वतंत्रता के नाम पर, यह जो सांस्कृतिक अमानवीयता एवं अनैतिकता हमारे भारत को ग्रस लिया है इससे मुक्ति की कामना उदय प्रकाश, अनामिका, राजेन्द्रकुमार वर्मा, कैलाश वाजपेयी, सुनीता जैन जैसे समकालीन कवियों की कविताओं में हम देख पाएँगे।

3.3 धर्म और सांस्कृतिक जीवन - मूल्य

भारतीय संस्कृति में नकारात्मक एवं सकारात्मक परिवर्तन लाने में यहाँ

1. रामधारीसिंह दिनकर - संस्कृति के चार अध्याय - पृ - 633 - 634

के धार्मिक परिवेश ने भी महत्ती भूमिका निभायी है। भारत एक बहुधार्मिक क्षेत्र है। यहाँ विभिन्न धार्मिक विश्वासों, परंपराओं एवं रूढ़ियों केलिए उपजाऊ ज़मीन उपस्थित है। भारतीय संस्कृति की विशिष्टता भी यही है। वह विराटता को समेटने की कोशिश में लगी रहती है। यहाँ जितने भी धार्मिक विश्वास है उनमें कहीं भी एक दूसरे के प्रति विद्वेष एवं विरोध की अभिलाषा हम नहीं देख पाएँगे। एक ओर धार्मिक आचार ने मनुष्य को एक जीवन शैली प्रदान करने में सक्षम निकली वहीं दूसरी ओर कभी-कभी धर्म ने भी पाखंडों से अपने आपको मुक्ति दिलाने में हार गई। विश्वमानवीय एकता की संस्कृति प्रदान करनेवाले भारत के सभी धर्मों में विध्वंस की स्थिति मौजूद हुई। आधुनिक समाज एवं संस्कृति इसके साक्षी है। सभी धर्म अब बाह्य एवं आंतरिक तनाओं से जूझ रहा है। ईसा को क्रास पर ठोक देने की और उसकी अमरता की कहानी का उल्लेख बैबिल में मिलता है और इससे लोगों को यह सीख मिल जाता है कि सत्य कभी हारता नहीं अच्छाई का अंत कभी संभव नहीं। धर्म पर अधर्म का राज नहीं होगा। लेकिन आज भी ईसाई लोग ईसा की खूनी के तलाश में है और वे यहूदियों को एकदम घृणा भरी दृष्टि से देख रहे हैं। जिन लोगों ने बैबिल की सृजना की है उनका लक्ष्य अनैतिक एवं अराजक यहूदियों को सही रास्ता दिखाना था। उनके बीच फैले पाखडों को दूर करना था लेकिन अब ईसाइत के नाम पर भी नरहत्या हो रही है। कवि शिवकुमार श्रीवास्तव ने अपनी कविता 'गालों की धरती पर' में कहा है -

"ईसा के भाई ने-

मानव ने-

जालिम से खूनी से

फिर जवाब माँगा है।

कौन हैं वे?

किस किस ने ईसा को

शूली पर टाँगा?" [1]

ईसा की कहानी में सत्य की, ममता की, मनुष्यता की जीत है। अब मनुष्य स्वयं उस जीत को हरा रहे हैं। खून बहकाकर, सत्य को फिर से सूली पर लटकाकर।

ईश्वर एवं धार्मिक परंपराएँ इन सबका संस्कृति पर गहरा प्रभाव रहता है। जीवन को सही दिशा देने में मनुष्य को कर्तव्यपरायण एवं नैतिक बनाने में ईश्वर की, धर्म की संक्लपना ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। धर्म एवं संस्कृति का विकास भी मनुष्य ने ही किया है, उनकी ही सृष्टि है यह सब अपने और आनेवाली पीढ़ी को सही जीवन बोध देना इसका उद्धेश्य रहा था। लेकिन आजकल भारतीय समाज में सारी अनैतिकताएँ धर्म के या ईश्वरीय आस्था के आधार पर ही हो रही हैं। जिस मनुष्य ने ईश्वर को जन्म दिया, उसने ही यह स्थापित किया है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है सर्वगुण संपन्न है मानव राशि को उसी के पद का अनुकरण करनी चाहिए, उसी ईश्वर से आज यही प्रार्थना करना पड़ रहा है कि उदय प्रकाशजी का कहना है-

---

1. शिवकुमार श्रीवास्तव - तुम ऋचा हो - पृ - 39

"डरा हुआ खड़ा हूँ मैं ईश्वर के सामने करबद्ध प्रार्थना में भयभीत
जानता हुआ कि वह भी तो किसी समाज और इतिहास की ही रचना है
लज्जित होता हुआ कि मिटने में वह क्यों इतना समय ले रहा है।"[1]

मनुष्य के द्वारा निर्मित धर्म एवं ईश्वर की संकल्पना अब उल्टा मनुष्य केलिए ही हानिकारक बन गई है। अब चाहते हुए भी इससे वह मुक्त नहीं हो पा रहा है। आज मनुष्य को इसी के आधार पर समाज में हो रही बहुत सारी विडंबनाओं के साक्षी बनना पड़ रहा है। इसलिए अब मनुष्य ईश्वर से भी अपनी ज़िंदगी एवं जीवन की मुक्ति की कामना कर रहा है।

महानगरीय सभ्यता के आज के युग में धार्मिक संस्कृति भी एकदम मौजमस्ती में बदल गया। मंदिरों, मसजिदों एवं गिरिजाघरों को बनाते - बनाते अब ईश्वर को भी शोर-शराबे के बीच जीन पड़ रहा है। शांत एवं नीरवता में मौन एवं मन से प्रार्थना करनेवाला आज कोई भी नहीं और आजकल सबसे ज्यादा धार्मिक अनुष्ठान शहरों में ही हो रहा है क्योंकि वहाँ लोगों को कहीं न कहीं सबकुछ मनाने का बहाना चाहिए। चाहे वह ईश्वर के नाम पर हो यो कुछ और वजह से कवयित्री सुनीता जैन अपनी 'पडोस में' नामके कविता में कहती है -

"मैं एक नन्हा - सा छोटा - सा बच्चा हूँ
भजन जैसे भजन
गाए जा चुके हैं;
अब अंतिम चयन में

---

1. उदय प्रकाश - एक भाषा हुआ करती है - पृ - 80

तू चीज़ बडी है मस्त-मस्त
की धून पर बीच-बीच में
बस 'जगदंबे' के टेक
पकड़ आती है, शोर में
खो जाते हैं।" [1]

यहाँ कवि व्यंग्य के साथ कह रही है कि अब इस शोर शराबे में जगदंबे भी अपने आप जगी होगी वह भी ढूँढ रही होगी किसी निशांत नीरवता में बैठे भक्त को। लोगों ने धर्म को भी काम चलाऊ बना दिया है, सभी त्योहार जिन्हें संस्कृति के नाम पर मनाते हैं वे सब आज के लोगों केलिए मौज मस्ती करने का मौका प्रदान करने के माध्ययम बन गए हैं।

उत्तराधुनिक समाज की उपयोगितावाद ने सबको वस्तु के रूप में तब्दील कर दिया। यहाँ सबकुछ बिकाऊ है धर्म भी इससे च्युत नहीं, आज की वस्तुवादी संस्कृति ईश्वर के नाम पर मनुष्य की आस्थाओं का भी गलत फायदा उठा रही है। 'ईश्वर' नामक कविता में भक्ति को धंधा बनानेवालों की भर्त्सना हम देख सकते हैं-

"ईश्वर क्या है
एक दूकान
कितने धर्मों से
अपना सफल व्यवसाय करता है
ईश्वर का धंधा कभी घाटे में नहीं चलता।"[2]

1. सुनीता जैन - कहाँ मिलेगी कविता - पृ - 33
2. लीलाधर मंडलोई - लिखे में दुक्ख - पृ - 100

आज कहीं भी देखो विकसित, विकासशील एवं अविकसित तीनों देशों में धर्म के नाम पर इतनी सारी अनैतिक करतूतें हो रही है, जबकि धर्म मनुष्य को मनुष्य बने रहने का उपदेश देता है। पाखण्डी लोग नाम एवं पैसा कमाने केलिए मनुष्य के विश्वासों का भी गलत इस्तेमाल कर रहे हैं।

धर्म और संस्कृति में एक महत्त्वपूर्ण समस्या है धर्म के नाम पर प्रचलित पाखण्डों को आम जनता पर थोपना। वैज्ञानिक युग में जीकर भी मनुष्य ने विभिन्न जातियों के धार्मिक विश्वासों के बीच सीमाएँ निर्धारित की हैं। धर्म के नाम पर रूढ़िवादिता का पालन करने वालों से "मैं जिऊँगी" नामक कविता में रमणिका गुप्ताजी कहती है -

"भगवान से मुझे सरोकार नहीं
खुदा की मुझे दरकरार नहीं
चमत्कारिक शक्तियों में मेरा एतबार नहीं
इन पर न मुझे आस्था है न
विश्वास।" [1]

जाति में नीच रहने वालों को धर्म ने भी हाशिए पर खडा कर दिया है। धर्म के नाम पर पाखण्डों को बढ़ावा देने वालों ने धर्म को एकदम कट्ठर बना दिया है। इसपर प्रतिरोध का स्वर रमणिका गुप्ताजी की प्रस्तुत कविता में मुखरित है। जिस खुदा ने सबको बराबरी का दर्जा दिया है, सबको एक ही ब्रह्म का अंश कहा है उस पर आस्था रखने में कुछ लोगों केलिए पाबंदियाँ बन गयी तब तो लोग इस खुदा पर कैसे विश्वास रखेंगे। आजकल के पाखंडी धार्मिक

1. रमणिका गुप्ता - भीड़ सतर में चलने लगी है - पृ - 11

विश्वासों की खिल्ली उठाना चाहती है रमणिका जी अपनी 'मज़दूरायण' नामक कविता में, उनका कहना है -

"ऊपर से जोगी बनत हो
भीतर से भोगी हो
बगल में छुरी
मुह में राम-राम करत हो
चाहिए राज।" [1]

आजकल धर्म के नाम पर भी अराजक संस्कृति फैली हुई है। भक्ति मार्ग अपनाकर आम जनता को तकलीफ देने में लोगों ने कोई कसर नहीं छोड़ी है।

आजकल के वैज्ञानिक, संचार - क्रांति के युग में भी लोग अंध श्रद्धा एवं भक्ति के विकराल समुद्र में डूबते रहते हैं। नहीं तो जिस देश में इतने सारे बच्चे भूख से मर रहे हैं उसी देश के लोग गणेश प्रतिमाओं के दुग्धपान पर कैसे विश्वास रखेंगे। अंधआस्थाएँ जिनसे सांस्कृतिक मूल्यों की च्युति होती है इसपर कवि ज्ञानेद्रपति ने अपनी 'उस दिन' नामक कविता में कहा है -

"प्लेग के विषाणुओं की तरह अंधश्रद्धा के विषाणु भी
धरती की सतह से पोंछ दिये जाकर भी
पुनः पुनः जी उठते हैं
मरजीवा है वे, उन्हें मारना मुश्किल वैज्ञानिक विधियों से
तब तो और भी जब विज्ञान की पीठ पर ही सवारी गँठी हो उनकी
एक दुर्दृश्य जिसे देख, स्कूलों के ब्लैकबोडों के भी चेहरे पड़ गये स्याह
क्योंकि यह बात पक्की थी कि उस दिन टेलिफोन खड़के थे देश-भर में

---

1. रमणिका रुप्ता - भीड़ सतर में चलने लगी है - पृ - 36

इस नगर से उस नगरः

सुना आपने! गणेश पी रहे हैं दूध यहाँ चम्मच-चम्मच

आपके नगर में क्या हाल है?

कमाल है! अभी देखते हैं, अभी मिल जायेगा कच्चा दूध, आपका क्या ख्याल है?. ।"[1]

जिस देश की माएँ दूधमुहे बच्चे को अपनी सूखी छाती से दूध न दे पा रही है उन्हीं को ही इस अंध आस्था के चकाचौंध देखनी पड़ रही है। आस्था एक ऐसा तत्त्व है जिसका सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रभाव समाज पर पड़ सकता है। मूल्यों की रक्षा तभी साकार होगी जब आस्था का सकारात्मक प्रभाव समाज पर पड़ता है। वह जीवन को सही दिशा देने और प्रेरणा देने में सहायक सिद्ध हो। पाखण्डी अनुष्ठान पर अंध आस्था रखना सही नहीं होगा। उसे मूल्य नहीं माना जा सकता क्योंकि मूल्य अंधआस्था पर विश्वास रखकर जीने को नहीं बल्कि सत्य, न्याय, अहिंसा, धर्म आदि नैतिक तत्त्वों पर आस्था रखकर जीवन को श्रेष्ठता देना सिखाता है। इस तरह की अंध आस्थाएँ धर्म एवं संस्कृति को अराजक बना देती है। "काशी के तकवाहे" नामक कविता में ज्ञानेद्रपतिजी ने पितृतर्पण को एक कारोबार के रूप में अपनाकर लोगों के साथ छल कपट करने वालों का चित्रण किया है-

"वे चाटक हैं

चातक हैं स्वाति-बूँद के

यानी, महानुभाव! आपके निर्मल मन के

वे जो अमरित बूँद - से विमल बोल टपकाते हैं कानों में

आपको चाटेंगे

अपनी वाचाल जिह्वा से

1. ज्ञानेन्द्रपति - कवि ने कहा - पृ - 74

आपादमस्तक

आपका बायोडाटा लेने के बाद
आपका गोत्र तक पूछेंगे
आप गात्र के अलावा और कुछ लिये नहीं फिरते
यह आप कहें भी तो वे न पतियाएँगे
बतियाएँगे और बतियाएँगे।" [1]

यही वे लोग हैं जिनकी वजह से अब ईश्वर के नाम पर बडा धंधा चल रहा है। विश्वास को पाखण्डों में बदलकर दूसरों की संपत्ति हडपने का नया कारोबार। मानवीय संवेदनाओं के बदलते स्वरूप का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है।

धर्म के नाम पर फैल रही रूढ़िवादी संस्कृति पर 'हिंदू' नामक कविता में पवन करणजी कहते हैं - यहाँ करोडों देवीदेवताओं के रहते हुए भी, न ही समाज को और न ही व्यक्ति को सही मार्ग पर चलने का मार्गदर्शन मिल रहा है। धर्म पर भी अब एकस्व (Patent) हो गया है देवताओं पर मनुष्य का अधिकार खूब जम गया है। जाति, धर्म के नाम पर मानव के साथ अमानवीयता बरतना कहाँ का धर्म है। सनातनता के नाम पर धार्मिक शोषण सहना एक मृत संस्कृति का काम होता है। अब हम ने भी अपनी संस्कृति की जान ले ली है। कवि का कहना है -

" हिंदू होने की वजह से मुझे अपनी
देवी - देवताओं, मनु - मुनियों द्वारा निर्मित
अपरिवर्तनीय अविचल और अडिंग
उस सामाजिक व्यवस्था पर भी

1. ज्ञानेन्द्रपति - गंगातट - पृ - 11

गर्व होना चाहिए जिसमें सबके लिए अलग - अलग कोने हैं
और बिछने केलिए अलग-अलग बोरियाँ
आखिर शेर और सुअर कैसे एक हो सकते हैं
और एक हो गए तो पहचान, सम्मान, अपमान
इन सारे महत्त्वपूर्ण शब्दों का क्या होगा?
जहाँ तक सुधार की बात है तो गर्वीले हिंदू
सुधरने की जगह सहन करने में ज़्यादा यकीन रखते हैं
आखिर यह कोई आज की बात तो है नहीं
यह सब तो हमारी प्राचीन गर्वीली सनातन व्यवस्था है
जिसमें कोई शेर है, कोई सुअर है।"[1]

धर्म के नाम पर ऊँच नीचत्व की भावना रखनेवाली रूढ़िवादिता पर कवि यहाँ प्रतिशोध जता रहे हैं। धर्म को सनातन संस्कृति मानना गलत नहीं लेकिन मानव द्वारा निर्मित भेदभावों को धर्म की आड़ में रखकर मनुष्य, मनुष्य के बीच भिन्नता पैदा करना सबसे बडी सांस्कृतिक मूल्य च्युति है। जिसकी आज हम साक्षी है। समकालीन कवि धर्म के नाम पर प्रचलित अंध आस्थाओं को तोडना चाहते हैं। जिनके द्वारा आज के स्वार्थी मानव सांस्कृतिक जीवन मूल्यों का नाम देकर लोगों की आँखों में धूल फेंक रहा है। धर्म के नाम पर ईश्वर के नाम पर लड़ने वाले लोगों से कवि प्रभात त्रिवाठीजी कहते हैं -

"ईश्वर निर्मित पत्थर के नीचे
पत्थर निर्मित ईश्वर के नीचे
सदियों से दबा एक आदमी
लिखता है अपने पुण्य, अपने पाप

---

1. पवन करण - अस्पताल के बाहर टेलिफ़ोन - पृ - 93

इसका जो चाहे वो मतलब

आप खुद निकालें माई बाप!" [1]

कवि इस कविता में यही बताना चाहता है कि धर्म के नाम पर फैल गए अंधविश्वासों को मानने और न मानने का विकल्प मनुष्य खुद चुन सकता है। मनुष्य ने ही ईश्वर के नाम पर इन सभी विश्वासों को फैलने दिया है। मनुष्य की सबसे बडी ज़रूरत है पेट भर अन्न। इस अन्न की प्राप्ति केलिए सिर पर पत्थर रखकर जानेवाले आदमी को देखकर हम ऐसा मतलब नहीं निकालेंगे कि वह आदमी ईश्वर को बेचने जा रहा है। वह घोर पाप कर रहा है, क्योंकि वह भी जानते हैं और हम भी जानते हैं ये पत्थर की जो मूरत है वह मूरत उस आदमी द्वारा बनाया गया है। उसे बेचकर वह अपनी आजीविका चलाता है। इसको धर्म का परिवेश देना और इसके आधार पर पाप पुण्य का विवेचन करना हमारी सबसे बडी सांस्कृतिक मूल्य च्युति है। क्योंकि इस पाप-पुण्य के अंधविश्वासों की दबाव में पड़कर लोगों का दम घुट रहा है। अतः धर्म संबंधी झूठे जीवन मूल्यों पर प्रहार प्रस्तुत पंक्तियों में दृष्टव्य है।

धर्म संस्कृति का आधार है, वाहक है। उसके ज़रिए मनुष्य नैतिकता एवं अनैतिकता में भेद करता है, और ईश्वरीय न्याय से डरकर किसी के साथ कुछ गलत व्यवहार रखने में हिचकता है। अब खुद धर्म ही गलती का सहारा बन गया। इसका बुरा असर सांस्कृतिक जीवन - मूल्यों पर भी हम देख सकते हैं। धर्म का मनुष्य के ऊपर या मनुष्य का धर्म के ऊपर स्वेच्छाधिकार नहीं बल्कि एकता का भाव होना चाहिए; धर्म से कर्म की भावना उभरकर आनी चाहिए।

---

1. प्रभात त्रिपाठी - आवाज़ - पृ - 9

तभी धर्म जीवन मूल्यों का संरक्षण कर पाएगा।

3.4 कला, साहित्य एवं भाषा

कला और साहित्य संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। भारतीय संस्कृति का विकास एवं उसकी नींव हमारी कला एवं हमारे साहित्य में सुरक्षित है। लेकिन आधुनिक समाज ने कला एवं साहित्य को मात्र मनोरंजन की सुविधाएँ मान रखा है। कविता की औकात भी अब मनोरंजन के स्तर तक सीमित हो चुकी है। लाभ केंद्रित समाज में सबकुछ बाज़ारू बन गया है। संस्कृति में आये प्रस्तुत परिवर्तन के दौरान कला एवं साहित्य में भी संकट की स्थिति मौजूद हुई। कला एवं साहित्य भी अब बिकाऊ बन गया है। इस बदलाव पर कवि विजेन्द्रजी ने अपनी कविता 'गोष्ठी प्रसंग' में बताया है -

" आखिर तो .....
हर मनोरंजन की चीज़ दावतों, चुनावों और शादियों के मौकों पर ही
काम आती है
आखिर वक्त काटने को कुछ तो हो
आज कविता में जख्मी बनाने वाले तेज़ ठूँठ के सिवा रह भी क्या गया है।" [1]

साहित्य एवं कला का महत्त्व आनंद प्रदान करना है तो भी इससे परे होकर उसने विश्वमानवीय कल्याण को लक्ष्य बनाकर जनम लिया है। लेकिन आज लोग हर कहीं सिर्फ और सिर्फ मनोरंजन ही ढूँढ रहे हैं । साहित्य की भी एक संस्कृति होती है। वह मनुष्य को सोचने केलिए बाध्य करता है। लेकिन आज का ज़माना नकारात्मकता की संस्कृति में जी रहे हैं। वहाँ किसी की भी कोई

1. विजेन्द्र - ये आकृतियाँ तुम्हारी - पृ - 32-33

अहमियत नहीं यहाँ तक मनुष्य का भी। साहित्यिक बहसें करना आज असाहित्यिकों का काम बन गया। कोई भी आज कलाकर या साहित्यकार बन सकता है। आज कहीं भी कुछ भी मौलिक नहीं रह गया है। अब साहित्य की कामना से परे समाज आनंद प्राप्ति का साधन ही ढूँढ रहे हैं। सच में जिनका व्यक्तित्व कलात्मकता से परिपूर्ण है उनकी स्वीकृति नहीं होती, जो कलात्मकता से च्युत है उन्हें कला के नाम सभी उपलब्धियाँ हासिल हो जाती हैं। हमारी आज की संस्कृति दृश्य माध्यमों एवं सूचना प्रौद्योगिकी के चक्कर में घूम रही है।

सांस्कृति जीवन मूल्यों में साहित्य एवं कला की श्रेष्ठता इसलिए माननीय बन गई है कि जब हमारे राज्य की व्यवस्था में उजडाव आता है तो उसे ठीक करने का दायित्व सबसे पहले साहित्य के ऊपर पड़ता है। इसलिए जब समाज में अराजकता फैलती है, अपसंस्कृति फैलती है तब साहित्य सत्य के दावेदार बनकर उभर आता है। संस्कृति को, मानव जीवन को बचाने केलिए वह अपना कदम उठाता है। जीवन के किसी भी पक्ष ऐसा नहीं जिसका संबंध साहित्य से नहीं है। इसलिए ही अन्याय करनेवाले सच्चे साहित्य से डरते हैं। कवि विजेंद्र अपनी 'लालफीताशाही के खिलाफ भी बोलो, बोलो' नामक कविता में कहते हैं -

"सत्ताधारी को रचना से कोई उन्सीयन नहीं होती।
वह उस आँच से डरता है
वह अस्त्र से डरता है।"[1]

साहित्य एवं कला वह सांस्कृतिक धरोहर है जिसके होते संस्कृति अनैतिकताओं से बच जाती है। वह अनैतिकताओं के आगे अस्त्र बन जाता है। इसलिए ही

1. विजेन्द्र - ये आकृतियाँ तुम्हारी - पृ - 69

आजकल व्यवस्था ने उसपर भी कब्जा कर रखा है। ताकि वह वही लिखे जो सत्ताधारी, षडयंत्रकारी चाहता है। आज की संस्कृति में कला एवं साहित्य भी बिकाऊ बन गया है।

नवऔपनिवेशिकता की उत्तराधुनिक समाज में कला एवं साहित्य का मूल्य भी घट चुका है। आज कला एवं साहित्य भी चीज़ों में बदल गई। साहित्यकता के पुट को ढूँढने के बजाय आजकल कला एवं साहित्य भी बाजारीकरण को ध्यान में रखकर दाम बढाने की कला के हिमायती हो चुका है। साहित्य का दायित्व बनता है कि वह मानव जीवन को सही दिशा प्रदान कर सके। कवि उदय प्रकाशजी ने अपनी कविता 'मक्खियों की आत्माएँ' में साहित्य एवं कला की दुरवस्था को दर्शाया है और हमारी मिटती रही सांस्कृतिक अस्मिता की ओर भी ध्यान दिया है -

"मरता है उधर कवि कोई एक
संस्कृति के अंधकार में सूचनाओं से बाहर
उपनगर के किसी विस्मृत कोने में
न बिकने की बेहद अपनी ज़िद में बीमार।" [1]

यह सच्चे साहित्य एवं कला की वास्तविक परिणति है। साहित्य का मूल्य उसके बिकाऊपन पर आधारित नहीं हो सकता। अगर ऐसा हो गया है तो समझना चाहिए साहित्यकार एवं उस समाज ने अपसंस्कृति की ओर बढना शुरू कर दिया है। आजकल लिखे जा रहे साहित्य के बारे में उदयप्रकाशजी ने अपनी कविता 'एक जल्दबाज़ बुरी कविता में आँकडे' में कहा है-

---

1. उदय प्रकाश - एक भाषा हुआ करती है - पृ - 22

"और जो आजकल का साहित्य है -
जिसमें लोलुप बूढ़ों और उनके वफादार
चेलों - चपाटियों की संस्थानिक चहल-पहल है
वह भी अन्यायी सत्ता और अनैतिक पूँजी का देशी भाषा में किया गया
एक महाउबाऊ करतब है
यह भ्रष्ट राजनीति का ही परम भ्रष्ट सांस्कृतिक विस्तार है।" [1]

साहित्य को भ्रष्ट सामाजिक व्यवस्था को सही दिशा प्रदान करनी चाहिए लेकिन आजकल साहित्य भी भ्रष्ट संस्कृति को बढावा दे रहा है। आजकल का साहित्य असत्य में भी सत्य को ढूँढ निकलाता है, अनैतिकता में भी नैतिकता को ढूँढता है। इसलिए सत्य एवं नैतिकता के वास्तविक प्रतिमान भी अब मिट चुका है।

कला एवं साहित्य का सीधा संबंध संस्कृति से है कला एवं साहित्य संस्कृति को समर्थन देता है। यह तभी संभव हो जाता है जब कला एवं साहित्य आत्मप्रेरित एवं स्वानुभूति से प्रेरित होता है। आजकल साहित्य में आत्मप्रेरणा एवं स्वानुभूति का तत्त्व दिखाई नहीं दे रहा है। आज साहित्य एवं कला भी लाभकेंद्रित हो गया है। उसमें पक्षधरता एवं लोगों के दिमाग को भटकाने वाले तत्त्व ही ज़्यादत्नर नज़र आता है। इस अपसंस्कृति के फैलाव को रोकना बहुत ज़रूरी है कवि राजेन्द्र कुमार वर्माजी कहते हैं -

"एक ही जाति के
कवि लेखक पत्रकार
कलाजीवी बुद्धिजीवी
युगचेता नेता के पीछे

---

1. उदय प्रकाश - एक भाषा हुआ करती है - पृ - 32

भेडों की तरह

दिशाबद्ध होकर धँस गये

कला के प्रेरक

बुद्धि के पोषक

पूँजीपति के साहित्य रचना के कारखाने में।"[1]

सांस्कृतिक अपचय का इससे खतरनाक रूप और कहीं भी हम नहीं ढूँढ सकते। जिस पर संस्कृति के संरक्षण का दायित्व सौंपा गया है उन्होंने ही संस्कृति की इस तरह बदतर स्थिति बनायी है। कला एवं संस्कृति को पूँजी के साथ जोडना अपसंस्कृति को पैदा करना होता है।

जिस प्रकार संस्कृति को बचाने का दायित्व साहित्य एवं कला पर सौंपा गया है उसी प्रकार मानवीयता को बचाना भी साहित्य एवं कला का दायित्व बनता है। इससे संस्कृति को महानता एवं निरंतरता प्राप्त होती है। लेकिन आजकल साहित्यकार ने भी अपना दायित्व इस हद तक सीमित किया है कि वह सभी अन्यायों का विद्रोह तो करता रहता है। अपने साहित्य के माध्यम से कभी कभी उन्हें भी ज़िंदगी की भागदौड़ में उन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, लेकिन वह जितना आदर्शवादी चिंताओं में हैं उतना व्यावहारिक जीवन में नहीं होता इस यथार्थ को इस सांस्कृतिक अपचय को दर्शनेवाली कविता है 'हाथ' नामक कविता इसमें रामदरश मिश्र जी का कहना है -

"इस हाथ से मैंने

आगजनी पर कविता लिखी

---

1. राजेन्द्र कुमार वर्मा - सूर्य बनकर उगना है - पृ - 27

दंगे पर कहानी
आरक्षण पर लेख लिखा
अयोध्या प्रसंग पर टिप्पणी
आतंकवाद के विरुद्ध हस्ताक्षर अभियान चलाया
और कनॉट प्लेस में मानव श्रृंखला बनाई
सम्प्रदायवाद के विरोध में?
लेकिन तुम कहाँ छिपे रहे भगोड़े
इस जलते समय में
वह चुप रहा
और शायद मेरी चिकनी हथेलियाँ देखता रहा
फिर धीरे-धीरे अपने दोनों हाथ फैला दिए
वे झुलसे हुए थे।
मैंने एक जलते हुए मकान में से
एक बच्चे को बचाया था
फिर अस्पताल में पड़ा रहा।"[1]

ऊपर उल्लिखित पंक्तियों से कवि यही कहना चाहते हैं कि साहित्य का मूल्य तभी सार्थक बन जाता है जब वह अपनी काल्पनिकता के वायवी जगत से नीचे आकर सामान्य जन जीवन से जुडता है और उसमें मानवीयता को बचाने का तत्त्व होता है। कहने का तात्पर्य यही है कि सांस्कृतिक जीवन - मूल्यों का बचाव मानवीयता के गुणों से ओतप्रोत साहित्य से ही संभव होगा।

साहित्य का सर्वोत्तम लक्ष्य मानव कल्याण है। मनुष्य का हित साधन है। इसलिए कोई साहित्य जीवन - मूल्यों से वंचित नहीं हो सकता। साहित्य में जीवन

1. रामदरश मिश्र - बारिश में भीगते बच्चे - पृ - 35

मूल्य संस्कृति के माध्यम से ही पहूँचता है। संस्कृति की पहचान ही साहित्य करवाता है। मानव जीवन केलिए साहित्य में आनंद प्राप्ति के परे उसकी श्रेष्ठता की कामना रखने वाले तत्त्वों का होना वहुत ही अनिवार्य है। कवि विजय कुमारजी की 'लिखना' नामक कविता इस तत्त्व को उजागर करनेवाली है -

"दुनिया के तमाम तमाम कवि
रोज़ असंख्य कविताएं लिख रहे हैं
कैंसर के किसी मरीज का दुख
कम नहीं होता इन्हें पढकर
बंदूक से निकली गोली वापस नहीं लौटेगी
न्यायाधीशों की आँखों में
एक कतरा आँसू नहीं उमड़ता
और
भूख से बिलबिलाते बच्चे को नहीं मिलती राहत।" [1]

आजकल की अनैतिक संस्कृति के आगे साहित्य भी झुक गया है। इस अपसंस्कृति पर वह भी कुछ असर नहीं डाल सकता है। हिंसा को, अमानवीयता को, हटाने में ये कविताएँ काम नहीं आ रही है इसका प्रमुख कारण यह है कि साहित्य भी मूल्य हीन बन गया है। वह निस्सहाय आदमी को राहत देने के बजाय मौजूद व्यवस्था की अमानवीयता एवं अनैतिकता को बढावा दे रहा है।

तत्कालीन सांस्कृतिक अपचय ने मूल्यों को बिलकुल एक अवाँछनीय तत्त्व स्वीकार किया है। यहाँ सारी अनैतिकताएँ मंजूर है। ऐसी स्थिति में साहित्य की

1.विजय कुमार - रात पाली - पृ - 11 -12

शोभा भी फीका पड़ गयी 'गोरखधंधा' नामक कविता में कवि कैलाश वाजपेयीजी कहते हैं -

"किसी को भविष्य बताने वाले बैल की तलाश है
पौराणिक तोते की तरह
किसी को जान
कुर्सी या प्रेयसि के पास है।
कोई जनाब जीत लेने के चक्कर में
कस्बे को जोड रहा है हवाई अड्डे से
कोई
आदर्श ही आदर्श
थूक रहा है
पड़ा पड़ा परंपरा के गड्ढे से!
कोई
विदूषकता केलिए
अभिनंदित है
कोई सिर्फ इसलिए महान है कि
निंदित है।
.....
जहाँ सब तरफ इतनी बकवास है
वहाँ कविता ही कहाँ का सरग - वास है।" [1]

साहित्य को समाज का दर्पण कहता है। साहित्य में समाज के सभी व्यवहारों का, मानव जीवन के सभी पक्षों का रूप समाहित है। साहित्य मानव

1. कैलाश वाजपेयी - देहांत से हटकर - पृ - 43

केलिए उत्तम जीवन जीने का सहारा भी है। लेकिन अब लोगों की श्रद्धा केवल बकवासों की तरफ़ हो गई है तो कविता अर्थात् साहित्य का मूल्य में भी घटाव आ गया है। कला एवं साहित्य में यह स्थिति उपस्थित होने का प्रमुख कारण सांस्कृतिक जीवन - मूल्यों का ह्रास है।

संस्कृति में भाषा की भूमिका भी अहम मानी जाती है। आज हमारी निजी सांस्कृतिक स्रोतों पर भी पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव पड़ा है। अब छोटे बच्चों से लेकर बडों तक का समाज अपनी देशी भाषा को भूलकर अंग्रेजी को रटने लगे हैं। वे अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों को सभ्य समाज का प्रतिमान मान लेते हैं। यहाँ कवयित्री अनामिकाजी की 'अंग्रेजी यों भेजती है बमवर्षक विमान' नामक कविता ने संस्कृति में आए इस अड़चन को यों अभिव्यक्ति दी है।

"हर देशी भाषा के लेखक के बच्चे
पूछते हैं अपने पिताओं से -
पापा, अँगरेज़ी में आप क्यों नहीं लिखते?
सरकारी स्कूलों में / आपको पढाया था जो
दादाजी प्यार नहीं करते थे क्या आपको?
एक बडा बम फूटती है यहीं आकर
अँगरेज़ी यों भेजती हैं बमवर्षक विमान।"[1]

हर संस्कृति को अपनी पहचान भाषा, कला एवं साहित्य से प्राप्त होती है। अगर हम उस भाषिक अस्मिता को भी तहस नहस करने को तुले हैं तो सांस्कृतिक जीवन - मूल्यों का संरक्षण कैसे कर पायेंगे।

---

1. अनामिका - खुरदुरी हथेलियाँ - पृ - 115

आजकल कला एवं साहित्य का यों मनोरंजन की सीमा में सिमटना सांस्कृतिक जीवन मूल्यों के संदर्भ में उल्लेखनीय एक समस्या है। सामाजिक विद्रूपताओं को पहचानने में और उनके हल ढूँढने में सबसे पहले साहित्य ही आगे निकलता है। साहित्य का काम भी यही है। सामाजिक सांस्कृतिक जीवन मूल्यों के बचाव की माँग को पूरा करना कला एवं साहित्यिक रचनाओं का दायित्व है।

3.5 संस्कृति एवं रूढ़िवादी परंपराएँ

संस्कृति वास्तव में मानव जीवन को संस्करित करने वाला तत्त्व है। मानव जीवन में सकारात्मक परिवर्तन लाने का काम संस्कृति करती है। वह प्रवहमान है, गतिमान है जब उसकी गति में रुकावट आती है तब वह रूढ़िवादी परंपरा में तब्दील हो जाती है। ऐसी रूढ़िवादी परंपरा के हिमायती है भारतीय समाज इस इक्कीसवीं सदी में भी, क्योंकि आज भी यहाँ जाति के नाम पर छुआछूत और स्त्रीयों पर कठोर नियंत्रण की कुप्रथाएँ चलती हैं। कानून के ज़रिए इनपर नियंत्रण तो लगातार होता रहता है, फिर भी मानव मन एवं मस्तिष्क इन सबके प्रति जो रवैया अपनाता है वह आज भी तिरस्कार के योग्य है। आज के ज़माने में भी लोग लड़की को नहीं अपनाते हैं वे अपने घर में लड़का पैदा होने की इच्छा रखते हैं। इसके लिए वे कई वजहें बनाते हैं जैसे लड़की बोझ है, दहेज की समस्या आदि यही नहीं कुछ लोगों का मानना है कि घर में लड़की का पैदा होना अशुभ है। 'एक नवजात बच्ची को प्यार' नामक कविता में कवि अरुण कमलजी का कहना है -

"ओ नन्ही सी बच्ची
क्या हुआ जो तुम्हें किसी ने चूमा तक नहीं

तुम्हारी माँ मुँह फेर रोती रही रात भर

और तुम्हारा पिता लौट गया बाहर ही बाहर

क्या हुआ जो तुम्हारी दादी ने बधावे नहीं दिये

और उनका यह आँगन पँवरियों की ढोलकों से

आबाद नहीं हुआ

तुम रोती रही, रोती रही

और किसी ने चूमा तक नहीं।"[1]

इतनी सारी देवी - देवताओं को पूजने वाली भारतीय संस्कृति में लड़कियों का जनम अशुभदायक मान लेते हैं। इस रूढ़िवादिता में अब तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

भारतीय संस्कृति की सबसे बडी कमी है आज के वैज्ञानिक युग में भी हम स्त्रीयों को लेकर पुरानी जजर्रित रूढ़िवादी व्यवस्थाओं पर अडिग रहते हैं। संस्कृति कभी भी नहीं कहती कि नारी को आगे नहीं आनी चाहिए। लेकिन भारतीय पुरुषवर्चस्वावादी समाज ने संस्कृति के नाम पर इतनी अमानवीय विधियाँ बनायी हैं कि नारी को घर से अकेली नहीं निकलती चाहिए रात में कदापि नहीं, साँच होने से पहले घर लौट आनी है, पति के सामने चुप रहनी है, रूढना और चिल्लाना स्त्री के संदर्भ में कुसूर माना जाता है। पति के परदेस जाने पर उसे श्रृंगारहाट से बचके रहनी है। पराये मर्द से दूर रहनी है, पैसों का हिसाब नहीं देखनी चाहिए। कभी भी अकेले रहने के बारे में नहीं सोचनी चाहिए, केशों को छुपाना मूँह को ढँके रखना, देह और मन के बारे में नहीं सोचना चाहे कुछ भी हो जाए घर के देहरी के आसपास कभी भी नहीं आना। इस प्रकार निश्चित किया

1. अरुण कमल - अपनी केवल धार - पृ - 48

गया है गुणवंती नारी की विशेषताएँ। इन सभी विधियों को संस्कृति का परिवेश देकर वास्तव में पूरे नारी समाज के पैरों में बेडियाँ डालना चाह रहा है आज का समाज। इसपर 'स्त्री सुबोधिनि' कविता में परमानंदजी ने लिखा है -

"जबकि सूर्य कलंकित है
चन्द्रमा कलंकित
गंगा कलंकित
हिमालय कलंकित
बस तुम रहना
अक्षत
अकलंक।" [1]

स्त्रीयों को देखकर श्लीलता - अश्लीलता, कलंक - अकलंक आदि बातें करने वाले पुरुषमेधा समाज को यह भी सोचना चाहिए कि स्त्री अपने आपको खुद कलंकित नहीं करती, समाज ही उसे कलंकित करते हैं। इससे मुक्ति स्त्रीयों पर कठोर विधियाँ चलाने से नहीं बल्कि उनपर सही रवैया अपनानेवाले समाज की सृष्टि से ही संभव हो जाएगी। स्त्रीयों को आदर एवं सम्मान के साथ जीने का मौका मिलनी चाहिए। इसके लिए स्त्रीयों पर बुरी नज़र रखने वालों को सुधारना है। संस्कृति का बचाव मानव जातियों में से एक जाति की संपूर्ण क्षमताओं को दबाकर रखने से नहीं बल्कि उसे भी साथ ले जाने से ही संभव हो पाएगा। संस्कृति का मतलब रूढिवादी परंपराएँ बनाकर किसी का शोषण करना, अनैतिकता को प्रोत्साहन देना नहीं बल्कि सबको नैतिकता के तत्त्वों से ओतप्रेत करना होता है।

भारतीय संस्कृति में बहुत सारी रीति रिवाज़ें हैं। इनमें कुछ तो ऐसा है जो

1. परमानंद श्रीवास्तव - चौथा शब्द - पृ - 134

मनुष्य को नैतिकता एवं धार्मिक मूल्यों से अभिहित करनेवाले हैं। कुछ तो ऐसा है जो बिलकुल रूढ़िवादी परंपरा के समान है और उसका आचरण तो हम व्यर्थकर्मों के समान कर रहे हैं। 'औरतें' नामक कविता में उदय प्रकाशजी ने ऐसी औरतों के बारे में कहा कि वह एक ऐसी औरत है जो सुहागन बने रहने केलिए करवा चौथ का निर्जला व्रत रखी है, लेकिन उसे यह डर भी सताती है कि उसकी मृत्यु हो जाएगी या तो पति के हाथ से या फिर सास के हाथों से कवि ने इसको यों व्यक्त किया है -

"वह औरत जो सुहागन बने रहने केलिए रखे
हुए है करवा चौथ का निर्जल व्रत
वह पति या सास के हाथों मार दिये
जाने से डरी हुई सोती - सोती अचानक चिल्लाती है।" [1]

यहाँ कवि ने जिस औरत का ज़िक्र किया है, वह औरत अपने ऊपर होनेवाले अत्याचार को सहती हुई संस्कृति के नाम एक रूढि का अनुकरण कर रही है। संस्कृति में जो आचार-विचार विकसित हुए है उसका लक्ष्य मानव समुदाय की भलाई एवं सहजीवन है। किसी के दबाव में आकर जब हम सांस्कृतिक अनुष्ठानों को पूरा करते हैं तो वह मनुष्य को शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार के सुख प्रदान करने में असमर्थ बन जाता है। कर्वाचौथ का व्रत पत्नी को उस पति केलिए रखना चाहिए जो उसका साथ देता है, जो उसे अपने जीवन का अविभाज्य हिस्सा मानता है। जो पति पत्नी को जीवन से अलग करने की कामना है उसके लिए करवाचौथ का व्रत रखना सांस्कृति अनुष्ठानों का मज़ाक

1. उदय प्रकाश - रात में हारमोनियम - पृ - 31

उठाना होता है और उसे रूढ़िवादी परंपरा का परिवेश देना होता है।

भारतीय संस्कृति प्रारंभिक काल से लेकर स्त्री को देवी मानकर पूजती रही है। ऐसे पूजनेवाले भी घर की बेटी, पत्नी, बहु, माँ, बहिन के इज्जत लूटने में लगे रहते हैं। पहले जिन लोगों ने स्त्री को ऐश्वर्य प्रदायिनी का दर्जा दिया है अब उनके ही अनुयायी स्त्री को समाज केलिए बोझ, बदनामी एवं शाप मानने लगे हैं। सदा उसे रूढ़िवादी परंपरा में रखना चाहते हैं और कहते हैं यही हमारी संस्कृति है। स्त्रीयों को चार दीवारी में कैद करके रखने का पाठ भारतीय संस्कृति ने नहीं दिया है। संस्कृति के नामपर स्त्री को कट्टर रूढिवादिता में रखनेवाले समाज का चित्रण वीराजी की 'क्या होगा' नामक कविता में हम देख सकते हैं -

"न मानना चाहूँ
तुम्हारी चारदीवारी के अंतर
के नियम
तो क्या होगा?
तू हमें जीते जी मार देगी
नर्क में भी ठौर नहीं मिलेगी हमें।"[1]

प्रस्तुत कविता में एक माँ और बेटी के बीच का संवाद है। बेटी माँ से सवाल करती रहती है और माँ उसे यही उत्तर देती रहती है कि अगर बेटी उसके हिसाब से न जिएँगी तो उनकी क्या हालत हो जाएगी मगर बेटी तो सिर्फ इतना ही जानना चाहती है कि वह अपने हिसाब से जिएँगी तो बाकी पर नहीं बल्कि उसपर इसका क्या असर पडेगा। हमारी संस्कृति की सबसे बडी कमी भी यह है हम आज भी लड़की को अपनी स्वतंत्र जीवन जीने नहीं देती और हमें बस

1. वीरा - उतना ही हरा भरा - पृ - 26

लड़की के ऐसे करने से उनके हर एक फैसले का बाकी लोगों पर क्या असर पडेगा यह सोच सताता है।

कवि की और एक कविता है - 'मेरी गली की औरतें' इसमें भी उन्हेंने रूढ़िवादी परंपरा की झूठी एवं गलत तरीके को अपनाकर जीवन बिताने वाली स्त्रियों का चित्रण किया है। वीराजी का कहना है -

"औरतें / मेरी गली की
मेरी गली के साथ
बेमकसद अपनी
उम्र की मंज़िलें
पार कर रही है।" [1]

भारतीय संस्कृति स्त्री को घर संभालनेवाली ही मानती है। उसके अस्तित्व को केवल घर की चार दीवारी में बंद रखना चाहते हैं। हमारे यहाँ बहुत ही ऐसी औरतें हैं जिनमें इतनी सारी काबीलियत है कि पुरुष के द्वारा हासिल होनेवाले सभी मंजिलों को वे भी पार कर सकती है और देश की प्रगति में सक्रिय भागीदारी भी वे दे सकती हैं। लेकिन वे कुछ करती नहीं बेमकसद अपनी ज़िंदगी को गुज़र रही है।

आज हम इक्कीसवीं सदी में जी रहे हैं। फिर भी संस्कृति के नाम पर रूढ़िवादी परंपरा को आगे बढाने की प्रवृत्ति आज भी हमारे समाज में मौजूद है। सदाचार के नाम पर लड़की - लड़कों में फर्क करना आज भी हो रहा है। लड़के - लड़की को साथ में देखने पर उनपर अनैतिक संबंध का आरोप लग जाते हैं।

---

1. वीरा - उतना ही हरा भरा - पृ - 92

संस्कृति की इस रूढ़िवादिता पर 'हाल-चाल' नामक कविता में बोधीसत्व ने कहा है

" कैसा समाज है, कैसा समय है
जहाँ मुहल्ले की लड़कियों का
हाल जानता गुनाह है। व्यभिचार है
पर क्या ममता के हाल चाल की
मुझे सचमुच दरकार है? "[1]

साथ - साथ पढनेवाले लड़के - लड़की को देखकर, पडोसी लड़के - लड़की को देखकर गलत मतलब निकालने की अपसंस्कृति इक्कीसवीं सदी में भी हम देख सकते हैं। यहाँ पर कवि ममता की हाल - चाल जानना चाहते हुए भी वह किसी से पूछता नहीं क्योंकि वह समाज की रूढ़संस्कृति से डरता है।

भारतीय परंपरा एवं संस्कृति में स्त्री को देवी का दर्ज प्राप्त होते हुए भी वह घर की चार दीवारी में बंद है। स्त्री को अपने काबू में रखने केलिए यहाँ के पुरुष मेधा समाज ने बहुत सारे संक्लपों को बनाया है। बहु को घर की लक्ष्मी, कुल की इज्जत, सीता, सावित्री, सति माननेवाले समाज में दहेज के नाम पर, सिर्फ स्त्री होने के कारण उसकी इज्जत लूटने की प्रवृत्तियाँ आज भी कायम है। कवि गोरख पाण्डेयजी ने अपनी कविता 'बंद खिडकियों से टकाराकर' में कहा है -

"नयी बहू है, घर की लक्ष्मी है
उनके सपनों की रानी है
कुल की इज्जत है
आधी दुनिया है

1. बोधीसत्व - खत्म नहीं होती बात - पृ - 53

जहाँ अर्चना होती उसकी

वहाँ देवता रमते हैं

वह सीता है सावित्री है

वह जननी है

स्वर्गादपी गरीयसी है

लेकिन बंद खिड़कियों से टकाराकर

अपना सिर

लहुलुहान गिर पडी है वह।"[1]

स्त्री को इज्जत प्रदान करनेवाली संस्कृति में जीकर भी स्त्री बंद खिड़कियों से टकराकर गिरी हुई नज़र आती है। संस्कृति को रूढ़ बनाकर लोग आज भी स्त्री पर अत्याचार कर रहे हैं। सांस्कृतिक जीवन - मूल्यों को तहस - नहस करने में लोगों की प्रस्तुत मानसिकता ने भी खूब प्रयास किया है। यहाँ धर्म एवं जाति के नाम पर प्रचलित रूढ़ियाँ और साथ ही लिंगभेद के कारण तीसरे लिंग के लोगों पर हमारे समाज द्वारा रखनेवाली रवैया भी एक चिंतनीय बात है।

भारत एक बहु भाषी एवं सांस्कृतिक विभिन्नाओं का देश है यही कारण है कि यहाँ के हर एक इलाके के लोग विभिन्न आचार - अनुष्ठानों को मानकर जी रहे हैं। यह आचार - अनुष्ठान भी कभी - कभी रूढ़ होकर मानवीयता की सारी हदें पार कर देते हैं और संस्कृति को गतिहीन बना देता है। समकालीन कवियों ने इस रूढ़िवादी परंपरा एवं रूढ़ व्यवस्थाओं से समाज की मुक्ति की कामना की है। इसकेलिए वे अपनी कविताओं के माध्यम से सांस्कृतिक जीवन मूल्यों में आयी विसंगतियों को दूर करने का आह्वान दे रहे हैं।

1. गोरख पाण्डेय - जागते रहो सोने वालो - पृ - 20

3.6 नैतिकता और संस्कृति

भारतीय संस्कृति मानवीयता को महत्त्व देनेवाली है। सत्य, न्याय, अहिंसा, अपरिग्रह आदि नैतिक तत्त्व उसकी जड़े हैं। भारतीय संस्कृति समग्रता, एकरूपता, सहयोगिता विश्वास एवं आतिथ्य केलिए उत्तम संस्कृति मानी जाती है। यहाँ की आध्यात्मिक संस्कृति के आगे भौतिकता का कोई महत्त्व नहीं रहा है। वर्तमान समय में हम एक ऐसी संस्कृति में जी रहे हैं वहाँ आध्यात्मिकता से परे भौतिकतावादी तत्त्वों को महत्त्व मिल रहा है। जिस संस्कृति ने विश्वमानवीयता, लोक क्लायण आदि गुणों के ज़रिए सर्वमान्यता एवं श्रेष्ठता प्राप्त की है। उसी संस्कृति को हम आज विनाश के कगार पर खडे किए हैं। उसके सारे नैतिक तत्त्वों को सारी आचारण संहिता को किनारे कर दिए हैं। कवि शिवकुमार श्रीवास्तवजी अपनी कविता 'सूखाः एक प्रतिक्रिया' में बता रहे हैं -

"हाय रे आध्यात्मिक देश!
कैसी आत्मिक दीनता है
हीनता है
निर्धनता है।
जिससे भी बनता है -
इस सत्य अहिंसा और अपरिग्रह के देश में
झूठ बोलता है हत्यारा
संचय करता है।
गोदाम भरता है!
तिजोरी को पूजता है !
लक्ष्मी वाहन।"[1]

1. शिवकुमार श्रीवास्तव - सुम ऋचा हो - पृ - 108

आर्थिक असमानताएँ भरी हमारे देश में झूठ, लोप, हिंसा की प्रवृत्तियाँ जडें जमा रखी है। आज के भारतीय समाज में आपद्धर्म चल रहा है। जिस प्रकार विश्वामित्र ने एक बार चण्डाल के घर से कुत्ते का मांस खाया और अपनी इस गलती को लेकर उनका कहना था कि काया रक्षण ही सबसे पहला धर्म है। आजकल मात्र काया रक्षण केलिए नहीं बल्कि सभी कर्मों के आगे आपद्धर्म की उपस्थिति हम देख पाते हैं।

भारतीय संस्कृति ने अपनी नैतिकता के ज़रिए बहुत ही ऊँचाई प्राप्त की है। इस संस्कृति ने पाप और पुण्य को भी प्रतिपादित किया है। पाप करना इसमें स्वीकार्य नहीं। मोक्ष प्राप्ति केलिए मनुष्य को पापों से दूर रहना चाहिए। पाप एवं पुण्य की विवेचना करके श्रेष्ठ कर्मों की प्रेरणा देनेवाली संस्कृति है भारतीय संस्कृति। अब के समय में मनुष्य पाप करता रहता है। उसकी बुद्धि एकतरफा हो गया है। अब पाप करने पर उन्हें डर का अनुभव नहीं होता है। पाप का एहसास मनुष्य को पुण्य की ओर ले जाता है इस तथ्य में भी परिवर्तन आ गया है। किसी के किये हुए पापों का फल आज कल किसी निर्दोष पर पड़ रहा है। संवेदन शून्य मानव में इस बात का कोई असर नहीं पडेगा। वह सोचता है कि दूसरों पर क्या बीतता है इसकी चिंता करना मेरा दायित्व नहीं। भवानी प्रसाद मिश्रजी 'अकेली बुद्धि' नामक कविता में कहते है-

"अगर पाप
लोगों को
पुण्य की दिशा में
न ले जाये

तो पुण्य

क्यों शरमाये पाप से

.....

अकेली है इस समय बुद्धि

साथ नहीं है उसके

बेशर्मी

और वह निरुत्तर है।"[1]

अब लोगों को नैतिकता और अनैतिकता में फर्क नहीं दिखता। समाज में रहते हुए भी वह वर्चस्व का एकाकी जीवन जीना चाह रहा है।

भारतीय संस्कृति का आधार है यहाँ के पुराण, इतिहास आदि। भगवत् गीता में कर्म सिद्धांत पर ज़ोर दिया गया है। इसमें कृष्ण अर्जुन को यह उपदेश देते हैं कि कर्म से पीछे मुड़ना धर्म नहीं। कर्म करना मानव का धर्म है। कर्म से विरक्ति तभी पैदा होती है कि हम उसके फल के बारे में चिंतित है। हमें कर्म करना चाहिए फलेच्छा के बिना यहाँ कृष्ण ने कर्म सिद्धांत पर इसलिए ज़ोर दिया है कि महाभारत युद्ध का लक्ष्य किसी एक व्यक्ति के वैयक्तिक स्वार्थ को पाना नहीं था बल्कि अधर्म पर धर्म की विजय हासिल करना था। आधुनिक युग में हम भी कर्म सिद्धांत पर ज़ोर दिया करते हैं। लेकिन आज का मनुष्य बिना सोचे समझे व्यक्तिहित को पाने को आतुर है। नतीजा यह हुआ कि हमारे किये हुए कर्मों का तिक्तफल बहुत सारे नादान लोगों को भुगतना पड़ रहा है। आत्मकेंद्रित स्वार्थवादी मनुष्य की इस प्रवृत्ति से आजकल केवल मनुष्य जाति को ही नहीं बल्कि संपूर्ण ब्रह्मांड की जडें भी हिलने लगी है। इसलिए आज के मानव जीवन

1. भवानी प्रसाद मिश्र - संपति - पृ - 53

के संदर्भ में कर्मों के फल के बारे में सोचने की ज़रूरत है - 'मन की गीता' नामक कविता में शिवकुमार श्रीवास्तवजी का कहना है -

"फल के बारे में नहीं अगर सोचेंगे
बो जायेंगे हम बीज यहाँ पर विष के
अपनी छोटी सी नादानी के कारण
ले लेंगे प्राण न जाने हम किस किस के।"[1]

जिस कर्म सिद्धांत का उपदेश महाभारत में कृष्ण ने अर्जुन को दिया था उसमें विशाल मानव समुदाय के बचाव का सर्वोत्तम लक्ष्य निहित था। लेकिन आजकल के लोग कर्मसिद्धांत की नैतिकता को बदल कर बिलकुल वैयक्तिक स्वार्थों केलिए जाने अनजाने मानवराशी के लिए एकदम विनाशकारी बनने वाले तत्त्वों को पकड़ लेते हैं।

भारतीय संस्कृति में नैतिकता का पुट विद्यमान है। यह संस्कृति सबको साथ लेकर चलने वाली संयम, निस्वार्थ, सत्य, न्याय, अहिंसा को महत्ता देने वाली संस्कृति है। इसमें निष्कामकर्म का उपदेश अंतर्निहित है। यह जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाने वाली है। वैसे तो कवि भी मनुष्य जीवन में उपस्थित होनेवाले विभिन्न अनुभवों को सकारात्मक दृष्टिकोण से देखने के पक्षधर है। उपयोगिता एवं उपलब्धियों के आधार पर अनुभवों को आंकने से मनुष्य का जीवन अनैतिकता की ओर बढ़ जाती है। 'अनुभव' नामक कविता में कवयित्री रेखा मैत्रजी कहती है-

"कभी - कभी ऐसा भी देखा है

1. शिवकुमार श्रीवास्तव - तुम ऋचा हो - पृ - 88

देर तक जीवन में
उपलब्धियों के नाम
कुछ हासिल नहीं होता।
सिर्फ वक्त की व्यर्थता का
अहसास हाथ लगता है।
तब क्यों ये खयाल नहीं आता
और चाहे कुछ न हुआ हो
जीवन को पास से देखने का
अनुभव तो हुआ है।
यह तो सीढी है
ज़िंदगी को पकड़ पाने की।"[1]

उत्तरौपनिवेशिक समाज में जीनेवाले भारतीय मनुष्य में इस सोच की कभी ज्यादतर दिखाई पड़ रही है। परिणामतः भारतीय मनुष्य अमानवीय तौर तरीकों से जीवन को आगे बढा रहा है। वह जीवन में एक बार भी हार नहीं सह सकता। अपने किये हुए कर्मों से ढेर सारी उपलब्धियाँ हासिल करने का चाव उसमें सदा विद्यमान रहता है। उसके लिए वह कुछ भी करने को तैयार हो जाता है। फलतः नैतिक तत्त्वों से भरी संस्कृति में अब अनैतिकताओं का नियंत्रण ही चल रहा है। भारत में जितने भी दर्शन है उन सब में जीवन को लेकर सकारात्मक नज़रिया उपस्थित है, लेकिन आजकल के मानव समाज इन दर्शनों के नैतिक तत्त्वों को लेकर नहीं बल्कि दर्शनों को भी कट्टर बना देने वाले तत्त्वों को अपनाते हैं। धर्म, संस्कृति, दर्शन इनके बीच एक अटूट रिशता है लेकिन आजकल यह भी उपयोगिता पर केंद्रित हो गया है।

---

1. रेखा मैत्र - रिश्तों की पगडंडियाँ - पृ - 89

परमानंद श्रीवास्तवजी ने 'अपने पैर' नामक कविता में आधुनिकता के अनैतिक संस्कृति में चलना भूल गए मनुष्य का चित्रण किया है। आधुनिकता ने मनुष्य को ज़िंदा मशीन बना दिया। संस्कृति की अहमियत को मिटानेवाली आधुनिक उपयोगितावाद के विरुद्ध नैतिकता की संस्कृति को बढावा देते हुए कवि कहते हैं -

"जबकि चलना
बहुत - बहुत ज़रूरी था
वक्त के हिसाब से
बल्कि तेज़ चलना
ज़रूरी था
एक बेढंगी और क्रूर होती दुनिया
को बदलने केलिए।" [1]

आज की संस्कृति ने दृढ़ एवं संवेदनशील पैरों को चलना भूलने की मुकाम तक पहूँचा दिया और विचारवान मस्तिष्क को विचार शून्य बना दिया। कवि यही बताना चाहते हैं कि सांस्कृतिक जीवन मूल्यों के बचाव केलिए इस बेंढंगी एवं क्रूर दुनिया को बदलना ज़रूरी है।

भारतीय संस्कृति में जो नेक एवं नैतिकता उपस्थित है वह यहाँ की गाँवों याने ग्रामीण संस्कृति का ही योगदान है। लोगों को मेल - मिलाप के साथ रहने की सुविधा गाँवों में होती है। गाँव के लोग प्रकृति को देवता मानते हैं, उसकी पूजा करते हैं। यह भी भारतीय संस्कृति की निजी विशेषता है, इससे यहाँ के गाँवों में पेय जल की, पेडों की, शुद्ध हवा की कोई कमी नहीं रहती, उत्तराधुनिक

1. परमानंद श्रीवास्तव - चौथा शब्द - पृ - 63

संस्कृति ने भारतीय गाँवों की इस पवित्रता को भी नष्ट कर दिया। अब गाँव भी ऊजड बन गया। कवि इसपर कह उठते हैं -

"बचाना ही हो तो बचाये जाने चाहिए
गाँव में खेत, जंगल में पेड, शहर में हवा
पेडों में घोंसले, अखबारों में सच्चाई, राजनीति में
नैतिकता, प्रशासन में मनुष्यता, दाल में हल्दी।" [1]

प्रस्तुत पंक्तियों के ज़रिए कवि उदय प्रकाशजी ने भारतीय संस्कृति से दूर हो गए नैतिक तत्त्वों को वापिस पाना चाहा है। क्योंकि समकालीन संदर्भ में संस्कृति ही नहीं बल्कि मनुष्य एवं प्रकृति से जुडे सभी प्रतिमानों में बदलाव आ गए हैं।

भारतीय संस्कृति ने जिन मानवीय मूल्यों को सर्वोच्चता प्रदान किया है। अब उसी में ही हम सारी अनैतिकताओं को ढूँढ़ रहे हैं। अब यहाँ जो भी व्यवस्थाएँ चल रही हैं उन सभी व्यवस्थाओं में कलंक अवश्य मौजूद हुआ है। कवि उदय प्रकाशजी ने 'सहानुभूति की माँग', नामक कविता में भारत में फैली अनैतिक संस्कृति पर यों लिखा है -

"चलिये मैं भी पूछता हूँ
क्या माँगू इस जमाने से मीर
जो देता है भरे पेट को खाना
दौलतमंद को सोना, हत्यारे को हथियार,
बीमार को बीमारी, कमज़ोर को निर्बलता
अन्यायी को सत्ता

1. उदय प्रकाश - रात में हारमोनियम - पृ - 22

और व्यभिचारी को बिस्तर।"[1]

उदय प्रकाशजी का यह बयान ठीक ही लग रहा है क्योंकि आजकल के लोग नैतिकता के ऊपर अनैतिकता को स्थापित करना चाहते हैं तो उनसे जीवन मूल्यों की उम्मीद कैसे कर पाएँगे।

वर्तमान युग में जीनेवाले लोग इस मुसीबत को झेल रहे हैं कि नैतिकता क्या है? अनैतिकता क्या है? सब कहीं अराजक अमानवीय संस्कृति चल रही है। नैतिकता का पक्ष लेना भी आज सबसे बडी खतरनाक बात बन गई है। सब कहीं सब में डर ही डर नज़र आ रहा है। सच बताने से लोग हिचकते हैं। आज की संस्कृति में कहना भी मना है और चुप रहना भी मना है। इसलिए इन दोनों से लोग डरते हैं। कुछ सुन लिया तो वह भी गुनाह है न सुना तो पूछेंगे कि क्यों नहीं सुना। 'डरो' नामक कविता में विष्णु खरेजी कहते हैं-

"देखो तो डरो कि एक दिन तुम पर भी यह न हो
न देखो तो डरो कि गवाही में बयान क्या दोगे।"[2]

ज़माना इस तरह बदल गया है कि यहाँ डर के बिना रहना भी मुश्किल बन जाता है। बिना डर के यहाँ रहे तो लोग पूछेंगे कि डरते क्यों नहीं। सांस्कृतिक जीवन - मूल्यों की च्युति इन पंक्तियों में दृष्टव्य है।

युगीन संस्कृति की अनैतिकता को उकेरनेवाली कविता है 'युग ऐसा है' इसमें कवि आज की संस्कृति में जीनेवाले लोगों की मानसिकता को व्यक्त कर

---

1. उदय प्रकाश - रात में हारमोनियम - पृ - 41
2. विष्णु खरे - पिछला बाकी - पृ - 48

रहे हैं - रघुवीर सहायजी का कहना है -

"यह युग ही ऐसा है कि मुझे सच से कोई डर नहीं
सच बोलना पाप करने के बाद की नीति है
ज़माना बदल गया उपदेश बेकार हो गए
अब वही काम जो आत्मा से होते थे
सहज चतुराई से होते हैं।"[1]

यहाँ कवि बस इतना ही कहना चाहते हैं कि आज की संस्कृति में जीने केलिए सत्य, न्याय, धर्म जैसी नैतिकताओं की कोई ज़रूरत नहीं। चतुराई करना आता है तो आज की संस्कृति में जीना बहुत आसान है। कवि बस यही कहते हैं कि हम इस तरह की अनैतिक संस्कृति में जीने केलिए विवश हैं। इसका कारण यही है कि हम अपने सांस्कृतिक जीवन मूल्यों को भूल चुके हैं।

नैतिकता और संस्कृति का संबंध अटूट है क्योंकि जो व्यक्ति नैतिक आचरण को मानता है, वह सांस्कृतिक जीवन मूल्यों का पालन भी करता है, और आने वाली पीढ़ी केलिए एक आदर्श के रूप में अपने ही व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करता है। लेकिन आज की संस्कृति में रहनेवालों से नैतिक आदर्शों का मिलना बहुत ही कठिन लग रहा है, क्योंकि उसने खुद हिटलर के आदर्शों को ही अपने आचरण का मूल बनाया है। उदय प्रकाशजी कहते है-

"महान है समाज, जैसे सब कहते हैं -
तो मैं भी कहता हूँ
इसी समाज ने बनाया था गांधी को, लेनिन को बुद्ध, पिकासो

---

1. रघुवीर सहाय - एक समय था - पृ - 29

और गलिब इत्यादि को
हालाँकि प्रतिवाद में धीरे से यह भी कहता हूँ
प्रयत्न करता हुआ कि कोई और न सुन ले
कि इसका उलटा ज़रा ज्यादा सच है
कि दरअसल गलिब और गाँधी ने ही बनाया था अपने
समय का समज।"[1]

नैतिकता का पालन करना बहुत मुश्किल है। जैसे कि हममें हज़ार खूबियाँ होते भी अगर एक खामी रह गयी तो वही सबसे आगे दृष्टिगोचर होगा। लेकिन मानव जीवन की भलाई इसी में हैं कि वह हिटलर के बजाय गाँधी के आदर्श को ही मान लें। विश्वमानवीय संस्कृति की माँग भी यही है।

हमारी संस्कृति में आये एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नैतिकता से संबंधित है। सबमें आपेक्षिकता को बरकरार रखते हुए झूठ तथा छल - कपट को भी आज के लोग नैतिकता का परिवेश दे रहे हैं, जबकि सच एक शाश्वत एवं सनातन मूल्य है जिसके ऊपर नैतिकता की संस्कृति टिके हुए है। 'झूठ प्रयोगशाला और कविता नामक कविता' में अनामिकाजी का वक्तव्य है -

"प्रिय पियरे क्यूरी,
ऐसी कोई परखनली
नहीं मेरे पास
जो सच को झूठ से अलग कर दे।
आंइस्टीन,
देख रहे हो न तमाशा

1. उदय प्रकाश - एक भाषा हुआ करती है - पृ - 79

अपनी आपेक्षिकता का।"[1]

प्रयोगशाला में परखनली के सहारे पदार्थों को अलग - अलग करने की सुविधा है लेकिन अब तक कोई ऐसी परखनली नहीं विकसित हुई कि हम उसके सहारे सच और झूठ को अलग - अलग कर दें। वैसे ही एक वैज्ञानिक उपलब्धि है ऐन्स्टीन की सापेक्षता का सिद्धांत जिसके आधार पर यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्माण्ड के बढ़ने या विस्तार करने का कोई निश्चित दर नहीं है, ब्रह्माण्ड की सभी चीज़ें एक दूसरे के सापेक्ष बढ रही है। मतलब कि एक दूसरे से सापेक्ष मात्र में दूर जा रही है। यही सिद्धांत अब सब में प्रयुक्त किये जा रहे हैं। बात - बेबात पर सापेक्षता के सिद्धांत को लेकर सारी अनैतिकताओं को भी लोग स्वाभाविक सिद्ध करते जा रहे हैं जैसे सच - झूठ, हिंसा - अहिंसा आजकल लोग अनैतिकताओं को भी धर्म मान लेते हैं या फिर स्थापित करते रहते हैं। सही एवं गलत की सापेक्षता को भी हम मान लेते हैं। हमें सिखाया गया है कि गलत को सुधारता चाहिए जैसे बचपन में काले पट्टी पर सफेद अक्षर लिखते हैं और गलत लिखने पर उसे मिटाकर सही लिखता है। लेकिन हम सभ्य बनते जा रहे हैं सभ्यता के विकास से काली पटटी के स्थान पर सफेद कागज़ को ले आया। उसपर काले अक्षर लिखने के अभ्यस्त हो गए। गलत लिखने पर उसे काट देते हैं लेकिन उसके अस्तित्व के निशान वहाँ सदा बने रहते हैं। कवि राजेन्द्र कुमार वर्मा की अपनी कविता 'सफेद काले अक्षर' में नैतिकता और अनैतिकता को लेकर कवि कहते हैं -

"लेकिन धीरे - धीरे हम
हो गये हैं अभ्यस्त

1. अनामिका - अनुष्टुप - पृ - 103

लिखने के
सफेद कागज़ पर
काले अक्षर
जिन्हें मिटाते नहीं
काटते हैं
और इस तरह
सही के साथ
गलत का अस्तित्व भी
बना रहने देते हैं।" [1]

अब गलत को सुधारने का मौका मिल जाए तो भी लोग इसके लिए तैयार नहीं हो जाता। वे सिर्फ अपने ही स्वार्थों से मतलब रखते हैं बाकी सबको वह सही हो या गलत यह तय करना उनकी समस्या नहीं है।

आज की संस्कृति मनुष्य को अनैतिक बने रहने केलिए मज़बूर कर रही है। यहाँ डर के बिना वे ही जी सकते हैं जो अनैतिकताओं का साथ देते हैं। हम जिस अनैतिक एवं अपसंस्कृति में जी रहे हैं उसका चित्रण कवि राजेश जोशीजी ने अपनी कविता 'मारे जायेंगे' में यों किया है -

"सबसे बडा अपराध है इस समय
निहत्ये और निरपराध होना
जो अपराधी नहीं होंगे
मारे जायेंगे।"[2]

आजकल जो नैतिकता का पक्ष लेते हैं वे ज्यादत्तर दोषी ठहरायेंगे। आज

1. राजेन्द्र कुमार वर्मा - सूर्य बनकर उगना है - पृ - 31
2. राजेश जोशी - नेपथ्य में हँसी - पृ - 35

सच बोलना, धर्म का पालन करना, अपराधों का साथ न देना यह सब मानव जीवन केलिए खतरनाक है। इसलिए सबको अपनी जान की रक्षा करना है तो अपराध करते रहना चाहिए। सांस्कृतिक अपचय का एकदम स्पष्ट चित्रण प्रस्तुत पंक्तियों में दृष्ठव्य है। नैतिकता की संस्कृति में सबसे ज़रूरी या सबसे श्रेष्ठता व्यक्ति द्वारा अपनाये जानेवाली आदतों को मिल रही है। जन्म से लेकर अच्छी और बुरी आदतें हमारा पीछा करती रहती हैं, यह हमें तय करना चाहिए कि अच्छी आदतों के ज़रिए ज़िंदगी को आगे बढाना है या फिर बुरी आदतों के ज़रिए, मनुष्य की विवेक बुद्धि उसे अच्छाई की ओर ले जाती है और वह अपने विवेक सम्मत सही कार्य करने में लगे रहते हैं। आदमी जो कुछ करता है उसके पीछे आदमी का विवेक ज़रूर काम करता है। लेकिन जानवर के संबंध में विवेक एक निरर्थक संकल्पना है। अब आदमी और जानवर में केवल यही अंतर दिखता है कि आदमी अनैतिक कर्मों को जानबूझकर दोहराता है जबकि जानवर अनजाने में। हम आज जंगलीपन की ओर लौट रहे हैं। कवि राजेश जोशीजी कहते हैं अपनी 'आदतों के बारे में' नामक कविता के ज़रिए -

"अच्छी आदतें अक्सर बहुत डरपोक होती हैं
और अक्सर अपने बिल खोद कर रखती हैं
अच्छी आदतें कई बार ज़िद बन जाती हैं
और ऐसे लोगों को अव्यावहारिक
माना जाता है कामकाजी समाज में
इतनी आकर्षक होती हैं अक्सर आदतें
कि सबसे ताकतवार तर्क जुटाए जाते हैं
उनके बारे में

आदमी अक्सर सोचता है अपनी आदतों के बारे में

जबकि जानवर उन्हें सिर्फ दोहराते हैं।"[1]

आजकल का कामकाजी समाज सिर्फ बुरी आदतों वालों को ही स्वीकार करते हैं। कवि हमें यह आह्वान या चेतावनी दे रहा है कि अब हम जिस रास्ते पर चल रहे हैं वह एकदम अनैतिक एवं अमानवीय रास्ता है। जीवन - मूल्यों में अड़चन पैदा होने का एक कारण लोगों की संस्कृति एवं चरित्र में आये यह बदलाव है।

अनैतिकता को ही स्वतंत्रता मानने लगे हैं आज के लोग। दुनिया के तमाम संबंधों को बनाये रखने केलिए समझौतों की ज़रूरत पड़ती है। समझौतों के बीच पड़कर आदमी ने खुद की सहजता एवं सादगी को नष्ट कर दिया है। समझौता इसलिए माननीय है कि वह दरारों को भराने में सहयोग देता है और सहयोग को सदा बरकरार रखता है। आजकल समझौते का निर्वचन ही बदल गय खुलकर प्यार करना नहीं, प्यार में छल करना, नफरत को मन में बिठाकर बाहर नकली प्यार दिखाना, सिर तो जितना हो सके उतना नीचे करके चलना, भद्रजनों केलिए जो सही है अगर हमारे अंतकरण को वह गलत या अपराध लगने पर भी नाम कमाने केलिए उसका पालना करना। आवाज़ उठाने के मौके पर भी मज़बूर होकर छुप रहना यही है आजकल समझौते की अहमियत। समझौता दो विरोधी तत्त्वों के बीच एकता एवं समता लाने केलिए बनाया जाता है। आजकल समझौते में पक्षधरता चल रही है। साहित्यकार को भी कभी-कभी अपने युगीन सच्चाई के साथ इस प्रकार की नकली समझौता करना पड़ रहा है। 'बनना है भला मानुस'

---

1. राजेश जोशी - नेपथ्य में हँसी - पृ - 58

नामक कविता में कवयित्री कात्यायनीजी कहती है -

"खुलकर प्यार करना
और उतनी ही गहरी नफ़रत करना
और सिर तानकर चलना
भद्रजनोजित जो न हो वह करना,
आहत करना भद्रजनों को-
यह सब कुछ
छोड देना है मुझे।
समझौता, मुझे बस एक अदद
समझौते की ज़रूरत है।"[1]

यहाँ कवयित्री मौजूदा युग की अनैतिक संस्कृति पर अफसोस प्रकट करती है। आज के लोग इन अनैतिक संस्कृति में बिलकुल अमानवीय जीवन जी रही हैं। सभी सामाजिक अनैतिकताओं को किस्मत की सूची में स्थान आज लोगों केलिए अनैतिकताओं को प्रोत्साहन देने का लाइसेंस बन गया है। कवयित्री अपनी कविता 'सौ साल कैसे जियें' में कहती है -

"दंगों, बलात्कार, भूखमरी और युद्ध को
ईश्वर की लीला मानें
सोच लें कि होनी को भला टाल सकता है कोई।"[2]

दुनिया की इसी सोच ने आजकल लोगों को इतनी अनैतिक एवं अमानवीय बना दिया है कि वह सिर्फ अपने ही स्वार्थ सुखों में सौ साल जीने की कामना

---

1. कात्यायनी - जादू नहीं कविता - पृ - 21
2. कात्यायनी - जादू नहीं कविता - पृ - 23

करता है। नैतिक जीवन के महत्त्व को उभारने वाली कात्यायनीजी की कविता है - 'सबसे सुंदर आदत के बारे में' नामक कविता। कवयित्री प्रस्तुत कविता में नैतिक जीवन जीकर ज़िदगी में स्वाभविकता एवं नैसर्गिकता भराने का उपदेश देती है। वह चाहती है कि हम अपनी लगन एवं कोशिश के साथ स्वाभाविक एवं सहज जीवन जी सके। कवयित्री कहती है -

"उन्हें स्वाभाविक लगता है कि
लोग वह करें जो उनकी क्षमता हो
और पायें वह
जो उनकी ज़रूरत हो।
इसलिए वे कोशिश करते हैं
आदतन,
ताउम्र
बिना थके हुए
ऐसा कुछ करते रहने की
कि वह हो सके
जो अच्छा है,
नैसर्गिक और स्वाभाविक है।"[1]

आज की संस्कृति में लोग वही करते रहते हैं कि उसे खुद के किये हुए कार्यों में अस्वाभाविकता एवं शर्मिन्दगी महसूस करना पड़ता है। लोग ज़रूरत के परे कुछ हासिल करने की चाहत रखते हैं। दुनिया में नैतिकता को बरकरार रखने केलिए हमें उस तरीके से जीना पड़ता है कि हमारे कर्मों से किसी को भी किसी

1. कात्यायनी - जादू नहीं कविता - पृ - 78

तरह की परेशानी न हो। लेकिन आजकल के लोग बेवजह किसी को तकलीफ देने में ही आराम ढूँढने लगे हैं। समकालीन हिंदी कविता इस सांस्कृतिक मूल्यच्युति को लेकर काफी परेशान है।

इक्कीसवीं सदी का ज़माना बिलकुल अराजक एवं अनैतिक संस्कृति का खजाना बन गया है। यहाँ कोई भी सच्चा एवं ईमानदार नहीं। किसी को भी चयन की ज़िंदगी प्राप्त नहीं सब कहीं डर एवं तनाव है। 'कविता घर' नामक कविता में लीलाधर मंडलोईजी कहते हैं -

"क्या कहूँ कि आमदरफ्त है परछाइयाँ
फुरफसाहटों में हैं अखबार के सफे
स्नायुओं में दौडता है तेजाब
सब्जी काटने की छुरी तब्दील है तलवार में
गिरफ्तार हैं कविताओं के विषय
हकाला गया कविता में लिखते हुए प्रेम
शिनाख्त की जद में मुजरिम कानून की ओट में
खुले पडयंत्र में मुब्तिला अन्वेषण तंत्र
भोजन से उठती गन्ध बदल गई इतनी
पाता खुद को जीवित मुर्दाघर में।"[1]

आज नैतिकता के लिए, विश्वमानवीयता केलिए कला एवं साहित्य से भरपूर अनमोल भारतीय संस्कृति का यही स्वरूप हमारे सामने बचा है। एकदम अनैतिक एवं अमानवीय स्वरूप।

मूल्य कहने पर उसके अंदर सौंदर्यशास्त्रीय मूल्य भी आ जाते हैं, जो तत्त्व

1. लीलाधर मंडलोई - देखा - अदेखा - पृ - 16

मनुष्य को आनंद प्रदान करता है वही सौंदर्य है। यह सौंदर्य संबंधी एक सार्वभौमिक परिभाषा है। साहित्य भी इस तत्त्व को स्वीकारता है। विक्टर हयूगो ने सौंदर्य को सत्य माना है। सत्य पर आधारित अर्थात् नैतिकता पर आधारित सौंदर्य कभी भी अपने अनंद प्रदान करनेवाले तत्त्वों से अलग नहीं होता। सौंदर्य का भी मनुष्य पर बाहरी एवं भीतरी प्रभाव पड़ता है जो सौंदर्य सत्याधारित है वह सर्वमान्य एवं कालजयी होता है। वैसे तो व्यक्ति का सही आचरण भी उसको सुंदरता प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। कवि वीरेन्द्र सक्सेनाजी ने 'सौंदर्य बोध' नामक अपनी कविता के ज़रिए इस सच्चाई की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है -

"असली सुंदरता
जो मृत्यु - पर्यंत साथ देती है,
केवल मन की सुंदरता ही हो सकती है।
क्योंकि उसके साथ
दो - चार बरस का बंधन नहीं होता।
कभी - कभी तो मन की सुंदरता
लोगों के दिलों में ऐसी घर कर जाती है,
कि लोग उसी के कारण
व्यक्ति के न होने पर भी
उसे याद करते रहते हैं।"[1]

वीरेन्द्रजी मनुष्य के नैतिक बने रहने की आवश्यकता पर ज़ोर दे रहे हैं। जबकि आज की बनावटी संस्कृति बाहरी सौंदर्य को बढावा देकर अंदर की कुरूपता

1. वीरेन्द्र सकसेना - ठोस होते हुए - पृ - 10

को जानने में सदा भूल कर बैठी है। नैतिकता पर उनकी और एक कविता है 'अच्छाइयाँः कुछ अनुभव' नाम की । इसमें कवि ने आज की संस्कृति में पल रहे लोगों की सोच पर विचार किया है। मनुष्य की सहज मानसिकता है कि वह अपने में निहित बुराइओं को अनदेखा करता है और दूसरों की बुराइओं को खदेडने में लगा रहता है। कवि पूछते हैं -

" किसी भी व्यक्ति में
अगर मैं अच्छाइयाँ ढूँढता हूँ,
तो क्या बुरा करता हूँ?
बुराइयाँ तो मुझमें भी
क्या कम हैं।
फिर मैं क्यों दूसरों में
बुराइयाँ ही ढूँढूँ
और उन्हें स्वीकारूँ?"[1]

सबसे पहले अपने काले करतूतों को सुधारना चाहिए और अपने परिवेश को इस नज़रिए से आँकना है कि सबमें निहित अच्छे गुणों को स्वीकारे और बुरे गुणों को नकार दें, जबकि आजकल लोगों की नैतिकता इस तथ्य पर केंद्रित हो गया है कि सभी लोग जो करते हैं मैं भी वही करूँगा। इस सोच ने काफी हद तक हमारे समाज की सांस्कृतिक जड़ों को हिला दिया है । इसके बदले हमें यही समझना चाहिए की बहुमतों से कभी भी गलत काम सही नहीं हो सकता। मनुष्य को अपने विवेक के आधार पर यह ढूँढना ज़रूरी है कि क्या सही है और क्या गलत।

---

1. वीरेन्द्र सकसेना - ठोस होते हुए - पृ - 16 - 17

लोगों पर अब आधुनिक संस्कृति का भूत सवार है। इसलिए किसी की नैतिकता को भी लोग अनैतिक समझ लेते हैं। कहीं भी मानवीयता एवं संवेदनाओं में नेक व्यवहार देखकर उसे शक की अनुभूति होती है। मानना पड़ता है कि सबके लिए सबूत हम कैसे ढूँढ निकालें, और तो और इस आधुनिक वैज्ञानिक संस्कृति के आगे किसी के कदर करने की अपनी नेकी व्यवहार को सही स्थापित कैसे करें। कवि हेंमत कुकरेती अपनी कविता 'कैसा समय' में बताते हैं -

"आज किसी से कहो
कि मैं रात भर तुम्हारे लिए
सो नहीं सका
तो उसे तुम्हारे जागने पर
शक होगा।" [1]

आधुनिक संस्कृति ने एक ओर पूरे मानव समाज को अपनी कामयाबी से अपने वश में किया है तो दूसरी ओर लोग अपनी संवेदनाएँ भी भूलने लगे हैं। नैतिकता और अनैतिकता में फर्क करने की कोशिश में भूल करने लगे हैं। अगर हम इसी संस्कृति को अगली पीढी तक पहूँचाये तो वे भी बिलकुल अमानवीय, निरंकुश जीवन जीकर समाज एवं संस्कृति को और ठेस पहूँचायेंगे। हेंमतजी की 'उन लोगों से' नामक कविता में मनुष्य की सभी कमियों को मानते हुए नैतिक बने रहने की शिक्षा दे रहे हैं कवि। आधुनिक संस्कृति में जीनेवाले लोग अपने दायित्वों से भागनेवाले हैं। उन्हें सिर्फ अपनी रक्षा से बढ़कर कुछ भी सूझता नहीं। हम चाहे कितने भी नैतिक बने रहे फिर भी ज़िंदगी में बहुत सारे वक्त ऐसे भी आता है जहाँ हमें अपनी नैतिकता को खोना पड़ता है, कवि का कहना है -

---

1. हेमंत कुकरेती - चलने से पहले - पृ - 23

"ऐसे लोगों से भी

मैं मिल सकता हूँ

जो मुसीबत में झूठ बोलते हैं

पर बाद में बता देते हैं

कि मैंने जो कहा था

वह सच नहीं था।" [1]

कभी - कभी हमें ऐसी परिस्थितियों से भी गुज़रना पड़ता है क्योंकि मनुष्य अपनी संवेदनाओं के गुलाम है। लेकिन झूठ को हम सच का स्वरूप नहीं दे सकते, इसलिए कहीं भी कभी भी झूठ के वास्ते कोई भी संबंध को नहीं बनाना चाहिए।

आधुनिक संस्कृति की सबसे बडी कमी है कि लोग अपने आपको उत्तम स्वरूप देने के चक्कर में अनैतिकता के रास्ता को अपना लेते हैं। आज के लोग परिस्थिति को स्वच्छ रखना चाहते हैं लेकिन उसके लिए कूडे - कचारे दूसरों के यहाँ फेंकते हैं। जाने - पहचाने लोगों के साथ भी अनजाने की तरह व्यवहार करते हैं एवं संवाद करते हैं। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं कि जो अपने दुख की फेहरिस्त थमाते हुए दूसरों के दिमाग एवं खुशियों को खराब कर देते हैं। लेकिन कवि यहाँ उन लोगों से मिलना चाहते हैं वे तो बहुत थोडे हैं । उनका कहना है -

"वे सामने भी होंगे

तो चिल्लाएँगे नहीं

कि मुझे देखो

---

1. हेमंत कुकरेती - चलने से पहले - पृ - 106

मैं यहाँ हूँ!

वे बहुत कम होंगे

और चुप रहेंगे

तब भी

मैं उनको खोजूँगा।" [1]

मनुष्य को अपने सभी संबंध नैतिकता के आधार पर आगे ले जाना चाहिए क्योंकि आज का समाज इस अमानवीय संस्कृति को ढो रहा है जहाँ सब कुछ दिखावा है। अब संपूर्ण मानव समाज नैतिकता और अनैतिकता के बीच समझौता कर लिया है। 'चोर' नामक कविता में लीलाधर मंडलोईजी कहते हैं -

"यह दुनिया छोड दी हमने

चोरों के भरोसे

क्योंकि चोरों को एक होने में

समय नहीं लगता

और ईमानदार कभी

एक नहीं होते।" [2]

यही सच है क्योंकि आजकल लोग जीवन की विसंगतियों से बचने केलिए समाज के बहुमत जो अनैतिक पक्ष होते हुए भी उसका साथ दे रहा है। यह हमारे सांस्कृतिक जीवन - मूल्यों का पतन है। 'अभिनय' नामक कविता में कवि लीलाधर मंडलोई कहते हैं -

"इस कमाल अभिनय पर

---

1. हेमंत कुकरेती - चलने से पहले - पृ - 107 - 108

2. लीलाधर मंडलोई - चलने से पहले - पृ - 107 - 108

हैरत में हूँ
और डरा हुआ
सत्य बोलने पर
चुप थे सभी
असत्य के आते ही
करतल ध्वनि से
भर उठा था सभागार।"[1]

आज कल सत्य के पक्ष लेनेवाले बहुत कम है। और असत्य के पक्ष लेनेवाले ज़्यादा। विसंगति यह है कि हम सब अब अपने - अपने सत्य पर अडिग है इसलिए सार्वभौमिक रूप से सत्य की जो परिभाषा थी वह अब बदल गयी है।

आज नैतिक बर्ताव पर केंद्रित होना मनुष्य केलिए मुश्किल बनता जा रहा है, क्योंकि अब उपयोगितावाद, वस्तुवाद, बाज़ारवाद आदि से मनुष्य के मानसिक विकास में अवरुद्धता आ गई है। जो भी वह करता है सिर्फ अपने लिये करता है। दूसरों को अपनाने की विशाल मानसिकता अब उसमें नहीं है। अमानवीय मानव चरित्र पर 'तेरापेड़' नामक कविता में इब्बार रब्बीजी कहते हैं -

"ये तेरा पेड़, ये मेरा पेड़
ये तेरी डाल, ये मेरी डाल
मेरे पेड़ पर मत आना
मेरी डाल पर मत बैठना
मुकदमा करूँगा।
सभ्य है,

1. लीलाधर मंडलोई - लिखे में दुक्ख - पृ - 64

सिर्फ चिड़िया नहीं है हम।

अबे, क्यों आदमी की

नकल करता है।"[1]

अब समाज इस तरह की अपसंस्कृति को बढावा दे रहा है या उसका अनुकरण कर रहा है। इसका प्रमुख कारण है, हम गलती की ओर बहुत जल्दी आकर्षित हो जाते हैं और सही कर्मों से हिचकते हैं क्योंकि सही काम बहुमतों की भलाई पर निर्भर है और गलत काम अपने स्वार्थ को पाने का सरल मार्ग है। अच्छे बने रहने केलिए परिश्रम करना पड़ता है जबकि बुराई करने केलिए परिश्रम की ज़रूरत नहीं पडती। अब मनुष्य जानवर से भी घटिया चरित्रवाला बन गया है। लोगों को नियम कानून का सहारा मनुष्य की अधिकारों को पाने केलिए एवं अमानवीय हरकतों को रोकने केलिए लेना चाहिए अब तो कानून के सहारे लोग सभी संबंधों पर रोक लगे रखे हैं। सब कहीं दीवार है, उसको तोड़ना आसान नहीं क्योंकि वह कानूनन जुर्म है।

वर्तमान समय में जीनेवाले लोगों से नैतिक आचरण का भरोसा रखना भी मूर्खता की बात बन गई है। लोग इतने अमानवीय हो गए हैं कि अब नियम कानून के ज़रिए इतने रोक लगाने पर भी लोग अपनी बेहूदा हरकतों को कभी भी नहीं छोडते। 'एक खबर' नाम की कैलाशवाजपेयी जी की कविता इसका सशक्त प्रमाण है -

" एक खबर!

'शमशान - भूमि पर

बलात्कार,

1. इब्बार रब्बी - लोगबाग - पृ - 31

कौन कहता है
दुनिया
निस्सार
है।" [1]

पहले तो अच्छे कर्मों से मनुष्य सम्मानित होता था। अब तो कर्म जो कुछ भी हो उसका लक्ष्य सिर्फ दूसरों को तकलीफ देना है। नियम कानून सबकुछ इसके आगे मौन साध रहा है। मनुष्य होकर मानवीय संवेदनाओं के होते हुए मर्दों को भी अपनी आसक्ति मिटाने केलिए भोगनेवालों को मनुष्य कहना भी अनुचित है। अफसोस यह हो रहा है कि हमें यह सब सुनकर अपनी संस्कृति पर शर्म का अनुभव हो रहा है।

मनुष्य का नैतिक होना, इसका मतलब है उसका आचरण मानवीयता पर केंद्रित हो। मानववादी होने का अर्थ अब बदल गया क्योंकि हम सच्चे दिल से किसी को अपनाएँ या सही मकसद से किसी से पेश आएँ तो आज की संस्कृति में हम गुनेगार ठहराएँगे। कवि कैलाश वाजपेयी इसपर 'मानवतावादी' नामक कविता में कहते हैं -

" मुसीबत में पडे हुए दोस्त को
कर्ज दिया
फिर कभी दोबारा मुलाकात न हुई
खडी हुई महिला से
विनती की
'बैठ जाएँ'

1. कैलाश वाजपेयी - देहांत से हटकर - पृ - 91

बदले में डाँट पड़ी

साथ - साथ सीट गई

.....

उस दिन के बाद से

व्यक्ति दया छोड़कर

मैं सीधे - सीधे

मानवतावादी हो गया।" [1]

मानवतावादी होकर अब कुछ कर रहे हैं तो उसका उल्टा असर लोगों पर पड़ रहा है। अब नैतिक होने का मतलब है सोच में नैतिक होना व्यावहारिक जीवन में उसे प्रयोग में मत लाना बेहतर है।

हर युग में मनुष्य अपने दुखों से मुक्ति पाने केलिए समस्याओं के दबाव से अपने आपको दूर रखने केलिए काम, मदिरा, आत्महत्या एवं प्रार्थना का सहारा लेता है। इसमें प्रार्थना का पक्ष नैतिक है बाकि का पक्ष जीवन मूल्यों की दृष्टि से अनैतिक माना जाता है। जबकि आधुनिक मनुष्य अनैतिक पक्षों के सहारे जीना चाहता। कवि कैलाशजी 'मृतपत्र' नामक कविता में कहते हैं -

"दहशत व धोखा खाए हुए लोगों में

स्तन

मदिरा

जहर

प्रार्थना

सोच कहाँ तेरा मूँह खुलना चाहिए?।" [2]

---

1. कैलाश वाजपेयी - देहांत से हटकर - पृ - 112
2. कैलाश वाजपेयी - देहांत से हटकर - पृ - 125

कवि यहाँ हमें यह समझाने की कोशिश कर रहे हैं कि हर मनुष्य के सामने विक्लप मौजूद है यह हम ही तय करें कि सही को चुनना है या फिर गलत को।

संस्कृति में आये विकराल बदलाव पर अनामिका जी की 'विस्मृति' नामक कविता उल्लेखनीय है। आज का समाज अनैतिकता एवं छल कपट का है। अब संस्कृति इस तरह उजड गई है कि यहाँ नैतिक बने रहना नामुमकिन बन गया है। कवयित्री का कहना है -

"विस्मृति,
मुझे तुम्हारा सिल चाहिए
धो - पोंछकर बराबर करने हैं
कुछ ऊबड़ - खाबड़ हिसाब।
मोह, जरा गोंद बढाना
कई चिट्ठियाँ खुली पड़ी हैं ।
कलह, मुझे चाहिए तुम्हारे आवेग,
देखो ने, मेरे हिलाए एक पत्ता भी हिलता नहीं,
और भाई झूठ, मुझे अपने पंख दे दो।
मैं अपनी, आँखों से परेशान हूँ
और कानों से तबाह
रेत मुझे रेत दीखती है
शोर मुझे शोर सुनायी देता है।"[1]

आज के इस छल कपट समाज में गुजरने केलिए अनैतिकता का सहारा लेना पड़ रहा है। इस अपसंस्कृति में सबसे ज्यादा छल, निर्लज्जता एवं कपट व्यक्ति ही

1. अनामिका - अनुष्टुप - पृ - 86

टिक पा रहा है। इसका मुख्य कारण सांस्कृतिक जीवन - मूल्यों में आया परिवर्तन ही है।

समकालीन हिंदी कविताओं का प्रस्तुत विवेचन इस निष्कर्ष की ओर खींच रहा है कि अब नैतिकता नाम का कोई तत्त्व यहाँ उपस्थित नहीं। उसका अस्तित्व मिट गया है। वैयक्तिक सामाजिक जीवन मूल्यों में आए उजडाव को ठीक करने केलिए सबसे ज़रूरी है सांस्कृतिक जीवन मूल्यों की पुनः स्थापना। इस लक्ष्य तक तभी पहूँच पाएँगे जब फिर से हमारी संस्कृति में नैतिकता को महत्त्व मिल जाएगा।

3.7 उपयोगितावादी संस्कृति

मनुष्य को विवेकशील प्राणी कहा जाता है। क्योंकि वह अपनी बुद्धि सामर्थ्य से अपने जीवन केलिए उपयोगी चीज़ों एवं मार्गों को खुद बनाते एवं ढूँढ़ लेते हैं। प्रकृति के सहभागी बनकर उसके सहारे उसने अपनी ज़िंदगी को एक नया मोड प्रदान किया। उसकी बौद्धिक क्षमता से उसने नए - नए चीज़ों का आविष्कार भी किया जिसकी उन्हें ज़ख्त ज़रूरत थी जैसे खाद्यान्न, वस्त्र, आवास आदि जब उसने अपनी आवश्यकताओं की संपूर्ती से परे होकर इन सबको पाने में काबिल हुए तब से लेन - देन की व्यवस्था शुरू हुई, उसमें संवेदनाओं की जागृति हुई, सहभागिता एवं मानवीयता की संस्कृति की शुरुआत हुई। विनिमय की सुविधा ने उनके जीवन को एकदम सभ्य बना दिया। अब उसके लिए सभी सुविधाएँ प्राप्त है यहाँ तक एक बटन दबाने से उसकी आवश्यकताओं की संपूर्ती हो जाएगी। कहने का मतलब है अब मनुष्य कंप्यूटर क्रांति एवं उपयोगितावद के

ज़माने में जी रहा है। मनुष्य की इस यात्रा में बीच - बीच में उसने बहुत कुछ खोया है उसमें कुछ तो ऐसा हैं जिसकी पुनः स्थापना वह स्वयं कर सकता है लेकिन बहुत कुछ ऐसी भी हैं जिसे चाहते हुए भी वह उसका पुनर्गठन नहीं कर सकता। अब प्रकृति पर मनुष्य की दखलंदाज़ी से प्राकृतिक धरोहर नष्ट हो रहा है। अबकी प्रकृति मनुष्य द्वारा निर्मित कृत्रिम आविष्कार है, जिसका भविष्य संकट में हैं।

सुविधाओं को ढूँढते - ढूँढते सभी चराचरों की सहज स्वाभाविक जीवन ओर चेष्ठाएँ अब कृत्रिम बन गया। जीवन की सादगी एवं खुश्बू कहीं खो गई है। निर्जीव, निर्गंध जीवन जी रहें हैं आजकल के मनुष्य, बिलकुल वैसे जैसे ड्राइंग रूमों में रखे गए प्लास्टिक के फूल जो छल की कपटता की बहुरंगी फूलें हैं। 'सुमन प्लास्टिक' के नामक कविता में शिवकुमार श्रीवास्तवजी कहते हैं -

"ड्राइंग रूमों में
गुलदस्तों में
प्लास्टिक के फूल गंधहीन।
केवल छलना वर्णों की।
नागरियों की वेणी में
सुमन प्लास्टिक के
निर्जीव, निर्गंध।
आह जीवन के टूटने हुए संबंध।
छलना वर्गों की।
संस्कृति की समाधि पर
उगता हुआ एक उद्योग।"[1]

1. शिवकुमार श्रीवास्तव - तुम ऋचा हो - पृ - 91

हम एक ऐसी संस्कृति के हिमायती है जो अब निर्जीव एवं निर्गंध है। इसका उत्तरदायी हम स्वयं है। क्योंकि आज का मनुष्य अपने सभी कर्मों केलिए आसान तरीखे ढूँढ लेनेवाले हैं। असली गुलाब की खेती करके फूलों को पाना मेहनतकश है। नकली गुलाब से काम चल सकता है तो फिर मेहनत करने की क्या ज़रूरत है। प्लास्टिक के गुलाब में गंध नहीं तो क्या फर्क पड़ता है। वह कुम्हलाता नहीं, दिन प्रति दिन बदलने की नौबत नहीं पड़ती, बस धूल पोंछना काफी है। एकदम जगमगाता हुआ रहेगा बहुत ही आकर्षक रूप के साथ। ऐसे सोचनेवाले आधुनिक ज़माने में सांस्कृतिक जीवन - मूल्यों की पुनः स्थापना करना नामुनकिन है। विवेकशलि मानव में यह समझने का विवेक भी नहीं कि फूल की चेतना उसका गंध है।

उपयोगितावादी संस्कृति में जीनेवाले वर्तमान मनुष्य के सामने मावीयता से परे चीज़ों को महत्ता मिल रही है। वे चीज़ों को बनाना या बटोरना ताकत एवं शक्ति समझ लेते हैं। सभी सुविधाओं को एकत्र करना सुख एवं राहत समझ रहे हैं जबकि प्रगति एवं आनंद मिलने केलिए आसपास को आत्मसात् करना एवं बाहर से ज्यादा संपन्नता भीतर भरना पड़ता है। इस सच्चाई को 'निरानंद' नामक कविता में भवानी प्रसाद मिश्रजी ने यों प्रस्तुत किया है -

"सिर्फ चीज़ें बनाना और बढ़ाना
और बढ़ाते रहना
शक्ति नहीं है
श्रेय यह हो सकता है
सुविधाओं के

अंबार लगा लेना
सुख या राहत नहीं है
भ्रम यह हो सकता है।"[1]

आज का आदमी श्रेय को प्राप्त करके भ्रम में पूरी ज़िंदगी गुज़रना चाह रहा है। जीवन को अनायास एवं सुख शांति के साथ जीना नहीं बल्कि उसे आयास एवं मूल्यहीन महसूस करना आज का सबसे बडा जीवन - मूल्य है। लेकिन कवि यही समझा रहे हैं कि यह जीवन - मूल्य नहीं बल्कि सांस्कृतिक जीवन - मूल्यों का पतन है।

उपयोगितावादी संस्कृति की सबसे बडी विशेषता है कि उसने आम जनता के जीवन को भी ऐश के साथ जोड दिया है। यह संस्कृति मूल्यों पर नहीं झकमकाहट की बाहरी सभ्यता पर केंद्रित है। यहाँ हर एक दिन को मनाया जाता है- स्वतंत्रता दिवस, गणतंत्र दिवस, सब कुछ इस संस्कृति में एक त्योहार बन गया इस तरह हर दिन को मनाना उसकी महत्ता को कम करना होता है। भारत को स्वतंत्रता दिलाने केलिए बहुत सारे लोगों को जान देना पड़ा है। युद्ध,दंगा, दहाड इन सब अमानवीय करतूतों को झेलकर महान लोगों ने भारत को स्वतंत्रता दिलायी है। अब हम इन दिनों की याद में ऐश और आराम के साथ छुट्टी मना रहे हैं। कवि प्रभात त्रिपाठीजी अपनी कविता 'गाँधी स्मरण में कहते हैं -

"उत्सवधर्मी शब्दों की इस मोटी किताब में
आदमी का शकल नहीं है
नहीं है उसकी कविता;

---

1. भवानी प्रसाद मिश्र - संपति - पृ - 29

यह जो घर या शहर या देश है
जिसे सिर्फ त्योहार के दिनों में
चमकाया जाता है।"[1]

इस तरह सबको चमकाने की आदत पड गयी लोगों को। जीवन की अहमियत एवं संस्कृति का मूल्य भी इस चमचमाहट की तरह पल भर में मिट जाती है।

उपयोगितावादी संस्कृति को मानव समाज बहुत जल्दी ही अपनाता है, क्योंकि यह एक मिथ्या संसार है। सबकुछ हमारी आँखों केलिए सुखदायक ही लगेगा लेकिन असलियत में वे ऐसा है ही नहीं। बहुत जल्दी लोगों को अपनी ओर खींच लेता है। बाहर से हमें लगेगा कि सबकुछ ठीक है लेकिन जब इससे गुजरना शुरु करता है तब हमें महसूस होगा कि यह संस्कृति वास्तव में सुखदायक नहीं बल्कि सुख का आभास दे रही है। कवि प्रकाश दीक्षित कहते हैं -

"सब तरफ अमन है, चैन है,
लोग सुखी ही होंगे शायद
वोट हैं, शपथें हैं
डिस्को है, डेन है
लोग सुखी ही होंगे शायद।"[2]

यहाँ कवि को भी यह संदेह हो जाता है कि लोग सुखी है या कि नहीं। आज सुख का मापदण्ड भी बदल गया वोट, शपथ, डिस्को, डेन आदि सब आजकल सुख का प्रतिमान बन गया है। इन पंक्तियों के ज़रिए कवि सांस्कृतिक

1. प्रभात त्रिपाठी - आवाज़ - पृ - 49
2. प्रकाश दीक्षित - अक्षितिज सूरजमुखी का देश - पृ - 11

जीवन - मूल्यों की बदलती हालत को दर्शा रहे हैं।

उपयोगितावादी संस्कृति ने ज़िंदा मनुष्य की औकात भी बदल दी है। अब वह भी एक ऐसी वस्तु बन गई कि जिससे ज़िंदगी में रौनक आ जाए। 'रखरखाव' नामक कविता में मानवीय संबंधों में उपयोगितावादी संस्कृति की गहरी पकड एवं उसके दुष्परिणाम तो दर्शा रही है कवयित्री रेखा मैत्र जी। घर में स्त्री को घर सजाने संवारने की चीज़ मान लेने की संस्कृति पर कवयित्री को खिन्नता का अनुभव होता है। वह कहती है -

" मैं तुम्हें कीमती
सामान सी मिल गई थी!
पहले तो तुम
सोच ही नहीं पाते थे
कहाँ रखो तो
घर सज उठेगा
धीरे - धीरे और चीज़ों की तरह
कद्र कम होती गई
मेरी, तुम्हारी नज़रों में
सामान तो आखिर
सामान ही होता है न?
अगली बार कुछ लेने से पहले
सोचना, रखरखाव कर सकेगे या नहीं?"[1]

पत्नी को एक चीज़ मानना भारतीय संस्कृति में ही नहीं मानवीय संस्कृति केलिए भी हानिकारक है। वह भी एक ज़िदा, चेतन युक्त प्राणी है। उसमें भी

1. रेखा मैत्र - रिश्तों की पगडंडियाँ - पृ - 72

दिल एवं संवेदनाएँ हैं। उपयोगितावादी संस्कृति ने भारत के सांस्कृतिक जीवन - मूल्यों को उनकी जड़ों को मिटा दिया है। यहाँ हर कहीं वस्तु ही नज़र आती है। मानवीयता एवं आदमीयता कहीं भी नहीं दिखाई पड़ रही है। जिस प्रकार मनुष्य किसी वस्तु के प्रति आकर्षित हो जाता है और उसे पाने केलिए लगातार कोशिश में लगे रहते हैं बाद में जब यह आकर्षण समाप्त हो जाता है तब उस वस्तु को घर के किसी कोने में रख देते हैं। उसी प्रकार अब मनुष्य ज़िंदा प्राणियों के साथ भी कर रहे हैं। अर्थात् अब घर में हो या अन्य कहीं भी हो मनुष्य - मनुष्य का उपयोग कर रहा है सिर्फ अपने स्वार्थों की पूर्ति केलिए। चाहे वह पत्नी ही हो उसे कोई फर्क नहीं पड़ता। इन पंक्तियों के ज़रिए कवि यही बताना चाहते हैं कि हमारे सांस्कृतिक जीवन - मूल्यों का पतन हो गया है।

उपभोग आज की युगीन सच्चाई है इस प्रवृत्ति से मुक्ति पाना मुश्किल है। सबके ऊपर उपभोग का भूत चढ़ गया है। उपभोगवादी संस्कृति में अपनी इज्जत खोयी हुई औरतों की संख्या बहुत ही आगे है। स्त्री को केवल भोग्य समझना उसकी संवेदनाओं, दुखों, शरीर एवं मन का गलत फायदा उठाना आजकल सहज बन गया है, सिर्फ और सिर्फ स्त्री होने के कारण। कवि रघुवीर सहायजी ने अपनी कविता 'स्त्री का भय' में कहा है कि-

"कलाकारों ने उसे खूब बडा किया रंगा
और सब कपडों के विज्ञापन बना दिए
उनमें सब रंग थे अमूर्त, अमेरिका आधुनिक
किंतु जब मैं ने उन्हें मेले में जाती
एक खानदान की औरतों पर देखा
तो वे सब जानबूझ कर उन्हें

अपमानित करने केलिए बने दिखे ...."[1]

उपभोगवादी संस्कृति के तरद हम जिस जनसंस्कृति के आदी हो चुके हैं उसमें सर्वाधिक शोषण स्त्रीयों पर ही हो रहा है। विज्ञापन की दुनिया ने स्त्री के नंगे बदन केलिए इतने पैसे खर्च किया है कि अब वांछित और अवांछित संदर्भों में स्त्री अपने नंगेपन को प्रदर्शित कर रही है। शरीर को नंगेपन से बचाने केलिए कपडे की ज़रूरत पड़ती है। लेकिन आजकल कपडे पहनकर भी नंगे बदन बाहर दिखता है।

विज्ञापन - उपयोगिवादी संस्कृति को आगे बढाने में सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान विज्ञापन ही दे रहा है। विज्ञापन की दुनिया ने संस्कृति की नसों को तहस - नहस कर डाला। विज्ञापन की दुनिया में सबकुछ चीजें है। वह एक काल्पनिक संसार की सृष्टि करके लोगों को उसमें फँसा देता है। विज्ञापन ने आजकल स्त्रीयों के मोल तो वस्तुओं से भी कम कर दिया। वहाँ स्त्री की औकात वस्तुओं की बिक्री बढ़ाने तक सीमित है। इसके लिए उसका शारीरिक शोषण चल रहा है। इस सच्चाई को मानने केलिए आजकल की स्त्रियाँ भी तैयार नहीं। वे ये सब करती हुई अपने आपको स्वतंत्र मानती है। नंगेपन का प्रदर्शन करना चाहे स्त्री के संदर्भ में हो या फिर पुरुष के संदर्भ में स्वतंत्रता का प्रतिमान नहीं होता। इसपर 'खबरों में औरत' नामक कविता में परमानंदजी कहते हैं -

" एक आदमी साबुन की टिकिया खरीदने
निकलता है और एक अदद औरत
के साथ

1.रघुवीर सहाय - एक समय था - पृ - 107-108

वापस आता है

.....

खबरें औरतों के बारे में

कितना कुछ

बताती है

कितना कम जानती हैं

औरतें

अपने बारे में।" [1]

यही आज की सच्चाई है उपयोगितावादी संस्कृति ने स्त्री को मात्र भोग की योग्य चीज़ के रूप में तब्दील कर दिया है। विज्ञापन की दुनिया ने औरतों का शारीरिक शोषण करके पैसा कमाने की प्रवृत्ति को आगे बढाया है। इस वास्तविकता से औरतें भी अनजान है क्योंकि आज की संस्कृति में पैसों को महत्त्व मिल रहा है इसके आगे स्वाभिमान एवं इज्जत भी बिकाऊ है।

विज्ञापन की उत्तराधुनिक संस्कृति ने मनुष्य की अनिवार्यताओं को अप्रासंगिक कर दिया और अनावश्यकताओं को बढावा दे दिया। जिन चीज़ों की मानव जीवन में सबसे ज़रूरत है उन चीज़ों का विज्ञापन हम कहीं भी नहीं देख पाएँगे। जो चीज़ें हमें बिलकुल भी नहीं चाहिए उनके विज्ञापनों से भरा पडा है आज हमारा जीवन। जीवन - मूल्यों में जो नकारात्मक परिवर्तन हुआ है उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण संस्कृति में आया यह परिवर्तन है। कवि पूछते हैं अपनी कविता 'कवि की पीड़ित खुफिया आँखें' में -

" अप्रासंगिकताएँ क्यों हावी हैं इस कदर तमाम अच्छी और ज़रूरी चीज़ों पर

1.परमानंद श्रीवास्तव -चौथा शब्द - पृ - 165 - 166

जो चीज़ें ठीक- ठाक हैं और जो चाहिए तमाम लोगों को उनका
विज्ञापन क्यों नहीं दिखाई देता कहीं?
उनकी कोई कीमत क्यों नहीं बची, कुछ बताएँगे आप?
एक छोटी सी जेब में समा जाने वाली कंघी,
खैनी, राई, अरहर और गुड़ केलिए
अपने कपडे क्यों नहीं उतारती मधु सप्रे और अंजलि कपूर
बीडी के बंडल का रैपर क्यों नहीं बनाते अलेक पदमसी।"[1]

आज की संस्कृति में अनिवार्यताएँ मिट गयी और अनावश्यकताएँ बढ़ गयी।

विज्ञापन की वायवी दुनिया में मनुष्य की संवेदन शून्यता भी काफी बढ़ गई है। अब हम सब कुछ खरीद सकते हैं आगे तो ज़िंदा आदमी की भी बिक्री होगी। 'इस्तेमाल' नामक कविता में अनिताजी स्त्री पर सवार विज्ञापन की असर को दर्शाती है। कवयित्री कहती है -

"अब बाज़ार स्त्री के कदमों में है
उसके केश सहलाता उतारता कपड़े
सामान कोई भी हो बेची जाती है हमेशा स्त्री
वह बाजार को ले आती है घर में
बच्चे से प्यार करती हुई वह खिलाती है उसे आधुनिक कोई उत्पाद
एक दवा उसे कमर दर्द से बचाती है
वह कई घरों को इसी तरह रखती है दुरुस्त
बेहिचक दिखते हैं उसके छिपे हुए अंग
बनते हैं सुंदरियों के इतिहास
खरीदनी है अगर दवा तो देखो स्त्री को

1.उदय प्रकाश - रात में हारमोनियम - पृ - 49

दर्द से ज्यादा असरदार है उसकी कमर
तेल से ज्यादा सुंदर हैं केश कपडे से ज्यादा देह
देखो चमकीली आखें चिकनी त्वचा।"[1]

यही आज की संस्कृति है। जनसंस्कृति के नाम पर जो अपसंस्कृति यहाँ फैल रही है उसी के आधार पर लोगों की जीवन शैली पसंद नापसंद सबकुछ परिवर्तित हो गया। सब कहीं विज्ञापन ने अपना कब्जा जमा किया है। व्यक्ति से ज्यादा चीज़ों को और आविष्कारें को स्वीकृति प्राप्त होनेवाली संस्कृति में जी रहे हैं हम।

विज्ञापन एवं उपयोगितावादी संस्कृति का मानव जीवन पर प्रभाव की गहरेपन को दिखानेवाली कविता है चन्द्रकांत देवतालेजी की 'सबसे ज़रूरी काम' नामक कविता। इसमें कवि उपयोगितावाद एवं भूमंडलीकरण के गहरे प्रभाव से तडपनेवाली साधारण जनता का चित्रण किया है जिन्हें अपनी संस्कृती में आये अड़चन पर अफसोस हो रह है, कवि का कहना है -

"दूकानें चीज़ों से अँटी पड़ी हैं
हम इन चीज़ों के बारे में नहीं जानते
और खरीद भी नहीं सकते
तब भी बच्चे जिद्ध करते और चीखते - चिल्लाते हैं
और चिड़चिड़पन औरतों पर हमला करता रहता है।"[2]

खरीदारी को इतना महत्त्व पहले कहीं भी हम नहीं देख सकते। उत्तराधुनिकता के वर्तमान दौर में चीज़ें लोगों को अपनी ओर खींचने लगी है। अब वे अपनी

---

1. अनिता वर्मा - एक जन्म में सब - पृ - 25
2. चन्द्रकांत देवताले - उसके सपने - पृ - 156

ज़रुरतों और गैरजरूरतों में फर्क करना भी भूल गए हैं। हमारी भारतीय अर्थ व्यवस्था इतनी भी आत्म निर्भर नहीं कि यहाँ के हर एक नागरिक एक समान खरीदारी कर सके। उजडी संस्कृति उजडी अर्थव्यवस्था ने मिलकर जानता की ज़िंदगी को एकदम कठिन बना दिया।

उपयोगितवादी संस्कृती के चाल में फँसे लोगों को लगता है कि उनके पास सबकुछ हैं फिर भि वे अधूरे हैं, उनका जीवन अधूरा है। स्वीन्द्रनाथ त्यागीजी इस विचार को आगे रखते हैं - उनका कहना है आज के लोगों के पास दफ्तर की शानदार इमारत, मेज़, कुर्सी, सोफे से सजा कमरा, टेलिफ़ोन फ़ाइलें, चपरासी, उनके सलाम ठोंकनेवाला आला अफ़सर है, बीवी वच्चे है, कार है, टेलिविज़न है, मगर उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है उन्हें लगता है -

"चीज़ों को पा लेने के बाद
उनके खोने की इच्छा कहीं ज्यादा तीव्र
जैसे ही मिल जाती परियों की राजकुमारी
कहानी हो जाती खत्म।"[1]

यही सच्चाई है, हम जितनी जल्दी, इस सच्चाई को स्वीकार करेंगे उतनी जल्दी जीवन का अधूरापन भी खत्म हो जाएगा।

आजकल टेलिविज़न या सामूहिक माध्यामों में देखा जाए तो सब कहीं विज्ञापन ही विज्ञापन दिखता है। दूध पीने के तरीके से लेकर किस साबुन से नहाना है, कपडा धोना है, कितने बार ब्रश करना है, उसके लिए कौन सा पेस्ट इस्तेमाल करना है, त्वचा को सुरक्षित रखने केलिए कौन सा क्रीम लगाना है,

---

1. रवीन्द्रनाथ त्यागी - सलीब से नाव तक - पृ - 46

ताकि उम्र बहुत ही कम दिखे, यह सब विज्ञापन ही तय करता है। इस स्थिति को देखकर कवयित्रि अनिता वर्माजी कह रही है -

" कुछ दिनों बाद शायद बनाये जायें विज्ञापन

खरिदिए एक पूरा आदमी भाव प्रेम और संवेदना से भरपूर।" [1]

उपयोगितावादि संस्कृती में चीज़ों को जो महत्त्व मिल रहा है उससे कई गुना कम महत्त्व आदमी को मिलता है। आज आदमी के अहमियत को तय करना भी चीज़ों के आधार पर हो गया। चीज़ों की कीमत के आगे आदमी की कीमत मंद पड़ जाती है। आजकल चीज़ों ने आदमी को घेर लिया है 'वस्तुओं के बारे में एक कथन' नामक कविता में कवि राजेश जोशीजी कहते हैं -

"कई बार जब बाजार चीज़ों से लद जाते हैं

समाज में पैदा होने लगते हैं

नये नये उपद्रव

चीज़ें एक दिन इतनी ताकतवर हो जाती हैं

कि बनती जाती है उनकी स्वतंत्र सत्ता

तब आदमी नहीं, चीज़ें तय करने लगती हैं

आदमी का भाग्य।"[2]

आज का दौर वस्तुवादी संस्कृति का दौर है। यहाँ ज़िंदा आदमी से ज्यादा महत्त्व वस्तुओं को मिल रहा है। उस वस्तुवादी संस्कृति में मनुष्य बिलकुल चेतनाहीन हो गया है।

---

1. अनिता वर्मा - एक जन्म में सब - पृ - 19
2. राजेश जोशी - नेपथ्य में हँसी - पृ - 60

उपयोगितावादी संस्कृति में चीज़ों का संग्रहालय बन गया है घर। घर परिवार का गहरा संबंध मानवीय संवेदनाओं से है। आजकल संवेदनाएँ नष्ट हो रही हैं, घर भी पुरानी चीज़ों का संग्रहालय बन गया है। आजकल की उपयोगितावादी संस्कृति की मोहक दुनिया गैर ज़रूरी चीज़ों की ओर भी हमें आकर्षित करती है। जैसे - जैसे चीजें पुरानी पड़ जाती है नए को ले आता है और पुराने सबकुछ घर के कोने में स्थान पाता है, अब घर-घर नहीं पुरानी चीज़ों का स्टोर रुम बन गया है। 'कितनी चीज़ें ' नामक कविता में बोधीसत्व कहते हैं -

"हर घर संग्रहालय है
हर आदमी स्मारक
पुरानी चीज़ों का
.....
जितनी तेज़ी से नष्ट हो रही हैं चीज़ें
उससे बहुत अधिक तेज़ी से
सँवर रही है दुनिया।" [1]

चीज़ों मनुष्य की ज़रूरत केलिए बनाया जाता है। आजकल की उपयोगितावादी संस्कृति को देखकर लगता है कि मनुष्य चीज़ों केलिए बन गया है।

'कस्बे की दूकान में मनमोहन जी' नामक कविता में लीलाधर मंडलोई जी उपयोगितावादी संस्कृति में क्रेडिट कार्ड्स के सहारे अपने जीवन की सभी सुविधाओं को एक पल में ही हासिल करनेवाले लोगों के बीच मानव बने रहने की कठिनाई को खुलकर प्रकट करते हैं। कवि कहते हैं -

"यह अकस्मात ही हुआ कि अपनी औकात से बाहर

1. बोधीसत्व - खत्म नहीं होती बात - पृ - 68-69

मैं इस सदी के उत्तर प्रायोजित बाज़ार के
कुतूहल में अकस्मात जा पहूँचा
चीज़ों की अफरा - तरफी का रोमांच था
वस्तुएँ शोर के रेलमपेल में न्यस्त थी और पुरुष
स्त्री की जगह स्त्री की अनुकृति से रोमांस में मुब्तला थे
रोमांस किसी और स्मृति का प्रतिबिबं था चमकदार
इच्छापूर्ति की माँडगेज़िग में एकाएक
नए बनियों - बक्कालों का हुजूम था
कुत्तों की जीभ एक विज्ञापन में मानव मुख से बाहर
बाज़ार में लपलपा रही थी और मल्टी नेशनल्स मुदित थे।"[1]

उपयोगितावादी संस्कृति का विकराल रूप प्रस्तुत पांक्तियों में हम देख सकते हैं। अब इसका नतीजा यह हुआ कि हम इस तरह गिर गए कि विज्ञापन में रखे गए मानव के मूँह से कुत्तों की जीभ बाहर आता हुआ दिखाई पड़ रहा है। मल्टीनाशनल कंपनियों ने मनुष्य को ऐसा बना दिया है। अब भारत एक ऐसा बाज़ार है जहाँ देशी वस्तुओं से भी ज्यादा सस्ते में विदेशी वस्तुएँ मिल रही हैं।

मनुष्य इस संसार में नंगा - नंगा ही पैदा हुआ। जैसे ही बह संसार से परिचित होता गया वैसे ही उसके लिए यहाँ के सारे तत्त्व याने वस्त्र, आवास, भोजन, शिक्षा आदि से वह जुडने लगा। अब इस विकासवादी औपनिवेशिक उपयोगितावादी संस्कृति ने मनुष्य को इस तरह बनाया है कि उसके ऊपर चीज़ों के बाज़ार का राज सवार हो जाए। 'विपर्यय' नामक कविता में कैलाश वाजपेयीजी कहते हैं -

---

1. लीलाधर मंडलोई - देखा अदेखा - पृ - 21

"शहर ही शहर पूरी पृथ्वी पर
तारों और पहियों और
पंखों से जुड़े हुए
बाज़ार ही बाज़ार
हर शहर में-
सामान से भरे हुए
दूकानें
चीज़ें ही चीज़ें दूकानों में
सारी ही चीज़ें
उस आदमी के वास्ते
जो नंगा - नंगा पैदा हुआ।" [1]

यहाँ कवि उस वास्तविकता से हमें परिचित कराते हैं जिसमें जीकर हम उससे अनजाल है। यहाँ बाज़ार ने किस प्रकार मानव जीवन को उपभोग की चीज़ बनाया उस पर कवि अफसोस प्रकट कर रहे हैं। वैसे ही कवि कुमार अंबुजजी के 'प्रक्रिया' नामक कविता वस्तुवादी संस्कृति में मूल्यों एवं मानवीयता का ध्वंस दिखाती है -

" एक उजड़ती हुई चमकदार दुनिया है निराली
जिसमें भाग्य को रौदं रहे हैं हम
फिर भी वश नहीं है हमारा हम पर
हम परम प्रसन्न असहाय देख रहे हैं हमारा ही विस्थापन
और एस ऐसी विराट पण्यशाला
जहाँ मिल रही हैं वस्तुएँ

1. कैलाश वाजपेयी - देहांत से हटकर - पृ - 113

छूट रहे हैं लोग।"[1]

कवि की इन पक्तियों में उपयोगितावादी संस्कृति में नष्ट होते मानव जीवन के प्रति हमदर्दी है।

उपयोगितावादी संस्कृति में किसी का भी अलग अस्तित्व नहीं। सब कहीं सारे के सारे लोग बिक्रेता एवं क्रेता के नाम से जाने जाते हैं। इन दोनों के सिवा अगर कोई इस समाज में रहना चाहता है तो भी उसे यहाँ अपने लिऐ जगह मिलना बहुत कठिन है। 'बाजार' नामक कविता में एकांत श्रीवास्तवजी ने इसका ज़िक्र यों किया है।

" यहाँ थोड़े - से लोग बिक्रेता हैं बाकी सब क्रेता
बाकी सब में बहुत से लोग क्रेता भी नहीं हैं
जो क्रेता नहीं हैं यानी जिनकी जेबें खाली हैं
उनकी कोई जगह नहीं है बाज़ार में
वे बाज़ार के वृत्त से बाहर हैं
चढ़ गई हैं कीमतें चीज़ों की आकाश में
गिर गया है आदमी का बाज़ार - भाव।"[2]

अब आदमी की नहीं बल्कि चीज़ों की कीमत ही स्वीकार्य है। जो सबसे ज्यादा उपयोगी है वही कीमती है इसलिए आज की संस्कृति में जीने केलिए भला है कि आदमी भी चीज़ों में तब्दील हो जाए, ताकि लोग आपका उपयोग कर सके और बाद में फेंक दें। कोई लगाव किसी से भी न हो जाए। मानवीयता जब व्यावहारिकता में ज्यादा बदल गया उसका संस्कृति पर यही असर हुआ। ज़िंदा

1. कुमार अंबुज - अनंतिम - पृ - 44
2. एकांत श्रीवास्तव - बीज से फूल तक - पृ - 38

मनुष्य को भी केवल एस चीज़ मानने की उपयोगितावाद की भर्त्सना कर रहे हैं 'लड़की और आम' नामक कविता में एकांतजी -

"फल बाज़ार में बिके
और चखे गए
लड़की बिकी अपने बाज़ार में
जहाँ चखे जाने का कानून चलता था
फल, फल थे
उन्हें बिकना ही था
किसी न किसी बाज़ार में
लड़की मगर लड़की थी
हाड़ माँस की और जीवित
उसकी इच्छाएँ थीं
कि उसे स्कूल जाना था
कि उसकी डोली उठनी थी
लड़की आम नहीं था।"[1]

उपयोगितावादी संस्कृति की अमानवीयता को दिखाने में प्रस्तुत पक्तियाँ विशेष उल्लेखनीय है। कवि यहाँ इस अपसंस्कृति की गहरे पकड़ से मनुष्य की मुक्ति की कामना कर रहे हैं। कवि यहाँ उन लड़कियों के बारे में कह रहे हैं जो न चाहते हुए भी बिकती है कहीं वेश्यालयों में, जहाँ कानुन भी इसको सहारा दे रहा है।

विज्ञापन ने उपभोग एवं उपयोगितावाद को इतना बढावा दिया है कि अब हमसे परे विभिन्न वस्तुओं के उत्पादक एवं नवमाध्याम तथ करने लगे हैं कि हमें

1. एकांत श्रीवास्तव - बीज से फूल तक - पृ - 89 - 90

क्या खाना है, क्या पीना है, केसे वस्त्र पहनना है। इस उपयोगितावादी संस्कृती में डूबने वाले भारतीयों पर 'उत्तर - परमात्मा', नामक कविता में ज्ञानेन्द्रपतिजी कहते हैं -

"उनकी परदुखकातरता देखो
अपरम्पार करुणा
तुम्हारे केशों के झड़ने की उन्हें चिंता है
तुम्हारे केशों के पकने से वे लजाते हैं
एड़ियाँ फटने के मौसम में
घमौरियाँ उगाने के मौसम में
मुँहासों की उम्र में
तुम्हारी प्यास के मौके पर
तुम्हें भूख लगने से पहले
हाज़िर हैं वे
उनकी हथेली कलपतरू का करतल है।"[1]

विज्ञापन की इस संस्कृति ने मनुष्य को केवल एक चीज़ बनाके रखा है। अब उसमें मनुष्य कहने योग्य कुछ भी नहीं बचा है ।

भूमंडलीकरण एवं उपयोगितावाद के दौर में लोग चाहते हैं कि वह अपने मन पसंद सभी कर्में में व्यस्त रहे। उन्हें अब घर का खाना नहीं बल्कि बाहर का खाना पसंद है। महीने में एक दो - बार शराब पीना उसके लिए ज़रूरी बन गया है। सिगरेट के मज़े लिये बिना वह रह नहीं पा रहा है। उपयोगितावाद के तहद लोगों की आदतों एवं जीवन शैली में आये बदलाव को दर्शानेवाली कविता है -

1. ज्ञानेन्द्पति - कवि ने कहा - पृ - 101

'चाँद के बारे में '; इसमें पवन करणजी कह रहे हैं -

"यह खुद ही छेड़ेगा राजनीति पर बातचीत
और बात वढ़ते ही ज़मीन पर थूक देगा खूब सारा
फिर कहेगा यार बहुत दिन हुए शराब नहीं पी
न ही किसी होटल में खाया अच्छा खाना
रोज़ वही घर की दाल, पालक, तोरई
नौकरी होती तो कितना अच्छा होता
कम - से - कम महीने में एक -दो बार तो
छककर शराब पी जा सकती थी
अभी तो यह हाल है कि कोई दोस्त
सिगरेट पीना शुरू करता है तो हम उसके मुँह की तरफ
देखना शुरू कर देते हैं कि कब वह उसे हमारी तरफ बढ़ाए।"[1]

आजकल लोगों को नौकरी में दिलचस्पी इसलिए रहती है कि वे अपनी ज़िंदगी को ऐश - मौज- मस्ती के साथ जीना चाहते हैं। नौकरी आजकल आजीविका चलाने के माध्यम से बढकर लाइफ स्टैल को बनाये रखने का माध्यम बन गया। खूब कमाते हैं और खूब खर्च करते हैं यही आज की ज़िंदगी का मुख्य मुद्धा है।

उपभोगवाद वह विलक्षण संस्कृति है जो बाहर के बाज़ार को घर के अंदर घसीटकर ले आता है। उसमें आम जानता भी इस तरह फँस जाती हैं कि उन्हें कभी भी मालुम नहीं होगा कि वह क्या कर रहा है। उपभोगवादी संस्कृति कहीं भी हमें उसकी ओर घसीटने की प्रत्यक्ष कोशिश नहीं करेगी, बल्कि हमें वह ज़रूर

1. पवन करण - अस्पताल के बाहर टेलिफ़ोन- पृ - 12

इतना जताने की कोशिश करेगी कि हम आम है, साधारण है हमारी इस अवस्था में सुधार की गुंजाइश है। 'बाजार' नामक कविता में पवन करणजी का कहना है -

"वह हमारे घर की किसी स्पष्ट कमी को नहीं कहता कमी
वह केवल उसमें सुधार की गुंजाइश की बात करता है
वह कहता है बिलकुल आसान है यह
और इसमें वह हमारी मदद को तत्पर है
और उसे हमारी मदद करके बहुत खुशी होगी
आखिर वह हमारे जीवन को सुखमय और उत्तेजक
बनाना चाहता है बशर्ते कि वह उसे सौंप दिया जाए।"[1]

बाज़ार की इस उदारवादी नीति को भला कौन टाल सकता है। धीरे -धीरे आम आदमी का जीवन भी इस सुखमयता एवं उत्तेजकता के पीछे भागने की ख्वाहिश रखने लगेगा। इससे हमारी संस्कृति में भी विकराल परिवर्तन होने लगा है और सांस्कृतिक जीवन मूल्यों का एक विकृत रूप आज हमारे बीच उपस्थित हुआ है ।

उपर्युक्त विवेचन ने यह सिद्ध कर दिया है कि अब मनुष्य - मनुष्य के हैसियत से नहीं बल्कि चीज़ों की हैसियत से जी रहा है। उपयोगितावाद में सब कुछ खरीदने और बिकने लायक है। इस अपसंस्कृति के फैलाव ने हमारी संवेदानाओं एवं सामाजिक जीवन को नहीं बल्कि सांस्कृतिक जीवन - मुल्यों को भी विनाश के कगार पर खडा कर दिया है।

3.8 बाज़ारू एवं धनकेंद्रित संस्कृति

सांस्कृतिक जीवन - मूल्य मनुष्य को नैतिक जीवन जीना सिखाता है। वह

1. पवन करण - अस्पताल के बाहर टेलीफ़ोन - पृ - 15

मनुष्य बनने केलिए, मनुष्य कहने के कौन योग्य होता है इसके प्रतिमान प्रस्तुत करता है। जीवन में सत्य, न्याय, आहिंसा की ज़रूरत समझाता है। प्यार, दया, करुणा, घृणा, नाराज़गी का उचित एवं अनुचित प्रयोग की ओर मानव विवेक को मार्ग दर्शन देता है। वह लोक कल्याणकारी एवं लोक हितकारी के रूप में विराजमान है।

21 वीं सदी में संस्कृति का यह लोक कल्याणकारी स्वरूप बहुत कुछ बदल गया है। आज की संस्कृति विश्व मानवीय एवं लोकहितकारी नहीं बल्कि व्यक्ति हितकारी है। जब वैयक्तिक स्वार्थ ने मानव जीवन पर कब्जा किया तब से संस्कृति के लोकहितकारी रूप अप्रत्यक्ष हो गया। आधुनिक व्यक्ति अपने आप में सिमट रहे हैं। उनमें कोई संवेदनाएँ नहीं। वे संबंधों के अहमियत को भी नहीं मानते हैं। अतः उसकी दुनिया अब सिर्फ धन पर आधारित है। धन प्राप्ति केलिए मानवियता की सारी हदें वे पार कर चुके हैं। धन के आगे - धर्म, इश्वर, इनसानियत, अस्मिता सब कुछ निरर्थक है। धन केंद्रित संस्कृति पर कवि शिवकुमार श्रीवास्तवजी बोल रहे हैं अपनी कविता 'खोट सिक्का' में -

"चमकीले सिक्कों की रौनक
दुनिया के सब बाज़ारों पर,
चाँदी के सिक्कों की आभा,
मंदीर के दीवारों पर
भगवान बिका करते चाँदी के सिक्कों पर,
ईमान बिका करता चाँदी के सिक्कों पर।" [1]

बाज़ारू, धनकेंद्रित संस्कृति में आदमी की औकात खोटे सिक्के जैसा है,

1. शिवकुमार श्रीवास्तव - तुम ऋचा हो - पृ - 77

जिसका कोई मोल नहीं। अब पैसों से सबकुछ हासिल कर सकता है, प्यार, मित्रता, परिवार, ईमानदारी, अस्मिता, ईश्वरीयता, मान - सम्मान सबकुछ। जीवन - मुल्यों के संदर्भ में धन का जमावट भी धर्म पर आधारित होना चाहिए। अगर ऐसा नहीं है तो धन से पाये सब कुछ निरर्थक, चेतनाहीन चीजें बन जाती हैं। प्रस्तुत पक्तियों के ज़रिए कवि ने सांस्कृतिक जीवन - मुल्यों में आये विनाशकारी परिवर्तन को दर्शाया है।

बाज़ारू संस्कृति धन को महत्ता देने के कारण उनके आगे बाकी सब नगण्य है। आज हम सब चाहते हैं कि हम सबकुछ खरीदने लायक बन सके। इस अपसंस्कृति ने सांस्कृतिक नैतिकता में भारी खोट पैदा की है। पहले साहित्यकार उपनी सृजनात्मकता के ज़रिए साहित्य की सृष्टि करता था और उसे इसके लिए उपाधि भी मिल जाती थी। वह भी जनसम्मति की वजह से, वास्तव में ऐसा साहित्य काल को जीतता है। अब ऐसा नहीं, अब उपाधियों को ध्यान में रखकर उन्हीं प्रतिमानों को अपनाते हुए साहित्य का सृजन हो रहा है। अफसोस होता है कि इस धारा में सच्चा साहित्या डूब जाता है। उदय प्रकाशजी ने 'मक्खियों की आत्माएँ' नामक कविता में कहा है -

"कान लगाओ
बाज़ार के ब्रहमांड में भिनभिनाती है
ऐसे असंख्य स्वर्गीय कवियों की आत्माएँ।" [1]

सच्चा साहित्यकार कभी भी अपने साहित्य को बिकाऊ नहीं बनाता, यही सबसे बडी मुल्य च्युति है कि जोबिकाऊ नहीं उसको आज तिरस्कार ही प्राप्त

1. उदय प्रकाश - एक भाषा हुआ करती है - पृ - 23

होगा, क्योंकि आज की दुनिया बाज़ारू एवं लाभ केंद्रित संस्कृति में आगे बढ़ रही है।

बाज़ारू एवं लाभकेंद्रित संस्कृति में जीनेवाले लोगों ने अपनी प्रकृति और अपने सहज स्वाभाविक जीवन को एकदम कृत्रिम बना दिया। लोग आज सुविधाओं का गुलाम हो गया है कि वह अपने जीवन को बिना गंध रस के प्लास्टिक फूलों से सजाना चाहता है। प्लास्टिक फूलों के उपयोग से वे फूलों का मुर्झाना, सड़ा हुआ गंध आदि परेशानियों से बच जाते हैं और उसे हर दिन बदलने एवं सजाने संवारने की ज़रूरत भी नहीं होती। मनुष्य की इस लाभ केंद्रित सोच के परिणाम को दर्शा रहे है कवि रामदरश मिश्रजी अपनी 'फूल' नामक कविता में-

"लेकिन जब बच्चे ने कहा-
"बापू, मुझे फूल चाहिए
फूलों की पहचान केलिए।"
तो मैं चुप न रह सका
हृदय हाहाकर कर उठा-
"हाय, मैंने क्या कर दिया कि
बच्चे फूलों की पहचान से वंचित हो गये।"[1]

बाज़ार में प्लास्टिक के फूलों का उद्यान देखने पर कवि को लगा कि हाय! गज़ब की बात है कि बिना मौसम बदले बहार आ गयी हो। प्लास्टिक के फूल का खिलने में मौसम का इंतज़ार भी नहीं चाहिए। मिट्टी गड़ने की, खाद - पानी की कोई ज़रूरत नहीं, बस पैसा दे आपके घर भी रंगबिरंगे फूलों से भर जाएँगे।

1. रामदरश मिश्र - बारिश में भीगते बच्चे - पृ - 89

बाज़ारू एवं लाभकेंद्रित संस्कृति से आनेवाली पीढ़ी हमारी सांस्कृतिक एवं प्राकृतिक धरोहरों के कोमल स्पर्श से एकदम वंचित रह जाएगी। ऊपर उल्लिखित पंक्तियाँ इसकेलिए प्रमाण है।

बाज़ार तंत्र की लाभकेंद्रित संस्कृति ने संपूर्ण मानवीय संबंधो में गहरी दरारें पैदा की है। वर्तमान दौर के मनुष्य इतना संवेदनशून्य है कि वह हर एक संबंध को लाभ की दृष्टि से आंकता है। उनके लिए मानवीय संबंध बिना लाभ हानि के व्यापार है इसलिए इस व्यापार को आगे ले जाना भी वह नहीं चाहता कवि वीरेन्द्र इस पर 'लाभ क्या है' नामक अपनी कविता में कह उठते हैं -

"चलने दो जब तक चल सके
बाद में एक दिन तो बंद होगा ही;
क्योंकि पैसे की यह दुनिया
बिना लाभ हानि के व्यापार को,
किसी की व्यक्तिगत ज़िदगी में भी
ज़्यादा दिन नहीं चलने देती।"[1]

यह वर्तमान मानव समाज की सबसे बडी त्रासदी है। सब कहीं पैसे, लाभ, पूँजी, अधिकार, ओहदे आदि के द्वारा मानव जीवन संचालित है।

अब बाज़ार केवल चीज़ों की बिक्री करने की जगह मात्र नहीं बल्कि वह एक हिंसा की जगह है, जहाँ जिंदा मनुष्यों की पल - पल हत्या हो रही है। उसकी मानवीयता, सत्यता, स्वतंत्रता, संवेदनशीलता आदि भावनाओं की भी हत्या हो रही है। इसपर कवि लीलाधर मंडलोईजी अपनी कविता 'बोध' में बताते हैं -

1. वीरेन्द्र सकसेना - ठोस होते हुए - पृ - 29

"बाजार हिंसा के स्थल हैं
यहाँ से शुरू होता है आपका वध
और आपको अपनी मृत्यु का बोध नहीं होता।"[1]

बाजार लाभ पर केंद्रित है। इसलिए वहाँ जो लाभ की अर्थनीति चल रही है उसमें सारी अनैतिकताएँ एवं हिंसाएँ वांछनीय है।

धन केंद्रित संस्कृति में मनुष्य की भावनाओं एवं अनुभूतियों को हाशिये पर धकेलते हुए उसके हाथ में एक समय सूची दी है ताकि उसके आगे का जीवन इस समय सूची के आधार पर निर्धारित हो जाए। यहाँ समय बहुत मायने रखते हैं। अब मनुष्य की सर्जनात्मकता नहीं बल्कि उसकी कार्यकुशलता ही सबसे प्रमुख है। बाजारू एवं लाभकेंद्रित संस्कृति का यही परिणाम निकला कि मनुष्य एकदम व्यावहारिक बन गए। 'छुट्टी का कवि' में इब्बार रब्बीजी कहते हैं -

"अपने व्यस्त जीवन में
साल में एक बार
लेता है कवि छुट्टी
छुट्टी का कवि है वह
'रविवारीय कलाकार'
.....
साल भर लटकी रहती है
दफ्तर आने जाने वाली राह में
कैसे करेगा यह कुछ
दफ्तर बहुत नाराज़ है

1. लीलाधर मंडलोई - लिखे में दुक्ख - पृ - 83

छुट्टी क्यों लेता है

बेबात यह।" [1]

आज का ज़माना उसके हिसाब से चलते है। वहाँ व्यक्ति को अपने टिकाव केलिए उनकी संवेदनाएँ उन्हें भूलनी पड़ती हैं। अब कविता लिखने केलिए रविवार का इंतज़ार करना पड़ता है।

बाज़ारवाद की संस्कृति में जीनेवाले लोगों ने सिर्फ उपभोग एवं लाभ के सिद्दांत में जीवन को सीमित करके रखा है। यह संस्कृति मनुष्य को नहीं बल्कि धन को अपनाती है। धन को जीवन का महत्त्वपूर्ण अवलंब मानता है। उसके लिए कुछ भी करने में लग जाता है - 'मूल्य' नामक कविता में एकांत श्रीवास्तवजी बताते हैं -

"सिक्कों का मूल्य यहाँ सब जानते हैं

मनुष्य का मूल्य कोई नहीं जानता।" [2]

यही आज की संस्कृति है। यहाँ सिक्कों केलिए जितना मूल्य प्राप्त होता है उससे कई ज़्यादा कम गुना महत्त्व मनुष्य को प्राप्त होता है। समाज बिलकुल अर्थकेंद्रित संस्कृति के आदी हो गए है। बाज़ारू एवं धनकेंद्रित संस्कृति में सब कुछ बिकाऊ है और क्रय - विक्रय के ही योग्य है 'कदम-कदम पर' नामक कविता में ज्ञानेन्द्रपतिजी का कहना है -

"बेचो बेचो बेचो खरीदो खरीदो खरीदो

उनके संदेश के सप्तम स्वर में

डूब गयी हैं सारी पुकारें

---

1. इब्बार रब्बी - लोगबाग - पृ - 81

2. एकांत श्रीवास्तव - बीज से फूल तक - पृ - 23

क्रय - विक्रयिक उनके समवेत क्रेंकार में
तुम्हारे मस्तिष्क के खोखले गुम्बद में गूँजते
तेज़ धुन के संगति में बिला गये हैं आर्तनाद
जो तुम्हारे चौतरफ़ मँडराते हैं
तुम्हारी वेदना के केंद्रबिंदू पर।"[1]

जिस मानवीय संवेदनाओं के बदलते स्वरूप के साक्षी हैं आज हम, उस बदलाव को साकार करने में संस्कृति में आये विकराल परिवर्तनों ने भी खूब प्रभाव डाला है।

बाज़ारू एवं लाभ केंद्रित संस्कृति ने मनुष्य जीवन पर जो नकारात्मक परिवर्तन लाया है उसका परिणाम आजकल व्यक्ति भुगत रहा है। उसमें अब केवल चीज़ों के क्रय - विक्रय, लाभ-हानि, पूँजी आदि के सिवा और कोई चेतना नहीं के बराबर है। या यही कहना उचित होगा कि मनुष्य ने अपने तन, मन एवं बुद्धि को भी बाज़ार के हवाले कर दिया है। सांस्कृतिक जीवन - मूल्यों की पुनः स्थापना को लक्ष्य करते हुए समकालीन कवियों ने भी यही चेतावनी दी है कि अगर मनुष्य अपनी ज़िंदगी से बाज़ार एवं लाभ के भूत को निकालने में और भी देरी कर रहा है तो उसकी ज़िंदगी भी बिन भावनाओं की पुतली नाच बन जाएगी।

3.9 तकनीकी एवं यांत्रिक संस्कृति

आधुनिक युग विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का है। यहाँ सत्ता मनुष्य के हाथ में नहीं बल्कि यंत्रों के हाथ में है। इसका प्रभाव हमारी सांस्कृतिक धरोहरों पर भी

1. ज्ञानेन्द्रपति - कवि ने कहा - पृ - 103

पडा है। मनुष्य के दिल एवं दिमाग यांत्रिक संस्कृति के चंगुल में फँस गये हैं। आधुनिकता ने मनुष्य की चेतना में एक नयी सोच को संचालित कर दिया। वह बाहरी एवं भीतरी दोनों तरफ से इस नयी सोच के अनुसार अपने आपको सजने एवं संवारने में लगा हुआ है। इसका नतीजा है कि वह हर एक चीज़ को अपनी अनुकूलता में अपने वश में करने में लगा रहता है। इसमें हमारी प्राकृतिक संसाधन भी शामिल हुई है। इसने आदमीयता की सारी हदें पार करके सबको बदलाव के शाश्वत नियम के घेरे में छोड दिया है। आधुनिक मनुष्य यह भी नहीं सोचता है कि यह बदलाव गुणात्मक है या फिर दोषदाायक। इसमें अल्पमत की साध्यों की ही सिद्धी होती है या फिर बहुमतों की, अगर ऐसा नहीं है तो इसका जो स्वरूप आज उपस्थित है उसमें भी बदलाव लाना लाजमी हैं। किस तरह का बदलाव अवश्यंभावी है इसपर भवानी प्रसाद मिश्रजी अपनी कविता 'सत्ता और प्रभुसत्ता' में कहते हैं -

"तब फिर
इतना मानने में
क्या अड़चन है
कि हम
जो यंत्र हो गये हैं
फिर आदमी हो जायें
यंत्र न चलायें हमें
हम चलायें उन्हें
आदमी को विवश करने की दिशा में नहीं
उसे एक प्रभुसत्ता देने की दिशा में।" [1]

1. भवानी प्रसाद मिश्र - संपति - पृ - 30

यहाँ कवि सांस्कृतिक जीवन - मूल्यों को लेकर चिंतित है। वर्तमान समय में यांत्रिकी के समाज में जीनेवाले मनुष्य अपनी संस्कृति एवं जीवन - मूल्यों से दूर चला गया है। यांत्रिकी की संस्कृति ने मनुष्य से सभी संवेदनाएँ छीन ली। अब उसने अपने मन से या ज्ञानेंद्रियों से नहीं बल्कि यंत्रों से चलना फिरना यहाँ तक सोचना भी शुरू किया है। इससे उनके जीवन में मूल्यों की अहमियत कम होता गया। कवि इन मूल्यों की संस्कृति की पुनः स्थापना चाहती है।

तकनीकी संस्कृति का उदय विज्ञान के ज़रिए हुआ है। 19 वीं शदाब्दी में भारतीय समाज ने जिस आधुनिकता को अपनाया और उसी के अनुसार अपनी संस्कृति एवं जीवन मूल्यों को सजने संवारने की कोशिश की उसी के परिणाम स्वरूप लोगों की आस्थाओं में भी बदलाव आया। अब तक मनुष्य अपने जीवन की गति को जिस ईश्वरीय सत्ता के विश्वास पर आधारित होकर आगे बढाते रहे उसी ईश्वरीय सत्ता को छोडकर मानवीय सत्ता को स्थापित करने का काम आधुनिकता ने किया। इसपर कवि अरुण कमलजी ने अपनी कविता 'पृथ्वी किसलिए घूमती रही' में कहा है -

"किससे माँग रही है वे औरतें
सोने की थाली में छप्पनों व्यंजन?
किससे माँग रही हैं माताएँ
पढे - लिखे बेटे - दामाद?
किससे, किससे वे माँगते हैं
जीवन की ज्योति
.....
सूर्य के चारों ओर

घूमती रही जीवन भर पृथ्वी
फिर भी जब चैन नहीं
तो सिर्फ पाँच फेरों से सुनेगा सूर्य कब
इतनी प्रार्थनाएँ।" [1]

कवि यहाँ लोगों की अंध आस्थाओं को चकनाचूर कर रहे हैं। उनका मानना है कि आज भी हम इस अंधविश्वास में डूबे रहे हैं कि ईश्वर से माँगने पर प्रार्थना करने पर हमारी सभी ख्वाहिशें पूरी होगी जबकि कवि यह सिद्ध करना चाह रहे हैं कि कोई देव नहीं जो तुम्हारे लिए छप्पन व्यंजनों की व्यवस्था कर सके, पढे - लिखे दामाद एवं बेटे और सुख भरा जीवन प्रदान कर सके। तुम्हें सुख शांति एवं चयन की जिंदगी इस धरती पर तुम्हारी कर्मठता के आधार पर ही प्राप्त होगी। कवि पुरानी रूढ़ियों एवं जजर्रित परंपराओं को तोडना चाहते हैं।

वैज्ञानिक प्रगति के वर्तमान समाज में जीनेवाले लोगों की सबसे बडी विसंगति हैं कि उन्हें कभी फुर्सत नहीं मिलता। वह ज़िंदगी को लेकर भागता रहा है। काम से फुर्सत नहीं, दायित्वों से फुर्सत नहीं। जब अपने सभी दायित्वों को निबटाने के बाद कुछ समय केलिए वह आराम की ज़िंदगी बिताने केलिए निकाल देते हैं, तब जीवन शैली रोग उन्हें पकड़ने लगते हैं। कवि परमानंद श्रीवास्तवजी ने 'फुर्सत में' नामक कविता में मनुष्य की इस भागदौड को लेकर यों लिखा है -

"वे सोचने लगे फिर से
रक्तचाप के बारे में
चलो आज ही डॉक्टर के यहाँ

1. अरुण कमल - अपनी केवल धार - पृ - 31 - 32

चलते हैं
यह कहना ज़रूरी नहीं रह गया था
कुछ देर पहले
उड़ने को आतुर
उनकी आत्माएँ
सूखी पत्तियों की तरह
चुरमुरा रही थी।"[1]

यह आज की संस्कृति का दृष्परिणाम हैं। लोग आज कल अपने शरीर एवं जीवन को लेकर ज़रा भी सतर्कता नहीं बरतती। खूब खाते हैं, खूब पीते हैं, मौज मस्ती करते हैं बिना आराम की ज़िंदगी बिताते हैं परिणामत : 60 के उम्र पहूँचने से पहले ही शरीर उसका साथ देना छोड देता है। जब आराम करने की फ़ुर्सत मिल जाती है तब तक जान बचाना आज की संस्कृति में संभव नहीं होता है।

वर्तमान भारत मशीनों की भीड़ के बीच रह रहे हैं। जब चाहे इस संसार में जो कुछ हो रहा है इसका पता लगाना बहुत ही आसान बन गया है। एक बटन दबाने से विश्व भर की खबरें हमारे सामने उपस्थित हो जाती है। टेलिविज़न ने दुनिया भर की घटनाओं से हमें जोड़ दिया है। यह सब मनुष्य केलिए सुविधाजनक तो हैं लेकिन इसकी दुष्परिणति यह हुई कि सुदूर देशों की घटनाओं से परिचित होनेवाले हम अपने आसपास की घटनाओं से बिलकुल अनभिज्ञ रहने लगे। घटना या हादसा कितनी भी भीहड हो फिर भी हमारे अंर्तमन को छूने की शक्ति इसमें नहीं है। लोग खुशी - खुशी इन घटनाओं को देख रहे हैं। चीज़ों से भरी आधुनिक जीवन में मानवीय संवेदनाएँ भी वस्तुवादिता के चंगुल में फँस गयी है।

---

1. परमानंद श्रीवास्तव - चौथा शब्द - पृ - 95 - 96

मशीनी संस्कृति के आदी हुए मनुष्यों से कवि परमानंदजी 'जड़ में चीज़ें' नामक कविता में बताते हैं -

"एक दिन आग लग जाएगी
टेलिविज़न के पर्दे पर
जब लोग
चीख चीखकर भागेंगे
वहाँ नहीं
वहाँ नहीं
जहाँ टेलिविज़न की
मरम्मत की जाती है
वहाँ
जहाँ चीजें
जड़ में है।"[1]

टेलिविज़न में आदिवासियों पर हम्ला दिखाया जा रहा है; पुलिस का जुल्म दिखाया जा रहा है, महाजनों की मस्ती दिखाई जा रही है, हरिजनों की बस्ती जलाती हुई दिखाई जा रही है, अस्मत लूट गयी स्त्री को दिखाई जा रही है यह सब देखने वाले लोगों में कोई संवेदनाएँ नहीं उभर रही हैं, क्योंकि वे मशीनी संस्कृति में जी रहे हैं। वे भी टेलिविज़न के समान एक मशीन एक चीज़ बन चुके हैं।

तकनीकी एवं यंत्रीकृत संस्कृति ने कई चीज़ों का आविष्कार किया है। यही नहीं पूरी दुनिया को चीज़ों से भरा दिया। अब सबकुछ हमारे सामने मौजूद है। चीज़ों की इस वायवी दुनिया ने और मशीनों से भरे समाज ने मनुष्य से उसका सहज

1. परमानंद श्रीवास्तव - चौथा शब्द - पृ - 103

स्वाभाविक जीवन हड़प लिया। अब सब कहीं इस्पात, फाइबर और अज्ञात यौगिक धातुओं की तमाम अपरिचित और अभूतपूर्व चीज़ें नज़र आ रही हैं। कवि उदय प्रकाश जी ने कहा है -

"बैटरी का हनुमान उठा रहा है प्लास्टिक का पहाड़
और बच्चों के हाथों में बोल रही है कोई
डरावनी चीज़-डींप.....डींप....डींप .....।" [1]

प्रकृति में जो सहज स्वाभाविक रूप से उपस्थित है उसका नष्ट होना आजकल इतनी खतरनाक परिस्थिति नहीं क्योंकि आज विज्ञान एवं तकनीक इतना आगे बढ़ चुका है कि सब कुछ अगर हम चाहें तो डूप्लिकेट मिल सकते हैं। संस्कृति का विनाशकारी विध्वंसक रूप का आविष्कार भी इन तकनीकों से हुआ है। मशीनी संस्कृति की बनावटीपन से मुक्त होना आज नामुमकिन हो गया है।

वैज्ञानिक प्रगति का असर मनुष्य के दैनिक जीवन में किस हद तक पड़ रहा है इसकी पहचान हमें टेलिविज़न के आविष्कार से तो पता चल रहा है। विज्ञापन का सीधा प्रभाव मानव जीवन में डालने का काम टेलिविज़न ने किया। आज विज्ञान इतना असरदार बन गया है कि लोगों ने स्मार्टफोन एवं नेट बैंकिंग के सहारे बाज़ार की सारी चीज़ों को घर में घुसने दिया है। टेलिविज़न में सभी समस्याओं का हल उपस्थित है। मंत्र, तंत्र आदि से जुडे हुए विज्ञापन भी इसमें हम देख सकते हैं। सबसे ज़रूरी बात यह होती है कि जो विज्ञापन वे दे रहे हैं उसमें यह चेतावनी भी देते हैं कि जो चीज़ें या जो कार्य वे दिखा रहे हैं उसके खरेपन की ज़िम्मेदारी उस कंपनी के ऊपर है जो चैनल यह दिखाता है वे इसके लिए

1. उदय प्रकाश - रात में हारमोनियम - पृ - 21

ज़िम्मेदार नहीं। जाने अनजाने आम जनता भी इसमें फँस जाते हैं। कवि रघुवीर सहायजी ने 'स्त्री का भय' नामक कविता में बता रहे हैं -

"अहा! अहा!
टेलिविज़न
उस पर औरत आकर बताती है कि वह औरत को अपने
और महँगे दाम हासिल करने में कैसे मदद देती है
और दूसरी औरतें देख कर खुश होती है।"[1]

वास्तविकता यह है कि हमें इस सच्चाई से वाकिफ होना आजकल बहुत ज़रूरी बन गई है कि ये विज्ञापन हमारी इज्जत, संवेदना सब को बाज़ारी बना रहा है।

नई टेकनोलजियों के आर्विभाव के कारण मानव जीवन से गैरज़रूरी जैसे शब्द निकल चुके हैं। आजकल सबकुछ ज़रूरी बन गई। अब नए-नए आविष्कारों के तहद मानव जीवन आगे बढ रहा है। आज की सभ्यता ने ईश्वर को अप्रमाणित घोषित करके सहज - स्वाभाविक मानव जीवन तो एकदम वैज्ञानिक तर्क-वितर्कों के हवाले कर दिए हैं। आज सभी संबंधों का डोर संभालनेवाले का काम तकनीक ने अपने ऊपर ले लिया है। 'टेलिफोन' नामक कविता में उदय प्रकाशजी कहते हैं -

" धन्यवाद टेकनोलॉजी
कि सबसे गए-गुज़रे कवि को भी तो दिया ही है एक टेलिफ़ोन
काँपती हुई कभी - कभी आती है

1. रघुवीर सहाय - एक समय था - पृ - 108

बमियान के पहाडों से उसकी आवाज़ ।" [1]

प्रस्तुत कविता में कवि ने तकनीक का बुरा प्रभाव कैसे हमारी संस्कृति एवं जीवन - मूल्यों पर पडा इसका उल्लेख किया । तकनीकी सुविधाओं से एकदम दूर रहने को चाहनेवाली पीढ़ी आज भी है हमारे समाज में ।

हम जिस तकनीकी एवं यांत्रिक संस्कृति के हिस्सेदार बन चुके हैं उसमें कभी भी किसी को जीने की फुर्सत नहीं मिलता है । सब कहीं तेज़ रफ्तार है लोग यंत्रों के तरह चल रहे हैं । महीने की पहले तारीख से लेकर अंतिम तारीख तक खर्चे का हिसाब लगाता रहता है । इस यांत्रिक जीवन को देखकर कवयित्री अनामिकाजी ने 'कोहबर' नामक कविता में लिखा है -

"खर्चें - बर्चें का हिसाब अभी बाकी है
बाकी है हलवाई और टेण्ट हाउस की रुखसती!
अण्ट - शण्ट सूझ रही है सबको
मरने की फुर्सत भी मुझे नहीं ।"[2]

अनामिकाजी यहाँ संस्कृति में आये खतरनाक परिवर्तन को दिखा रही है । मनुष्य केलिए सबसे ज़रूरी बात जीना है बाकी सब उसके माध्यम है धन, काम, बाकी सुविधाएँ लेकिन आज के लोग जान को खतरे में डालकर भी पैसे एवं सुविधाओं के पीछे भागते रहते हैं ।

विज्ञान की सबसे बडी विशेषता एवं कमी उसकी तार्किकता है । वह कुछ शर्तों पर आधारित है । उसमें से एक कदम आगे और पीछे नहीं हटता । विज्ञान ने संदेह को भी सार्वजनिक बनाया जैसे भीड़ भरी दूकानों में वीडियो कैमरा

---

1. उदय प्रकाश - एक भाषा हुआ करती है - पृ - 39
2. अनामिका - अनुष्टुप - पृ - 33

लगाता है। कवयित्री अनामिकाजी ने 'चादर' नामक कविता में ईमान पर संदेह लगानेवाली संस्कृति पर यों लिखा है -

"जैसा कि
भीड़ - भरी दूकानों में होता है
आपके ईमान पर
संदेह फरमाताः
'आप वीडियों कैमरे की
निगाहों में है।'
यह वक्त कैसा है, ख्वाजा -
सबको
सब पर
शक - सा रहता है !
बाज़ार में
घर में और दोस्तों में भी
एक शर्तनामा - सा बँटता चलता है!
शर्तों के परे
क्या नहीं कुछ भी?
कुछ भी
नहीं होता क्या यों ही
उम्मीदें, तर्कों या
शर्तों के पार
और बेमतलब?।"[1]

आज की संस्कृति जिसे सबसे ज्यादा लोकप्रियता मिल रही है वह ऐसी ही शर्तों की संस्कृति है, जहाँ मानवीयता एवं मूल्यों केलिए जगह मिलना मुश्किल है।

1. अनामिका - खुरदुरी हथेलियाँ - पृ - 39

विज्ञान ने मानव जीवन को सुविधाओं से और तर्क वितर्कों से जोड दिया। लेकिन इसकी वजह से मानवीय मूल्यों एवं मानवीय संवेदनाओं पर धक्का लगा। मनुष्यता के अर्थ से मनुष्य कोसों दूर चला गया। इसपर 'तर्पण' नामक कविता में अनिता वर्माजी ने यों लिखा है -

"मनुष्य ने संदेह किया मनुष्य पर
उसे बदल डाला एक जंतु में
विश्वास की एक नदी जाती थी मनुष्यता के समुद्र तक
उसी में घोलते रहे अपना अविश्वास
अब गंगा की तरह इसे भी साफ करना मुश्किल
कब तक बचे रहेंगे हम इस जल से करते हुए तर्पण।" [1]

जब विज्ञान ने विश्वासी मानव को अविश्वासी बना दिया। उसी प्रकार विज्ञान ने मनुष्य के ऊपर से मनुष्य का विश्वास भी उड़ा दिया। विश्वास की अस्मिता को भी मिटा दिया। अब विश्वास भी अपने रंग बदलने लगा है।

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की चमकदार दुनिया ने 21 वीं सदी के मानव जीवन पर खूब प्रभाव डाला है। विज्ञान की यांत्रिकता ने मनुष्य को चेतनाहीन बना दिया। इस यथार्थ को दर्शानेवाली बहुत ही संवेदनशील कविता है 'बस कैमरा था' इसमें कवि लीलाधर मंडलोईजी का कहना है-

"शीशे के तलवाली नाव से मंत्रमुग्ध निहारता रहा
भित्ति, मूँगा और प्रवाल पुष्पों की अलौकिक दुनिया
स्वच्छंद विचर रही थी जहाँ अनगिनत खूबसूरत मछलियाँ

1. अनिता वर्मा - एक जन्म में जब - पृ - 73

.....

बस कैमरा था जो विस्मृत - गूँजता रहा। क्लिक की लगातार ध्वनि से
लौटकर पहूँच गया सीधे दोस्त के स्टूडियो में
इतना आतुर कि देख सकूँ चित्रों में तब्दील होती वह दुनिया
सामने आते ही लगा आत्मा को अप्रत्याशित झटका
चित्रों में सब था - समुद्री पुष्प, मछलियाँ और लहरों का छायाभास भी
बस सिरे से गायब था जीवन।" [1]

यहाँ कवि ने विज्ञान की वायवीयता एवं यथार्थ से प्राभावित मानव का चित्र खींचा है, अर्थात् तकनीकी आविष्कारों के प्रभाव से जिस प्रकार मनुष्य जीवन की सुंदरतम मौकों को कृत्रिम रूप में अपने साथ सदा बरकरार रखने की कोशिश करता है, फिर भी इसकी जीवंतता एवं सादगी को, सहजता को कितनी भी कोशिश करे बनाये रखने में वह असमर्थ बन जाता है। क्योंकि समुद्र के अंदर जो अहसास कवि को हुआ है वही अहसास का अनुभव कैमरे से खींचे गए समानुरूप चित्रों केद्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। यहाँ कवि यही समझाना चाहते हैं कि कृत्रिमता से भी बेहतर प्रभाव मनुष्य को अपनी निजी अनुभवों से होता है। लेकिन आज कल लोगों को अनुभव की वास्तविकता नहीं बल्कि तकनीकी कृत्रिमता ही रुचिकर लगने लगा है। तकनीकी यंत्रवादी संस्कृति में फँसकर जीवन की सहजता एवं सादगी को खोने के लिए विवश पीढ़ी का चित्रण लीलाधर मंडलोईजी की 'ठिठकना मेरा कहीं दर्ज नहीं' नामक कविता में मिलता है।

" .....

हमारे चारों तरफ कम्प्यूटर का बाड़ा है
दर्ज करता सब कुछ जो कहीं हरकत में हैं

1. लीलाधर मंडलोई - देखा अदेखा - पृ - 73

.....

सिर्फ संदेह का मेरा अंधकार है बेचेहरा
जिसे देखने को ढूँढता हूँ कि हो कहीं
एक नीम पागल की बड़बड़ाहट
एक उद्धिग्न औरत का संशय
एक अदृश्य हो चुकी नदी की कराह
सबका सब यंत्र-तंत्र जबकि दुरुस्त
ठिठकना मेरा कहीं दर्ज नहीं।"[1]

अब तो मनुष्य का इस यंत्रों एवं तत्रों की अपसंस्कृति से बच पाना नामुमकिन लग रहा है। मशीनी संस्कृति के चक्कर में अब तो मनुष्य का दुरुस्त ठिठकना एकदम सपना बन गया है।

अतः तकनीकी एवं यांत्रिक संस्कृति के प्रभाव से मशीनों में तब्दील हुए मनुष्य समाज के उद्धार की कोशिश समकालीन कवियों की कविताओं में देख सकती है । इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर इन कवियों ने सांस्कृतिक जीवन मूल्यों की पुनः स्थापना पर ज़ोर दिया है।

3.10 लाभ केंद्रित संस्कृति और प्रकृति

उत्तराधुनिकता की लाभ केंद्रित संस्कृति में जीनेवाले आज के मानव समाज की आँखों में प्रकृति के प्रति जीव जंतुओं के प्रति यहाँ तक दूसरे व्यक्तियों के प्रति कोई मानवीय भावनाएँ नज़र नहीं आती हैं। वह एकदम पैसों के प्रेमी बन चुका है। उसका एकमात्र लक्ष्य किसी न किसी प्रकार संपत्ति बटोरना होता हैं। इसके लिए वह कोई भी तरीके अपना सकता है। जिस प्रकार वह धन को बटोरता

1. लीलाधर मंडलोई - देखा अदेखा - पृ - 80

है उसी प्रकार प्राकृतिक संपत्ति को भी अपने इच्छानुसार अपनी कामनाओं केलिए नियंत्रण में रखना चाहता है। इस अमानवीयता एवं अप संस्कृति पर भवानी प्रसाद मिश्रजी की कविता 'प्रवाह परिवर्तन' बोलती है -

"नदी पहले
अपनी गति में बहती थी
कि बहले मन तटों का
.....
.....
मगर अब वह
अपनी गति में नहीं
हमारी तुम्हारी अति में बहती है
बाँधी जाकर
और काटी जाकर
इसीलिए
इस तरह बह रही है नदी
जैसे रुपया बहता है!"[1]

जिस प्रकार मानव ने धन पर अपना कब्जा कर लिया है, उसी धन के सहारे अब वह प्राकृतिक संपदाओं पर भी अपनी सत्ता चला रहा है। इससे सांस्कृतिक जीवन मूल्यों में बहुत बडा परिवर्तन आ गया। अब पूजनीय प्रकृति भी मानव केलिए गुलाम एवं दासी बन गई। मनुष्य तय करता है नदी को कहाँ से होकर कहाँ तक बहना है। पेडों को कहाँ उगना है, बारिश को कब आनी है, धूप को कहाँ तक पहूचना है। इस प्रकार मनुष्य का प्रकृति पर हस्तक्षेप से अब कहीं

1. भवानी प्रसाद मिश्र - संपति - पृ - 82

भी नदी नहीं, पहाड़ नहीं, जंगल नहीं, सब कहीं सूखा है, भौमताप में वृद्धि हुई है। प्रकृति में जो परिवर्तन हो गया है इन सबका नियंत्रण मनुष्य की पकड से एवं उनके द्वारा इकटे हुए धन की पकड़ से कोसों दूर है। इस पर नियंत्रण लगाने केलिए सांस्कृतिक जीवन - मूल्यों का संरक्षण अनिवार्य है।

भारत का प्राकृतिक धरोहर अर्थात् यहाँ से बहनेवाली नदी, घने जंगल, ऊँचे पहाड़, विस्तृत समतल सबकुछ यहाँ की संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग है। उपनिवेशवादी संस्कृति में जीनेवाले भारतीय समाज केलिए गंगा आज पुण्य नदी नहीं है। मनुष्य के पापों को धो-धोकर,वह खुद मैली हो गई है। मनुष्य के बुरे करतूतों से अब गंगा विषैली बन गई है। अरुण कमलजी ने अपनी 'गंगा को प्यार' नामक कविता में इस सच्चाई को हमारे समाने व्यक्त किया है कि एक दिन ऐसा भी आयोग कि गंगा के ऊपर उड़ता पक्षी विष की धाह से झुलस जाएगा। प्राकृतिक धरोंहरों पर मनुष्य के हस्तक्षेप को लेकर कवि लिखते हैं -

"षड़यंत्र
गंगा के साथ भी षड़यंत्र
हिमालय के साथ
पृथ्वी नक्षत्र समस्त मण्डल के साथ।" [1]

आज हम एक ऐसी संस्कृति के अनुकर्ता है जहाँ वैयक्तिक हानि - लाभ ही मानवीय संबंधों की डोर खींच रहा है। जिस संस्कृति ने प्यार को अपने से अलग कर दिया उस संस्कृति में गंगा, मातृभूमि एवं तारों केलिए अहमियत मिलना कैसे मुमकिन होगा।

---

1. अरुण कमल - अपनी केवल धार - पृ - 64

प्रकृति हमारी साँस्कृतिक धरोहर है। पेड, पहाड, नदियाँ, रेतेली ज़मीन सब कुछ प्रकृति प्रदत्त है। मानव जीवन में इन सबकी अहम भूमिका है। मानव जीवन में ही नहीं संसार के सभी चराचरों की ज़िंदगी में प्रकृति की महती भूमिका है। एक पेड कट जाने से उसपर निर्भर कई जीवजालों का आवास भी नष्ट हो जाता है। मनुष्य अपनी उपभोगवादी मानसिकता से प्रेरित होकर प्रकृति की संपत्ति पर विवेकरहित हस्तक्षेप कर रहा है। 'शाप' नामक कविता में विष्णु खरेजी प्रकृति के संतुलन नष्ट कर देनेवाले आज के विवेकशून्य मनुष्य पर प्रकृति का प्रकोप दिखाया है -

"बादल और नदियाँ सूरज हवा और धरती से मिलकर
अपना निर्मम और व्यापक बदला लेते हैं
बारी - बारी से कभी सुखाते हुए कभी डुबोते हुए
और तपते हुए मैदानों या डूबे हुए आसरों में
छोड़ जाते हैं सूखी या फूली हुई काली लाशें
ज्यादातर असहाय बच्चों औरतों आदमियों और अपाहिजों की।"[1]

हमारी संस्कृति में आये बदलाव का बुरा प्रभाव प्रकृति पर भी पड़ा। लाभ की अनियंत्रित इच्छा से प्रेरित होकर मनुष्य जंगलों को साफ करने, नदियाँ और अन्य जलस्रोतों को मैला करने में पहाडों को समतल बनाने की साजिश में लगे रहते हैं। अंततः बारिश की बूँदें बादल की निशानें आसमान से मिट गई; सूर्य और भी तेज़ जलने लगे, सूखा, बाढ़ आदि से प्रकृति अपना बदला ले रही है।

लाभ केंद्रित संस्कृति ने प्रकृति का गलत फायदा उठाने में कोई कसर नहीं छोडी है। मनुष्य की दखलन्दाजी ने किस प्रकार प्रकृति को बाधा पहूँचायी है

1. विष्णु खरे - पिछला बाकी - पृ - 87

इसका चित्रण पृथ्वी नामक कविता में काफी विस्तृत दंग से उपलब्ध है। जिस पृथ्वी पर हम जी रहे हैं उसकी जलवायु की रक्षा करना हमारे जीवन की रक्षा करने के समान है। उसपर निष्ठुरता के साथ व्यवहार करना सांस्कृतिक अपचय होता है। हमारी संस्कृति प्रकृति के इतने निकट है कि हम पंच भूतों के नाम पर वास्तव में प्रकृति की ही पूजा कर रहे हैं। आज के स्वार्थी मानव अपने स्वार्थ केलिए प्रकृति को ठेस पहूँचा रहे हैं। कवयित्री अनिताजी कहती है-

"हमने तुम्हें नहीं रखा हरा -भरा
बहुत शोर पैदा कर दिया
नदियों को बाँधा और डूबें दी धरती
अब हम उन्नत हैं
रहा नहीं कोई चारा
नीचे गिरने के सिवा।"[1]

अब प्रकृति के रूप, रंग, रस लाभ केंद्रित संस्कृति में बह गए हैं। प्रकृति की हरियाली काँनक्रीट के मकान ने छीन लिया। नदी को फैक्टरियों ने गंदी एवं विषैली बना दी। वायु को गाडियों के रफ्तार से प्रदूषित होना पडा। इन सबका असर सकल चराचरों के जीवन में भी पड़ रहा है, लेकिन अब भी मनुष्य का प्रकृति पर हस्तक्षेप जानबूझकर या अनजाने में होता रहता है। इसके पीछे का महत्त्वपूर्ण कारण हमारे सांस्कृतिक जीवन - मूल्यों में आ गए बदलाव ही है।

बाज़ारीकरण के तहद जो परिवर्तन हमारे समाज में उपस्थित हुआ उसका सबसे बुरा असर प्रकृति पर पड़ा। सभी प्राकृतिक धरोहरों को भूमंडलीकरण ने मिटा दिया। जंगलों को कटकर मकानों से भरा दिया। डयूरिज़म के नाम पर

1. अनिता वर्मा - एक जन्म में जब - पृ - 93

प्रकृति पर होनेवाले अत्याचार भी आजकल बहुत बढ चुका है। अब कहीं भी बाग नहीं, खेत नहीं, पेड नहीं। बाग देखने केलिए मालों में या flowershow में जाना पड रहा है। वहाँ हम कीमती फूलों का छोटा गुच्छा देख सकते हैं। कवि रामदरश मिश्रजी ने अपनी कविता 'बाग' में इसपर अफसोस प्रकट किया है। कवि का कहना है-

"यहीं कहीं वह बाग था
किंतु अब यहाँ
या तो खेत दिखाई दे रहे हैं
या तरह- तरह की दूकानों का स्थायी बाज़ार
यह क्या किया लोगों ने
कि पेडों की सामूहिक छाया काटकर
नंगे आसमान के नीचे
अपने - अपने बाज़ार बन लिया हैं
वे नहीं जानते कि
बाज़ार केलिए भी पेड़ ज़रूरी होते हैं।"[1]

आज का मानव जीवन व्यावसायिक लाभ- हानि को मानकर चलते हैं। हम सबको यह जानकारी है कि प्रकृति पर हम जो गलत व्यवहार कर रहे हैं इससे संपूर्ण मानव जाति एवं सर्व चराचरों के जीवन को हानि पहूँचा सकते हैं। इस खतरे से बेहद परिचित होते हुए भी हम प्रकृति से अपनी बुरी नज़रें नहीं बदल रहे हैं।

बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने अपनी पैनी दृष्टि से लाभ की लालच में पड़कर भारत

1. रामदरश मिश्र - बारिश में भीगते बच्चे - पृ - 15

की प्राकृतिक संपदा पर अमानवीय हस्तक्षेप किया है। इसका परिणाम आज संपूर्ण मानव समाज भुगत रहा है। 'काला पानी' नामक कविता में लीलाधर मंडलोईजी का कहना है-

"उसका जल
दूसरे समुद्रों की तरह है
उसे 'काला पानी'
गोरों ने बनाया।" [1]

विकास के नाम पर हम जितनी छूट बहुराष्ट्रीय कंपनियों को देते रहे उतनी ही तेज़ी से वे हमारे सांस्कृतिक एवं प्राकृतिक धरोहरों पर हमला करने में लग रहे हैं।

पानी, वायु, मिट्टी सब आजकल प्रदूषित है। उसे मैले बनाने वाले मनुष्य ही है और वह खुद शुद्ध पानी, शुद्ध वायु, शुद्ध मिट्टी आदि से युक्त परिवेश में जीना चाहता है। खुद भूमंडलीकरण के खिलाफ है फिर भी घर को चीज़ों से भरा देता है। जो शुद्धता एवं पवित्रता उसने खो दिया है उसे वापिस पाने केलिए आज मनुष्य मुफ्त में मिलनेवाली चीज़ों केलिए भी खर्चा कर रहा है । जिस उपयोगितावादी एवं भूमंडलीकरण ने प्रकृति के शोषण की संस्कृति को कायम किया वह आज सभी चराचरों के जानलेवा बन गया है।

3.11 महानगरीय संस्कृति

हमारी सांस्कृतिक अस्मिता में जो बदलाव आया है यह हमें गाँवों का शहर में तब्दील होने की प्रवृत्ति में दृष्टिगोचार होता है। गावों में जो शुद्ध सहज -

1. लीलाधर मंडलोई - लिखे में दुक्ख - पृ - 75

स्वाभाविक, स्नेह एवं आर्द्रता की भावनाएँ देखी जा सकती है वह शहर के भागदौड में हम नहीं देख पाएँगे। यहाँ शहरी लोगों को नीचा दिखाने की कोशिश कदापि नहीं किया जा रहा है। हर एक तत्त्व के दो पहलू होते हैं जैसे गावों में वाँछित सुविधाएँ नहीं है वहाँ शहर ने लोगों को सभी सुविधाएँ दे दिया है, लेकिन साथ ही साथ उसमें जो मानवीयता का गुण था उसे भी मिटा दिया। सारी नैतिकताओं को छीन लिया। मनुष्य को एकदम स्वार्थी बना दिया। संकुचित होकर जीने के आदि हो गए लोग। शहरीकरण का और एक नतीजा यह भी है कि लोग मौज मस्ती के लिए कई तरीके अपनाने लगे। 'जाने की जगहें' नामक कविता में रघुवीर सहायजी कहते हैं -

"उसने कहा : मैं कहीं जा रहा हूँ
क्या दफ्तर?
घर और दफ्तर के बीच बहुत सी जगहें हैं-
हा हा हा
मैंने हँस कर कहा कि मैं जानता हूँ
गाँव से आए बुद्धिजीवी को
शहर का वैभव और अश्लीलता आकर्षित करती है।" [1]

शहर में सबके लिए एक खुला वातावरण उपस्थित है, जो गाँवों में प्राप्त होना मुश्किल है। शहर में रहनेवाले अपनी खुशियों के बारे में सोचते है, जहाँ गाँव के लोग सबकी खुशी चाहते हैं। इसलिए उन्हें अपने वैयक्तिक पसंद और नापसंद को दबाकर रखना पड़ता है। जब इस दबाव को एक खुला वातावरण मिल जाता है, तब वे जाने अनजाने इस प्रवाह में पड़ जाते हैं। समझ लेते हैं कि

1. रघुवीर सहाय - एक समय था - पृ - 91

मेरी खुशी इसी में हैं। वैसे ही 'स्त्री का भय' नामक कविता में रघुवीर सहायजी कहते हैं -

"कपडे - कपडे - कपडे जहाँ गाँव से भागे आते हैं
पुरुष अन्न की खोज में, वहाँ
कपडे ही कवच हैं शहर के लोगों के।"[1]

शहर एक इंद्रजाल है। अन्न की खोज में आनेवाले भी इस इंद्रजाल में फँस जाते हैं। एकदम रंगबिरंगे ज़िंदगी, लेकिन गहराई में झाँकने से पता चलता है कि यहाँ इस रंगबिरंगेपन के बिना कुछ बचा ही नहीं है। शहर के लोग एकदम संवेदनशून्य है।

महानगरीय जीवन संकुचितताओं एवं वैयक्तिक लाभ स्वार्थ आदि पर आधारित है। कोई भी किसी के प्रति प्रतिबद्धता ,हमदर्दी की भावनाएँ नहीं रखतीं। इनसानियत, ममता, प्यार,दया,करुणा आदि भावनाओं का एकदम उचित विलोम शब्द है 'शहर' इसपर रवीन्द्रनाथ त्यागीजी कहते हैं -

"गला काटते वकील, पेट काटते सर्जन
भेडियों जैसे दलाल, बकरियों जैसी मुलायम लड़कियाँ
भालू जैसे ठेकेदार, गैंडे जैसे व्यापारी
तपेदिक से बीमार बूढ़ा कलाकार
हड़ताल, नारेबाजी और वजीरों की कोठियाँ
नरभक्षी चीते की माँद
उस शहर में सड़कों और दरिन्दों के सिवा
और कुछ था ही नहीं।"[2]

---

1. रघुवीर सहाय - एक समय था - पृ - 108
2. रवीन्द्रनाथ त्यागी - सलीब से नाव तक - पृ - 77

हर किस्म की क्रूरताओं को दिखानेवाले प्रतीकों को कवि ने प्रस्तुत पंक्तियों में स्थान दिया है। हिंसा, अन्याय, गुंडागिरी आदि सभी अनैतिकताओं को पालने का मौका शहर में यूँ ही प्राप्त हो जाती है।

महानगरीय सभ्यता के वर्तमान समय में द्वारिका जहाँ कृष्ण का जन्म हुआ था, फूलों से,पहाडों से, नदियों से, वृदावनों से ,बाँसुरी की धून से भरपूर वातावरणवाली द्वारिका आज दिल्ली की प्रदूषित वातावरण का एक छोटा सा मुहल्ला बन गया है, भ्रष्टाचार एवं अनैतिकताओं का महानगर है, वहाँ पहूँचे सुदामा से कवि कुँवर नारायणजी कहते हैं -

"बहुत भोले हो सुदामा,
नहीं समझोगे इस कौतुक को ....
मत भूलो अपने गाँवों को
जिनके विश्वासों की धूप -छाँह में कहीं
अभी भी बची है
एक जगमगती द्वारिका
जिसमें रहता है कहीं
तुम्हारा वह पुराना सखा
जिसके साथ तुम
बचपन में खेला करते थे, और जो
केवल एक खिलौना नहीं।" [1]

आज कोई सुदामा अगर अपने सखा को ढूँढते दिल्ली पहूँचे तो उनके पास मुट्ठी भर चावल काफी नहीं होगा। वो तो द्वारापाल के बाख़्शीश केलिए भी काफी

1. कूँवर नारायण - हाशिए का गवाह - पृ - 107

नहीं होगी। नहीं होगी बाँसुरी की धुन सिर्फ गाडियों की भद्धी तड़क - भड़क सुनाई देगी, बडी - बडी इमारतें होगी। मनुष्य के नाम पर कई कठपुतलियाँ भी शहर में मिल जाएगी।

महानगरीय संस्कृति के उत्तराधुनिक दौर में जीनेवाले लोगों की ज़िंदगी की सबसे बडी विसंगति उनके सहज जीवन का नष्ट होना होता है। महानगरीयता के विस्तार ने मानवीय जीवन को संकुचित कर दिया। उनके परिवेश की विशालता को भी नष्ट कर दिया। सभी लोग अपने में सिमट गया है। हमारा सारा गाँव अब खेतों से नहीं बल्कि बहुमंज़िले फ्लैटों से भरा पड़ा है। वहाँ के लोगों ने सुविधाओं की खोज में गाँव के सुंदर वातावरण को नगर की प्रदूषित एवं नशीले वातावरण में बदल डाला। अब बच्चे विशाल मैदान में नहीं बल्कि फ्लैटों की संकीर्ण बरामदे में या टेरस में खेल रहे हैं, नदी में नहाने के बजाय स्विमिंगपूल में उछल कूद कर रहे हैं 'बच्चों की चित्रकला प्रतियोगिता' नामक कविता में राजेश जोशीजी कहते हैं -

"चीज़ों को बनाते चले जाने के उत्साह में
इतना ज़्यादा भर गया चित्र
कि गेंद को रखने की कोई जगह ही
नहीं बची चित्र में
तब समझ आया उन्हें
कि बडों ने कैसी - कैसी गल्तियाँ की हैं
इस दुनिया को बनाने में।" [1]

बच्चे चित्रकला प्रतियोगिता में चित्र खींच रहे हैं उन्होंने सबका चित्र

1. राजेश जोशी - नेपथ्य में हँसी - पृ - 26

बनाया सूर्य, चद्र, पहाड, पेड़, नदी, झरना, मकान, सड़क, पुल आदि सब और यहाँ तक उन चीज़ों का भी चित्र बनाया कि जिसका निर्माण ईश्वर ने नहीं किया हो जैसे बसें, स्कूटर, कार, साइकिल चलाते और पैदल चलते लोग आदि, लेकिन इन सबको बनाने की झटपटाहट में चित्र में गेंद को रखने केलिए खाली जगह ही नहीं बची। कवि ने यहाँ कई प्रतीकों के सहारे महानगरीयता की कमियों को दिखाया है।

गाँवों की कोमलता, शीतलता, शांत एवं शुद्ध वातावरण की उम्मीद हम शहरीय संस्कृति में नहीं देख सकेंगे। परंतू आज के कामचोर लोगों को कोमलता, शीतलता, शांत एवं शुद्ध वातावरण से भी बढ़कर सुविधाएँ चाहिए। वे पैदल चलना ही नहीं चाहते, पाँव पर खींचड़ लगना उनके लिए असहनीय है। बिना रोशनी के वे नहीं रह सकते है यही नहीं वे मानवीयता की भावना को भी बरकरार रखना नहीं चाह रहे हैं - महानगरीय सभ्यता के विकृत चेहरे को खींचते हैं कवि रामदरश मिश्रजी अपनी 'कुछ देर तो' नामक कविता में -

" लगातार धँसता गया कांक्रीट के हसीन जंगल में
जहाँ न मौसम थे न ऋतुएँ
न जाडे की धूप थी न गर्मी की छाँह
जहाँ सदाबहार रोशनी थी
सदाबहार फूल पत्तियाँ थी
और मैं भूल गया था
कहाँ से आया हूँ।" [1]

कवि यही कहना चाह रहे हैं कि नगरीयता मनुष्य से मानवीयता एवं उनके

1. रामदरश मिश्र - बारिश में भीगते बच्चे - पृ - 95

सहज जीवन, संस्कृति सब कुछ छीन लेते हैं। यही नहीं वहाँ मनुष्य किसी भ्रम के पीछे लक्ष्यहीन होकर भागने लगेंगे। बिलकुल उस यंत्र के समान जो बटन दबाते ही चलना शुरू करता है। क्या - क्या करता है किन - किन को मुसीबत में डालता है आगे क्या होगा इन सब चिंता से एकदम अनजान है।

जिस नगरीय संस्कृति में आज मनुष्य जी रहा है वहाँ उसको आराम भी नहीं मिलता है। पैसे एवं सुविधाओं के पीछे भागने की वजह से वह अपने शरीर को भूल जाता है। दिन रात बिना फुर्सत के काम करके अब कई तरह के रोगों से पीडित है। कवि उदय प्रकाशजी ने अपनी 'पूरी ताकत से' नामक कविता में इसको दर्शाया है। महानगरीय संस्कृति में लोगों को भी उपयोगिता की नज़र से आंक रही है। कविता में जिस 'मैं' का ज़िक्र हुआ है वह काम करते-करते तपेदिक के रोगी बन गया है लेकिन उसके बदहालत को देखकर किसी के भी मन में कोई संवेदना नहीं उभरती है, न कंपनी के लोगों में और न ही घरवालों में -

"मैं कम - से - कम दस घंटे सोना
चाहता हूँ एक बार
क्या कहीं से मिल सकते हैं मुझे इतने घंटे
बोनस के बतौर?
वह कंपनी के सामने गिड़गिड़ाया
फिर अपने परिवार के सामने
कई दिनों बाद इसी तरह
फिर कभी वह कहेगा कि
मुझे तपेदिक हो सकता है कभी भी
लेकिन किसी को यकीन
नहीं होगा।" [1]

1. उदय प्रकाश - अबूतर - कबूतर - पृ - 20

महानगरीय सभ्यता भी हमारे शरीर के अंदर छिपे रोगाणु के समान है। उसका घुसना हम नहीं जान पाएँगे क्योंकि वह कोई लक्षण बाहर नहीं दिखाता बिलकुल नगरीयता की रोशनी की तरह झकमकाएगा और जब हम उसे पहचानेंगे तब बहुत देर हो चुका होगा और वह हमें पूरी तरह से उपयोगशून्य बना देगा।

महानगरीय संस्कृति का बहुत बडा प्रभाव हमारे यहाँ जीनेवाले लोगों की मानसिकता पर पडा है। इसका असर छोटे बच्चों के जीवन में भी पड़ रहा है। माँ - बाप चाहते हैं कि वे अपने बच्चों को दूसरे बच्चों से भी आगे बढ़ाये। सारी प्रतियोगिता में वह जीत जाए। इसके लिए माँ - बाप बच्चों की सहजता एवं सादगी को उनसे छीन लेते हैं और उन्हें विवश करते हैं कि वह जद्धोजहद करके सबसे आगे निकले बच्चे अब ईश्वर से यही प्रार्थना कर रहे हैं कि 'एक बगावती प्रार्थना में' नामक कविता के ज़रिए कात्यायनीजी कहती है -

" हे ईश्वर !
या तो इस जगत को
स्कूलों से मुक्त करो
या हमें ही उठा लो। 'किडनैप' करा दो।
चमत्कार कर दो
लीला दिखा दो
हे प्रभु आनंददाता!
बस्तों में किताबों की जगह
चाँकलेट भर दो या
मिसरी की डलियाँ।
परमात्मा!

सभी पोथियों में आग लग जाये।
सभी मास्टरों को हैजा हो जाये।
पहाडे रटाते समय चाचा की जुबान ऐंढ जाये।
बाढ़ में सभी स्कूल डूब जायें।
बहाँ हम कागज़ की नाव- चलायें।
हाजिरी रजिस्टर के पन्ने फाड़कर पतंग उडायें
शिक्षा को लेकर बहस करनेवाले और नीतियाँ बनानेवाले
सभी शिक्षा शास्त्री
सीधे पागलखाने जायें।"[1]

सभी बच्चे इस प्रकार की दुआ करने केलिए विवश बन गए हैं। वे इस तरह छोटे उम्र में ही अपनी ज़िंदगी से तंग आकर बिलकुल अनैतिक एवं अमानीय चरित्रों वाले बन जाते हैं। आजकल के माँ - बाप बच्चों को अच्छे नागरिक बनाने पर नहीं बल्कि अच्छे लखपति बनाने की कोशिश करते रहते हैं। इस कोशिश में ये बच्चे भी अपने सहज जीवन जीना भूल जाते हैं और खुद अपने माँ - बाप भी उनके लिए बोझ बन जाता है।

लोग महानगरों की ओर इसलिए आकर्षित हो जाते हैं कि वे अपने भविष्य को उज्ज्वल बन सके। ज़िंदगी की सारी सुविधाएँ एवं खुशियाँ प्राप्त कर सके कभी - कभी भविष्य निर्माण की इस चक्कर में पड़कर वह जीवन से ऊब जाता है कवि वीरेन्द्र सक्सेनाजी की 'अकेलापन' नामक कविता इस सच्चाई को स्थापित करती है -

"बंध - बांधवों, मित्रों और

1. कात्यायनी - जादू नहीं कविता - पृ - 108

चाहने वालों से दूर
इस मायावी महानगरी में
झेल रहा हूँ अकेलापन
कौन से स्वर्णिम भविष्य
केलिए?
मुझे नहीं चाहिए ऐसा भविष्य
जिसके कारण
वर्तमान को भी पूरी तरह
जी पाने का अधिकार
छिन जाए।" [1]

मनुष्य महानगरीय संस्कृति में अपने जीवन को नष्ट कर रहा है। महत्वकांक्षाओं की पूर्ति करने हेतु जीवन को त्याग कर रहा है।

महानगरीय संस्कृति की सबसे बडी कमी है कि जो लगाव हम घर से एवं अपनों से बरकरार रखना चाहते हैं वह जाने अनजाने हमसे छूट जाता है। हालाँकि सभ्य कहलाने वाले लोगों को प्यार पर सहानुभूति उमड़ आती है। वे इतनी जल्दी में हैं कि बातें करने तक का छुटकारा नहीं, 'कमी' नामक कविता में कवि हेमंत जी कहते हैं -

"अब हम सभ्य हैं
.....
हम अब
प्रेम नहीं करते
जो करते हैं

1. वीरेन्द्र सकसेना - ठोस होते हुए - पृ - 118

उनसे सहानुभूति जतलाते हैं

.....

दिन भर

खपकर लौटते हैं घर

दुलार को उत्सुक

बच्चों को डाँटते हैं

'खाओ

जाकर सो जाओ'।

समय नहीं होता कि

ठहर कर बता सके

कितने थके हैं हम।" [1]

महानगरीय संस्कृति ने मानव जीवन को अस्वाभाविक बना दिया। वह इतनी व्यस्थता पूर्ण जीवन जी रहे हैं कि उसका दिमाग जितना विस्तृत हो जाता है दिल उतना ही संकुचित होता जा रहा है।

महानागरीय संस्कृति की और एक महत्त्वपूर्ण समस्या है गाडियों का तेज़ रफ्तार। इसका परिणाम यही होता है कि सड़क पर सदा दुर्घटनाएँ होती रहती हैं। यहाँ लोगों को धीरे चलने की आदत नहीं। उनके पास समय नहीं। ज़रूरत से ज्यादा सुविधाएँ देकर माँ - बाप यहाँ अपने बच्चों को बढा रहे हैं। महानगर में दुर्घटनाएँ सहज साधारण है। इसपर लोगों की मानसिकता को लेकर कवि लीलाधार मंडलोईजी 'खून के निशान' नामक कविता में कहते हैं-

"इस शहर में

1. हेमंत कुकरेती - चलने से पहले - पृ - 111-112

डेयर डेविल्स
घूमते हैं बाइकों पर
गति की सीमा मालूम नहीं उन्हें
सड़क पर मिलते हैं रोज़
खून के निशान
जिन्हें धोता है पुलिस वाला
और भूल जाता है।" [1]

ऐश और मौज मस्ती में हमारे यहाँ हर दिन कितने जान नष्ट हो रहा है इस पर विचार करने से हम एकदम अवाक् रह जाते हैं। समस्या ये भी हैं कि जो तेज़ गति में गाड़ी चलाकर अपनी मज़ा लेने की कोशिश कर रहे हैं वे जानबूझकर अन्य लोगों को भी नुकसान पहूँचा रहे हैं। क्योंकि आपकी बेपरवाही से अन्य लोगों को भी नुकसान हो जाने की संभावना है। इस सोच को ध्यान में रखते हुए गाड़ी चलानी चाहिए। लेकिन स्टैल के नाम पर आज के युवा लोग पागल होकर गाड़ी चलते हैं।

महानगरीय संस्कृति की विडंबना है यहाँ मनुष्य संवेदनशून्य होकर जीने को विवश है। चाहते हुए भी वह दूसरों केलिए कुछ कर नहीं सकता। सबका सब अपने अपने कार्यों के वास्ते जी रहे हैं। अपनी रोटी कमा रहा है। जो इसमें असमर्थ है वह इस भागदौड में पाँवों के कुचलन से अपनी ज़िंदगी गँवा देते हैं। 'संसार' नामक कविता में कवि इब्बार रब्बीजी कहते हैं-

"मेरा नहीं है ये संसार
चला जाऊँगा

1. लीलाधर मंडलोई - लिखे में दुक्ख - पृ - 67

अपने मित्रों के साथ अपनी दुनिया में
जहाँ लोग कविता जीते हैं
जहाँ खेत लंगडे नहीं होते
जहाँ बच्चे भूखे नहीं सोते
तुम औरों पर हँस रहे होंगे
अपने में मस्त
नशेड़ी की तरह
गाता चला जाऊँगा
अपने संसार में चला जाऊँगा मैं
सपनों में खो जाऊँगा
मुझे रत्ती - भर चिंता नहीं
तुम्हारी इस सड़ी हुई दुनिया की।"[1]

शहरी जीवन कितनी भी सुविधाएँ दें लेकिन बिना मानवीयता के जीना मनुष्य केलिए मुमकिन नहीं हैं। क्योंकि उसकी जैविक संरचना ने संवेदनाओं केलिए इतना महत्वपूर्ण स्थान दिया है कि मनुष्य केलिए उसे नज़रन्दाज़ करके आगे बढ़ना मुश्किल है।

शहरीकरण ने मनुष्य के जीवन को और उनकी भावनाओं पर पूरी तरह से अपना बुरा प्राभव डाला है। नतीजा यह हुआ कि मनुष्य बिलकुल जीवन को सिर्फ एक काम निपटाने की मानसिकता से जी रहे हैं। 'आत्मदया का क्षण' नामक कविता में कैलाश वाजपेयीजी का कहना है-

"शहर रहते हुए
मैं मर जाऊँगा

1. इब्बार रब्बी - लोगबाग - पृ - 110

दिन गिन रही होगी बीसवीं शताब्दी
न प्रोविडेन्ट फ़ण्ड
न परिवार
कोई नहीं आएगा बचाने
बचना भी कहाँ चाहूँगा।" [1]

यही आधुनिक मनुष्य है। किसी को किसी के प्रति कोई लगाव नहीं। सब कुछ दिखावा बन गया। इस तरह की ज़िंदगी से लोगों को अब उदासीनता एवं घुटन महसूस हो रहा है। इसलिए वह इस ज़िंदगी से बचना चाहता है।

महानगरीय संस्कृति ने ऐसे अनेक गंदी गलियों को जन्म दिया है। जिसके कारण सांस्कृतिक अपचय से मुक्ति पाना मुश्किल बन गया है। इन गलियों में रहनेवाले लोग एकदम घृणित जीवन जीने को विवश है चाहते हुए भी इससे मुक्ति पाना संभव नहीं है। महानगरीय संस्कृति के इन गलियों ने ही वास्तव में नशीले पदार्थों एवं अनैतिक शारीरिक संबंधों की ओर मनुष्य का ध्यान आकर्षित किया है। 'सिकता मन्थन' नामक कविता में कैलाशजी कहते हैं -

"यह सब जो निकलेगा धरती तोड़कर
नगरों में
बदल जाएगा,
पेड़-फर्नीचर
पहाड़-सड़क या और कुछ
उसी तरह औरतें
निकलेंगी बच्चे

1. कैलाश वाजपेयी - देहांत से हटकर - पृ - 84

.....

थूक, पीप, मलवा

गँधाती

धुआँ देती बस्तियाँ

कौबे, अबाबील

बेहिसाब चिड़ियाँ

सिर्फ आदमी हो तो भी ठीक -

सब तरफ़ होंगी योनियाँ

योनियाँ ही योनियाँ

.....

देह - जिसे चाहिए

हर सुबह रोटी

हर रात मैथुन।" [1]

शहरीकरण की अमानवीय संस्कृति मात्र उपभोग पर केंद्रित है। यहाँ सब कुछ लागू है जिसे जो कुछ करना है करने की इज़ाजत है, चाहे कर्म नैतिक हो या फिर अनैतिक कोई पूछनेवाला नहीं होगा। इसलिए ही शहर में रहनेवाले अपनी संवेदनाओं को दबाकर रखा है और तत्काल खुशी के मौके ढूँढ रहे हैं।

अपनी ज़िंदगी के वास्ते महानगरीयता में डूबकर मरनेवाले लोगों ने आज अपने को बिलकुल एक बिक्रेता एक Sales men बना दिया। कुछ अंग्रजी शब्दों के ज़रिए वह जद्धोजहद कर रहा है उपभोक्ता को भाने केलिए लेकिन उपभोक्ता भी महानगरीय संस्कृति का ही वजूद है, तो उसमें संवेदनाएँ कैसे जागेंगी। वह क्यूँ सोचे कि यह टाई, पूस के लंबे - चौड़े आदमी ने भी अपनी आजीविका केलिए अपने

1. कैलाश वाजपेयी - देहांत से हटकर - पृ - 97 - 98

आपको यह बहुरूपिया रूप दिया है -'आदमी को प्यास लगती है'नामक कविता में ज्ञानेन्द्रपतिजी का कहना है -

" ऊपर, अपने फ्लैट की खुली खिड़की से देखता हूँ मैं
ये दोनों वे ही सेल्समेन हैं
थोड़ी देर पहले बजायी थी जिन्होंने मेरे घर की घण्टी
और दरवाज़ा खोलते ही मैं झुँझलाया था
भरी दोपहर बाज़ार की गोहार घर के चैन को झिझोड़े यह
बेज़ा खलल मुझे बर्दाश्त नहीं
'दुनिया - भर में नम्बर एक' - या ऐसा ही कुछ भी बोलने
से उन्हें बरजते हुए
भेड़े थे मैंने किवाड़
और अपने भारी थैले उठाये
शर्मिन्दा, वे उतरते गये थे सीढ़ियाँ
ऊपर से देखता हूँ
हैंडपम्प पर वे पानी पी रहे हैं
उनके भारी थैले थोड़ी दूर पर रखे हैं एहतियात से, उन्हीं के ऊपर
तनिक कुम्हलायी उनकी अनिवार्य मुस्कान और मटियाया
हुआ दुर्निवार उत्साह
गीले न हो जायें जूते - मोज़े इसलिए पैरों को वे भरसक छितराये हुए हैं
गीली न हो जाये कण्ठकस टाई इसलिए उसे नीचे से उठा कर
गले में लपेट- सा लिया है, अँगोछे की तरह।" [1]

यही महानगरीयता की वास्तविकता है। वहाँ अपने अपने जीवन को सजने संवारने में लोग लगे हुए हैं, दूसरों के बारे में सोचना उनके लिए नगण्य है।

1. ज्ञानेन्द्रपति - कवि ने कहा - पृ - 104

महानगरीय सभ्यता में रहनेवाले लोग बिलकुल कठपुतलियों का जीवन जी रहा है। ज्ञानेन्द्रपतिजी की और एक कविता है 'एक कछुआ-शिशु' इसमें महानगरीय जीवन की विडंबनाओं को दर्शाया है -

"ठिठककर
मुड़
ताकता है उधर
कछुआ - शिशु
जिधर
कुचल डालेंगे नागरिक एक सागरिक को
जहाँ अन्धगति ही अपेक्षित, निर्बन्ध गति ही नियम
सब आगे - आगे सदा भागे - भागे
पिछड़ने से बड़ा नहीं जहाँ दूसरा अपराध।" [1]

यहाँ कछुआ एक आम आदमी का प्रतीक, जो अपनी ज़िंदगी से अलग होकर किसी महानगर में आ पड़ा है और वहाँ जीने केलिए विवश बन गया है।

शहरीकरण ने सिर्फ मनुष्य मात्र को ही नहीं बल्कि पूरे विश्व को कूडे - कचरे से ढका दिया है। अब यहाँ मनुष्य का रहना कुत्तों की ज़िंदगी के समान बन गया। प्रदूषित वायु, मिट्टी, जल में लोग भी पशुओं की बराबरी का जीवन जी रहे हैं। कवि ज्ञानेन्द्रपति अपनी कविता 'सक्रांति - बेला' में कहते हैं -

"अरे ! क्यों कहते हो झूठ - मूठ
किसी जन को करम का साँड़
देखो भी साँड का करम !

1. ज्ञानेन्द्रपति - कवि ने कहा - पृ - 112

बेभरम !
बिलाला फिरते साँड बिला रहे हैं
धीरे -धीरे
जैसे -जैसे दया बिला रही है हृदय में
मानव - हृदय में
वैसे - वैसे सूख रही है
प्यासे पशुओं के लिए बनी हुई प्रस्तर - द्रोणियाँ
नगर में
बनी जा रही है कूडेदान
क्योंकि नव्य और भव्य हुआ चाहता है नगर
इसलिए पुराने - पिछडे देवता हव्य केलिए
और हिराए - बिछडे पितर कव्य के लिए
तड़प रहे हैं
उनका हिस्सा मायावी प्रेत - पिशाच हड़प रहे हैं।" [1]

महानगरीय सभ्यता में लोगों की बदल रही संवेदनाओं पर पवन करणजी की कविता 'रिश्तेदार' महती भूमिका अदा करती है। लोगों को महानगरीय सभ्यता का भूत चढा हुआ है कि अब उन्हें गाँव के रिश्तेदार असभ्य लगने लगा है। सिर्फ बातों में गाँव की अपने घर की यादों पर कराहने वालों, अर्थात् महानगरीय सभ्यता में रहने वालोंकी स्वार्थ एवं संकुचित मानसिकता पर पवन करणजी कह रहे हैं -

" एक बात यहाँ आकर जो हमें सबसे ज्यादा अखरती है
वह हमारे रिश्तेदार को लेकर है

1. ज्ञानेन्द्रपति - गंगातट - पृ - 90 - 91

वे अब भी ग्रामीण है और हमारे अनुसार गंवार भी
वे जब चाहे होकर झकट्ठे दो - तीन
अपने मैले - कुचले कपडों और प्लास्टिक के जूतों में
हमारे कॉलोनी वाले मकान पर आ धमकते हैं
.....
.....
वे जब भी आते हैं अपने साथ पापड़ - बडियाँ
अचार, शहद और दाले लेकर
वे हमें तभी और उतनी ही देर केलिए लगते हैं अच्छे।" [1]

जिसको लेकर इतनी घृणा भरी चिंताएँ मन में उमड़ आती है उन्हीं के द्वारा ले आयी चीज़ों को लेने में शहरवालों को कोई हिचक नहीं होता। जब गाँव से लोग शहर में आकर इकट्ठा हो जाते है तब से वे एक बनी बनायी आदतों में जीने लगेंगे। उन्हें शहर के छोटा सा घर वह भी चीज़ों से भरा अच्छा लगता है। बगीचा, पोर्च आदि महीन एवं आकर्षक बन जाता है। वे अंग्रेज़ी अखबार पढना पसंद करते हैं। लेकिन ये भद्रजन जो बाहर से जितने भी सभ्य हो जाए अंदर हि अंदर एकदम असभ्य एवं जंगली हैं जिन्हें गाँव में रहे माँ - बाप में भी कमियाँ दिखती हैं ।

अतः सांस्कृतिक जीवन जीवन - मूल्यों के पतन में महानगरीय सभ्यता भी भागीदार है इसका स्पष्टीकरण ऊपर उल्लिखित काव्य पंक्तियाँ दे रही हैं। जीवन मूल्यों की पुनः स्थापना केलिए सबसे पहले व्यक्तियों की चारित्रिक अशुद्धियाँ दूर करनी है और शहर में भी गाँव की जैसा अपनापन, सहकारिता आदि भावनाओं की स्थापना अनिवार्य है।

---

1. पनव करण - अस्पताल के बाहर टेलिफ़ोन- पृ - 46

3.12 पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण

सांस्कृतिक संक्रमण की कहानी यहीं से शुरू होती है। जब हम अपने सब कुछ त्यागकर दूसरे को अपने ऊपर लादना प्रारंभ करता है तब से हम अपनी पहचान खो देते हैं। पाश्चात्य संस्कृति का विकास वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार हुआ है। हर एक संस्कृति में होनेवाले अलगाव के पीछे का महत्वपूर्ण कारण भी यही है। अनामिकाजी 'अंग्रेजी यों भेजती है बमवर्षक विमान' नामक कविता में कहती है -

"परिकथाएँ, नर्सरी राइमें और क्लासिक्स रीटोल्ड,
ब्लर्ब और प्री- व्यू, रिव्यू और इंटरव्यू
मिलकर बनाते मगज़ में हैं डिज्नी - घर!" [1]

अब देशी भाषा, देशी संस्कृति को छोडकर बच्चों से लेकर बडों तक के दिमाग उस डिज्नी घर के पीछे हैं। इसमें देशी संस्कृति कहीं डूब गई है।

पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से भारतीय गावों एवं बस्तियाँ भी अब डिज्नीलैंड बन गए हैं। इस काल्पनिक एवं वायवीय जगत से मुक्ति पाना आजकल नाममुकिन सा लग रहा है। इस काल्पनिकता ने सहजता को दूर कर दिया वास्तविक जीवन को गूढ़ रहस्यमय बनाया। यह काल्पनिकता जीवन पर उस ज़हर का असर कर रहा है जो धीरे-धीरे वास्तविक सपनों को खो देता है। अपनी 'हमला' नामक कविता में कवयित्री कात्यायनीजी कहती है -

"टेलिविज़न के पर्दे से बाहर
हमारे ज़गलों, हमारी बस्तियों

1. अनामिका - खुरदुरी हथेलियाँ - पृ - 115

हमारे घरों के पास तक
आ गये हैं
डिज़्नीलैड के निवासी
अपनी बस्तियाँ बसाते हुए
यंत्र - संगणकों के सहारे
सहजता को चालाकी बनाते हुए
झींगुरों - टिड्डियों की तरह
नैसर्गिकता को चट करते हुए,
हमारे बच्चों के भोलेपन को
एक मँहगी जादुई फंतासी में तब्दील करते हुए।"[1]

पाश्चात्य संस्कृति के अंधानुकरण का यही नतीजा है कि वह हमें झूठा आकर्षण दे रहा है। सबको अपनी ओर खींचता है। जबकि जब हम इसमें पूरी तरह से फँस जाते हैं तभी समझ में आयेगा कि वास्तव में हम यथार्थ से काल्पनिकता में फँस गए हैं। विदेशियों के जिस संस्कृति को भरतीय लोगों ने अपने ऊपर हावी होने दिया है उसका परिणाम है हमारे घर परिवार का उजडा हुआ स्वरूप। 'एक आशंका' नामक कविता में कात्यायनीजी ने इस पर भी प्रकाश डाला है।

"जल्दी ही
देश में
कई डिज़्नीलैंड
होंगे।
जल्दी ही

1. कात्यायनी - जादू नहीं कविता - पृ - 109

पूरा देश
एक डिज़्नीलैंड
होगा।
क्या आशा करूँ
कि
उसके बाहर
मेरा घर होगा!"[1]

पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से आजकल हमारी नियति यह बन गई है कि हमें अपना घर आज ढूँढ़ना पड़ रहा है, या फिर घर को नष्ट होने की चिंता हमें सताती है। पाश्चात्य संस्कृति ने ही हमारे यहाँ बडे - बडे मॉलों को ले आया ताकि लोगों को जब भी वक्त मिले वे ऐश और आराम के साथ जी सके। अब तो लोग इस तरह की ज़िंदगी जीने केलिए खुद समय ढूँढ निकाल रहे हैं। पाश्चात्य संस्कृति की इस बनावटीपन से मुक्ति पाना आजकल बहुत ही कठिन लग रहा है।

पाश्चात्य संस्कृति के आधानुकरण का एक और नतीजा यह भी है कि हम अपने पारंपरिक खाद्यपदार्थों को छोडकर विदेशी जीवन शैली को अपना रहे हैं। भारत एक ऐसा देश है जहाँ घर का खाना सभी सदस्यों के साथ बैठकर खाने की विधि चलती है। खाद्य पदार्थों को हमें बाहर से लाने की ज़रूरत भी नहीं पड़ता था। सबकुछ घर में उपलब्ध था। जो घर में मिलते थे उतने में सब खुश थे लेकिन जब उत्तर औपनिवेशिकता आयी तब से लेकर जीवन के इस सहज स्वाभाविक ढ़ंग में भी परिवर्तन होने लगा। इस पर लीलाधार मंडलोईजी ने अपनी कविता

1. कात्यायनी - जादू नहीं कविता - पृ - 111

'गुरुदक्षिणा' में यों लिखा है -

"पारंपरिक खाद्य वस्तुओं पर मार ज़माने की
बाहर के अदृश्य हाथ साक्रिय इतने
कि भर उठे बाज़ार डिब्बाबन्द संस्कृति से
जो थोड़ा खुला छूटा
ले आया असंख्य बीमारियाँ।" [1]

पाश्चात्य संस्कृति के अंधानुकरण का प्रतिकूल परिणाम यह हुआ कि हम ताज़ा एवं पोषक खाद्यपदार्थों को छोड़कर एकदम डिब्बेबंद और फास्ट फूड के गुलाम बन गए। नतीजा यह हुआ कि अब बचपन से ही लोग जीवन शैली रोगों से पीडित है। अब हमारे ऊपर कुपथ्य (bad diet) सवार होने लगे हैं जब भी मिलते है, जो कुछ भी मिलते हैं खा लेते हैं। प्राकृतिक खाद्य पदार्थों के प्रति हमारी रुचि बदल गई। आजकल कैन्सर की बीमारी एकदम साधारण बन गया। यह सब पाश्चात्य संस्कृति के अंध अनुकरण का प्रभाव है, और हमारी सांस्कृतिक जीवन मूल्यों की च्युति का परिणाम है।

हमारी संस्कृति अब जन संस्कृति में तब्दील हो गई है जो एक पाश्चात्य अवधारणा है जहाँ पर मनुष्य के ऊपर नवमाध्यमों का भूत सवार है। हर कहीं ब्रैंटेड चीज़ों के विज्ञान, आनिमेषनस, रियालिटी षोस इसमें एक जोकर बने भारत के मध्यवर्गीय महानगरीय सभ्य लोगों को हम देख सकते हैं। सब कुछ अब दिखलाने योग्य बन गए हैं। रियालिटी षोस में जो प्रसारणकर्ता या कर्ती (Anchor) है उसके सवाल पर बच्चों के मूँह से भी बहुत सारी बातें निकल जाती है जिसका अर्थ बच्चे खुद जानते नहीं। आजकल हम इस दिखावे की संस्कृति का

1. लीलाधर मंडलोई - देखा अदेखा - पृ - 33

आदी हो चुके हैं, हम जिसका असली लाभ मल्टी नैश्नलों को मिल रहा है। कवि लीलाधर मंडलोईजी की 'ठिठकना मेरा कहीं दर्ज नहीं' नामक कविता में वे कहते हैं -

"विज्ञापनों से अटी इस अपरिचित दुनिया में
पढ़ता है होर्डिंग्स पर सजी इबारतें खीझना
बहुत से चेहरे होर्डिंग्स पर मुस्कुराते
हू-ब-हू उन मित्रों की तरह जिनकी पोशाकें
प्रायोजकों ने बनवाई हैं विज्ञापन फिल्म केलिए।" [1]

हम तो इस अमानवीय एवं अपसंस्कृति पर खामोश है। विवेक का सही उपयोग करने में आजकल के नागरिक भी हार गए हैं। संस्कृति की बदल रही परिभाषा को लेकर, मिथकों की विलुप्तता को लेकर, व्याकरण एवं कला की बदलते मानकों को लेकर, अपनी भाषा की गिरफ्तारी पर आधुनिकता की साजिश को जानकर भी हम सब चुप है। आज की जन संस्कृति ने हमें नव माध्यमों में विद्रोह करना सिखाया, और विद्रोह का व्यावहारिक रूप भी अब गुम हो गया। अब सबके पीछे एक प्रायोजक हैं सब कुछ उन्हीं के द्वारा तय होता है। आज मनुष्य का जीवन भी इन प्रायोजकों के ज़रिए संचालित है क्योंकि अब मनुष्य भी दिल, दिमाग एवं शरीर से किसी ब्रेन्टड़ वस्तु में तब्दील हो गया है।

भारतीय लोग अपनी संस्कृति को मन से अपनाते हैं। वे अपनी भाषा को अपनी संस्कृति को कभी भी अपने से अलग नहीं कर सकते। हालाँकि अब इस भावना में भी विकराल परिवर्तन आ गया है। अब पाश्चात्य संस्कृति के अंधानुकरण में हम भी सबके लिए एक - एक विशेष दिवस मनाने लगे जैसे माँ - बाप केलिए प्रेमियों केलिए, तरह-तरह की बीमारियों केलिए जल, मिट्टी, वायु सबके लिए

1. लीलाधर मंडलोई - देखा अदेखा - पृ - 79

और भाषा केलिए भी। लोगों की परेशानी कभी भी कम नहीं होती क्योंकि वह यह सब अपने मन से नहीं बल्कि मज़बूरी में कर रहा है। 'बिदक जाता हूँ' नामक कविता में सूरजपाल चौहानजी ने इसकी अभिव्यक्ति की है। जैसे कि हिंदी स्वर्णजयंती वर्ष होने के कारण हिंदी में बोलने केलिए विवश अंग्रेज़ी पढे कर्मचारी का बयान है -

" लेकिन
'हिंदी डे', वाले दिन
मैं -
खूब जमकर हिंदी बोलता हूँ
और स्पीच में
हिंदी के मूर्धन्य कवियों की कविताएँ
कोट करके
सभी को चौंका देता हूँ
कहता हूँ
'हिंदी सुनो, हिंदी देखो और हिंदी बोलो'।
यह अलग बात है कि -
हिंदी - दिवस के बाद-
मैं फिर
अंग्रेज़ी में नाचने - कूदने लगता हूँ
हिंदी में
नोटिंग-ड्राफ्टिंग सामने आते ही
ऐसे बिदक जाता हूँ
जैसे-
दूरदराज निपट गाँव में

रहनेवाले पशु

मोटर - गाड़ी को देखकर

बिदक जाते हैं।" [1]

भाषा की अस्मिता को सुरक्षित रखे बिना संस्कृति का बचाव भी संकट में पड़ जाता है। पाश्चात्य संस्कृति एवं भाषा से उपजीव्य कमानेवाले भारत के लोग भी अपनी देशी संस्कृति एवं भाषा को नगण्य समझने लगे हैं।

निष्कर्ष स्वरूप समकालीन कवि बस इतना ही चाह रहा है कि हम अपनी देशी संस्कृति को स्मृतियों में आंकने की कोशिश को छोडकर बेमतलब अपनी संस्कृति के नाम पर गर्व करे बिना व्यावहारिक जीवन में भी उस संस्कृति को अपनाने की कोशिश करें तो अच्छा रहेगा।

निष्कर्ष

संस्कृति मनुष्य के अंदर से बाहर तक की प्रवृत्ति को संस्करित करती है। अर्थात् उसके मन एवं मस्तिष्क दोनों को शुद्ध करता है और उसे नैतिक बनाता है। संस्कृति को बनाये रखने में धर्म, कला, परंपरा, दर्शन, सभ्यता आदि सबकी अहम भूमिका रहती है। अर्थात इन सबके ज़रिए सांस्कृतिक जीवन मूल्यों का संरक्षण होता है। हर एक संस्कृति में वहाँ के धर्म, कला, परंपरा, दर्शन एवं सभ्यता का प्रभाव देख सकते हैं। इसका लक्ष्य मनुष्य के जीवन को मानवीयता से जोड़ना है। भारतीय संस्कृति में निहित इन सब तत्वों का लक्ष्य भी वही है। वह भी लोक कल्यणकारी एवं लोकहितकारी जीवन मूल्यों को महत्त्व दे रही है।

---

1. सूरजपाल चौहान - क्यों विश्वास करूँ - पृ - 61 - 62

भूमंडलीकरण एवं उपयोगितावादी संस्कृति ने भारतीय सांस्कृतिक जीवन मूल्यों की जड़ों को उखाड़ फेंकने का कार्य किया। सब कुछ लाभ एवं वैयक्तिक स्वार्थ पर केंद्रित हो गया। मनुष्य से उनके सभी गुण एवं, संवेदनाएँ नष्ट हो गई। धर्म, कला साहित्य एवं भाषा को पूँजी बटोरने के नए माध्यम का स्वरूप दे दिया। वैज्ञानिक प्रगति के उत्तुंग शिखर में पहूँचकर भी लोगों के दिल एवं दिमाग से रूढिवादी परंपराएँ दूर नहीं हुई। जाति, वर्ग एवं लिंग भेद पर भारतीय संस्कृति में निहित कुरूपताएँ आज भी मिटा नहीं। वैज्ञानिक प्रगति से जो होना था वह नहीं हुआ और यही नहीं सब कहीं अराजक एवं अनैतिक कर्मों केलिए एक खुला प्लैटफॉर्म मिल गया। सांस्कृतिक जीवन मूल्यों में आये इस बदलाव पर गहरे सोच - विचार समकालीन हिंदी कविताओं में प्रस्तुत है। यही नहीं समकालीन हिंदी कवियों ने विकासवादी आधुनिक परंपरा को अपनाकर सबके सही पक्ष की ओर लोगों की श्रद्धा आकर्षित करने की सफल कोशिश की है।

****

चौथा अध्याय

समकालीन हिन्दी कविता में राजनीतिक जीवन - मूल्य

चौथा अध्याय

समकालीन हिन्दी कविता में राजनीतिक जीवन - मूल्य

राजनीति देश की सुव्यवस्था की महत्त्वपूर्ण कड़ी है वह जनता एवं सरकार के बीच एक श्रृंखला के रूप में काम कर रही है। यह एक ऐसी पद्धति है जो जनता को सुरक्षा प्रदान करने की वादाएँ देती हैं। इस व्यवस्था का नैतिक मूल्यों पर आधारित होना इसके अस्तित्व की अनिवार्यता है। राजनीति प्रशासनिकों का शास्त्र है। इसका आधार वह नीतिशास्त्र है जो देश या राष्ट्र को सुव्यवस्थित करता है और शासन को सुचारू रूप से संचालित करता है। सत्य की रक्षा, अमन, समृद्धि, विदेशी आक्रमणों से प्रतिरोध, राष्ट्र के वैभवों एवं शक्ति की वृद्धि, नागरिकों एवं उनके अधिकारों का संरक्षण, उनके नैतिक चरित्र एवं विचारों की वृद्धि एवं परिरक्षण आदि को यह लक्ष्य करता है। इन तत्त्वों से ही राजनीति जीवन - मूल्यों के साथ जुड़ जाता है। जब तक राजनीति में ये मूल्य सुरक्षित नहीं रहते तब तक राजनीति पतन की स्थिति से मुक्त नहीं होगी। राजनीतिक जीवन मूल्यों को कायम रखने के उद्धेश्य से ही भारत ने जनतंत्र को अपनाया ताकि यहाँ किसी की वर्चस्वता न रहें। लेकिन वर्तमान राजनीति में इनमें से कोई भी मूल्य सुरक्षित नहीं इसलिए वह अब उजड़ी हुई अवस्था में पड़ी है, जिसकी ओर समकालीन हिंदी कविगण चिंतित है।

भारतीय राजनीतिक जीवन मूल्यों से तात्पर्य है आज़ादी के बाद स्वतंत्रता,

समानता एवं नीति पर आधारित संविधान और उसके तहत स्थापित राजनीतिक जीवन मूल्यों के आधार पर जन समाज में फैल गयी नैतिक राजनीतिक विचारधारा का संरक्षण। कालाबाज़ारी, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, भाई - भतीजावाद, जातिवाद और सांप्रदायिकता भारतीय राजनीतिक जीवन - मूल्यों केलिए चुनौती बन गयी है। इन समस्याओं पर समकालीन हिंदी कविता के द्वारा विस्तृत विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत अध्याय का सार है।

4.1 जीवन-मूल्य और भारतीय राजनीति की परिकल्पना

समाज की अपनी एक व्यवस्था होती है। इस व्यवस्था को इसलिए रखा गया है कि समाज एकाकी व्यक्ति का प्रतिनिधित्व नहीं करता। वह विभिन्न प्रकार के विशेषताओं वाले व्यक्तियों से बनता है। एक से अधिक विशेषताएँ परस्पर टक्कर लगाने की स्थिति को संयमित बनाने केलिए कुछ ऐसे तत्त्वों की ज़रूरत पड़ते हैं ताकि संपूर्ण सामाजिक प्राणी एकता भाव से उसको स्वीकार करे। मानव जीवन के हर एक पक्ष इन तत्त्वों से जुडे हुए हैं। पहले पहल राजाओं के ज़रिए इस व्यवस्था का कार्यान्वयन हुआ था, और प्रजागण को राजतंत्र की शासन व्यवस्था से एकमेक होकर जीना पड़ता था। मानव अपनी भावनाओं के वश में पड़कर सामाजिक विकलताएँ पैदा करने की मूल प्रवृत्ति से जुड़ा रहता है। इसलिए नीति, न्याय, दण्ड विधान की ज़रूरत पड़ी। राजा महाराजाओं के एकाधिकार ने इन्हें भटका दिया। वे खुद के राज्य विस्तार एवं धन लोलुपता में पड़कर विलासिता एवं लड़ाई में लगे रहे। इसलिए व्यापार केलिए आ गए ईस्ट इण्डिया कंपनी को भारत में अपनी जडें जमाना आसान हो

गया। अंग्रेज़ी शासन से उनके गूढ तंत्रों से जब यहाँ के लोग जान गए तब से लेकर अंग्रेज़ों के विरुद्ध भारतीय जनता खडे हो गए। सन् 1857 में पहला स्वतंत्रता संग्राम हुआ। यह असफल रहा लेकिन इसके ज़रिए भारत के हिंदुओं एवं मुसलमानों ने एक साथ जुड़कर अंग्रेज़ों को भगाने की कोशिश की। यह राजनीतिक जीवन मूल्यों का, देशभक्ति के मूल्यों का उदय था। सन् 1885 में ए.ओ.ह्यूम के नेतृत्व में कॉग्रेज़ की स्थापना हुई यह भारतीय राजनीति केलिए एक नया मोड़ रहा। कॉग्रेस के जन्म से राष्ट्रीय एकता का युग प्रारंभ हुआ। इसने राजनीतिक जीवन मूल्यों को और भी दृढ़ बनाया। राष्ट्रीय एकता ने धार्मिक एकता एवं समाज सुधार केलिए एक नयी राह खोल दी। धार्मिक पाखण्डों से मुक्त समाज की संकल्पना साकार हो गई। सन् 1905 से 1919 तक जो भी घटनाएँ मौजूद हुई इनमें प्रमुख थी बंग-भंग। इसके तहत विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार एवं देशभक्ति, देशाभिमान एवं राष्ट्र प्रेम जैसे मूल्यों का भी विकास हुआ। विदेशियों के चंगुल में फँसे भारतीय जनता उस समय देश प्रेम के मूल्य से बेहद परिचित हो गए। सन् 1935 में 'गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट' पारित किया गया। कॉग्रेसी एवं मुस्लिम लीग की सरकारें बनीं। सन् 1940 में पाकिस्तान की माँग की गयी जिसे अंग्रेज़ों ने समर्थन दिया, क्योंकि वे राष्ट्रीय एकता के मूल्य को खण्डित करना चाहते थे। सन् 1947 में भारत स्वतंत्र हो गए। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था कायम हुई। नए जनतांत्रिक मूल्यों की स्थापना हुई। व्यक्ति का राजनीति से सीधा संबंध स्थापित हुआ। संवैधानिक अधिकारों ने व्यक्ति में आत्म सम्मान एवं आत्मविश्वास की भावना को जागृत किया। लोकतंत्र राजतंत्र की

ठीक उल्टी शासन व्यवस्था है। इसके तहत पिछडे वर्गों के लोग भी सामाजिक सुरक्षा के हकदार बने। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के शासन तंत्रों से गुज़रकर भारत लोकतंत्र में अपने को सुरक्षित पाया।

4.2 लोकतंत्र और उसकी विशेषताएँ एवं चुनौतियाँ

लोकतंत्र की सर्वस्वीकृत परिभाषा है जनता का जनता केलिए जनता द्वारा शासन। अर्थात् लोकतंत्र शासन व्यवस्था को पारदर्शी, सच्चा, निष्कपट बना देता है। आधुनिकता ने दैवी अधिकारों वाले राजतंत्रों से जनता को मुक्ति दिलायी। इसमें इंग्लैंड की क्रांति, अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम, फांस की क्रांति और रूसी क्रांति आदि का योगदान रहा था। स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की फ्रांसीसी क्रांति के नारे राजनीतिक जीवन - मूल्यों का प्रमुख प्रेरणा स्रोत रहा है। इसको सार्वभौमिक रूप से स्वीकृति प्राप्त हुई। लेकिन व्यावहारिक रूप से इन तीन तत्त्वों को समाज में औद्योगिक क्रांति ने कायम किया जो आधुनिकता का एक परिणाम था। जिसका उदय उपनिवेशवाद एवं साम्रज्यवाद से हुई। ये जो औद्योगिक क्रांति आधुनिकता के तहत विकसित हुई उसने कला, साहित्य, संस्कृति, राजनीति आदि से युक्त मनुष्य के संपूर्ण जीवन को नए मूल्यों के साथ जोड़ने की कोशिश की। लेकिन ये जो नयी मूल्य व्यवस्था है वह केवल काम चलाऊ थी और वे उन नैतिक मूल्यों को भी विकृत रने लगी जिसकी प्रेरणा से मानव एक साथ जुडे रहते थे। लोकतंत्र भी इसी के साथ विकसित हुआ मूल्य है। भारत में भी इसे स्वतंत्रता, समता, बंधुता का वाहक बताया गया है। औद्योगिक क्रांति ने जिस लोकतंत्र को जन्म दिया उसमें केवल उत्पादन एवं उपभोग की अधिकता को महत्ता प्राप्त हुआ और प्रकृति एवं मानव का शोषण, नैतिक मूल्यों की अवहेलना सब कुछ जायज रहा।

भारत में गाँधी के प्रयत्नों के फलस्वरूप लोकतंत्र को लोक के साथ जोडने की व्यवस्था शुरू हुई। उन्होंने निर्बलतम जनजीवन को आगे आने की राह दिखायी एवं प्रकृति के शोषण के बजाय उसके साथ सहजीविता को महत्त्व दिया। उन्होंने सत्य, अहिंसा एवं सत्याग्रह के मार्ग को अपना कर हमें स्वतंत्रता की ओर ले गया लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उन्हें जारी रखने में हम नाकामयाब रहे। जिस कॉग्रेसी अनुयायियों पर गाँधी को विश्वास था वे ही उसके दिखाये हुए मार्ग से पथभ्रष्ट हो गए। कॉग्रेस के अनुयायियों ने बिलकुल अधिकार मोही बनकर गाँधी एवं उनके आदर्शों को किनारे कर दिए।

एकाधिक पार्टियों का व्यवहार में आना और राजनीतिक विचारधारा को भूलकर दलों का धर्म संबंधी बातों से जुड़ना सांप्रदायिकता केलिए कारण बन गया। अपनी निजी स्वार्थ को साधने केलिए राजनीतिक नेता लोग धर्म का इस्तेमाल करने लगे। प्रारंभिक काल के कॉग्रेज़ बाद में एकदम विकृत बन गए। आज भी वह जैसी की तैसी बनी रहती है। अब वह वोट बटोरने की राजनीति में डूब गया। यही स्थिति बाद में उभर आये राष्ट्रीय दलों में भी हम देख सकेंगे। 'जनसंघ' जो राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सपने को साकार करना चाहती थी। वह हिंदुत्व के घेरे में फँसा हुआ है। वह लोकतंत्र एवं स्वाधीनता आंदोलन के किसी भी मूल्य को मानता नहीं। संविधान पर भी उसको भरोसा नहीं। इसका लक्ष्य एक हिंदू संविधान लागू करना था। लेकिन लोक तंत्र के तत्त्वों को स्वीकारे बिना जनसंघ को भारत में अपनी जगह बनाना आसान नहीं था इसलिए वह लोकतंत्र को मानने लगे और उसने भी गांधीवाद समाजवाद के आदर्श को अपना कर अपने को भारतीय जनता पार्टी घोषित किया। लेकिन उनका रास्ता शुद्ध सांप्रदायिक नीति का रहा। वर्तमान समय के राजनीति अपने सभी आदर्शों एवं मूल्यों से दूर हो गए है और बिलकुल अराजक एवं अमानवीय बन चुका है।

4.2.1 लोकतंत्र की विशेषताएँ

लोकतंत्र की कई सारी विशेषताएँ हैं जिसका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

4.2.1.1 धर्म निरपेक्षता:

धर्म निरपेक्षता को अंग्रेज़ी में सेकुलरिज़म कहा जाता है। इसका मतलब है धर्म, पंथ या उसकी संस्थाओं से राज्य या सरकार का अलगाव। पश्चिमी देशों में यह अलगाव भाव चर्च और राज्य के बीच है तो भारत जैसे बहुधार्मिक क्षेत्र में यह अलगाव सभी धर्मों के बीच के बराबरी की दूरी के रूप में विद्यमान है। आजकल क्या हो गया है कि धर्म और शासन एक साथ जुड़ गया है। धर्मनिरपेक्ष राज्य के सरकार को धर्म संबंधी किसी भी मामले पर किसी का भी पक्ष नहीं लेना चाहिए और धर्म को भी यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि धर्म निरपेक्षता के कानून को ध्यान में रखकर ही वह अपने प्रचार प्रसार का हर कदम उठाये। आजकल धर्मनिरपेक्षता का मतलब ही बदल गया। अब स्वयं राज्य के संचालकों ने भी अपने निजी जीवन को धर्म एवं अंध आस्थाओं के हवाले कर रखा है। परिणामतः भारतीय सांस्कृतिक सहिष्णुता को क्षति पहूँच गई। जनतंत्र को कूट तंत्र का परिवेश मिला।

4.2.1.2 सांप्रदायिकता विरोध :

सांप्रदायिकता का संबंध धर्म और राजनीति दोनों से हैं। सांप्रदायिकता धार्मिक भावनाओं का गलत इस्तेमाल करती है। एक धर्म के साथ जुडने केलिए दूसरे की निंदा एवं अवहेलना करती है। इस तरह धर्म के नाम पर मनुष्य

के बीच अपने पराये की भावना जागृत होती है। यूरोप में इसका रूप फासीवादियों का यहूदियों से विरोध, कालों के खिलाफ गोरों का नस्लवादी आंदोलन आदि रूपों में मौजूद है। भारत में मुख्य रूप से सांप्रदायिकता हिंदू - मुसलमान, सिख और ईसाई के बीच मौजूद है। चूँकी धर्मों का बुनियादी आधार सभी चराचरों की समानता है। राजनीतिक वर्चस्वता ने इस सहिष्णुता की भावना को तोड़कर वहाँ विद्रोह की स्थिति पैदा कर दी। इसके लिए निजी जीवन में घटित होनेवाले धार्मिक मामलों को भी सार्वजनिक स्वरूप देकर समाज में असहिष्णुता पैदा कर रहा है। जबकि जनतंत्रात्मक शासन व्यवस्था इन सब अमानवीयताओं के खिलाफ खडी होती है।

सांप्रदायिकता और राजनीतिक जीवन मूल्यों पर सोच विचार इसलिए ज़रूरी है कि यहाँ हिंदूओं के लिए अलग मुसलमानों केलिए अलग और सिखों केलिए अलग राष्ट्रवाद बन गया है। जबकि राष्ट्र सबकी समानता पर ज़ोर दिया करता है। इसाइयों ने धर्म परिवर्तन के मार्ग को अपनाकर राष्ट्रवाद को रूप दिया। बहु संख्यकवाद, अल्पसंख्यकवाद जिस आधुनिकता ने सांप्रदायिकता को ले आया उसी ने ही इन दोनों वादों की सृष्टि की है। जनता के बीच इस तरह के भेदभाव पैदा करने में जाति, धर्म, समुदाय आदि ने बहुत अधिक योगदान दिया है। इस समस्या से मुक्ति सहिष्णुता से ही संभव हो जाएगा। सबसे पहले धार्मिक सहिष्णुता। इसका भूल तत्त्व है हम जिस बात को पसंद नहीं करते हैं उसे भी स्वीकारने की मानसिकता विकसित करें।

4.2.1.3 जाति और जातीयता विरोध

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये वर्ग व्यवस्था में अंतर्निहित जातियाँ हैं।

अंत्यज एवं अछूत जिन्हें अवर्ण कहे जाते हैं। शूद्र भी सवर्ण है उसे तो उपनयन करने का अधिकार नहीं है इसलिए वह बाकी द्विज जातियों से अलग रह गया। जाति और जातियता में अंतर है। जब जाति राजनीति एवं सांस्कृति पर दबाव डालता है तब वह जातीयता का रूप ले लेता है। यह भी जनतंत्रात्मक शासन व्यवस्था को विकृत करनेवाली पद्धतियाँ है। समानता के मुद्धे को लेकर चलते हुए भी जनतंत्र कभी - कभी जाति एवं जातीयता के बीच जकड़ जाता है।

4.2.1.4 वैधता और वैधानिकता :-

वैधानिकता ऊपर से सक्षम अधिकारियों द्वारा दिये जानेवाले निर्देशों का पालन करना होता है। इसमें जनता की मान्यता हो या न हो उनका पालन करना ही पड़ना है। इसमें बाध्यता का भाव रहता है और वैधता में वांछनीय के प्रति स्वाभाविक समर्थन का। उदाहरण केलिए छुआछूत की समस्या को ले या फिर दहेजकी। वैधानिक रूप से इन दोनों पर ठोस प्रतिबंद लगाया गया है, फिर भी समाज में यह आज भी कायम है। हालाँकि इन वैधानिक निर्देशों को वैधता तब मिलेगी जब समाज इन्हें वांछनीय और नैतिक बाध्यता के रूप में लेगा और खुद - ब-खुद इसका पालन करना शुरू करेगा। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है कि वह अपनी संपूर्ण गलती को वैधानिकता प्राप्त होने की कोशिश में लगा रहता है और परंपरागत सनातन मूल्यों को बदलने की कोशिश भी इसलिए हो रहा है कि वह स्वतंत्र होना चाहता है इतना स्वतंत्र कि अपने जीवन को निरंकुशता के साथ जी सके।

4.2.1.5 मानवाधिकार संरक्षण : -

मानवाधिकार में संपूर्ण मानव राशि के पैतृक मूल्यों की सघनता निहित है। मनुष्य का जन्मजात् अधिकार है कि वह जाति, धर्म, वेश, भाषा, पौराधिकार,

विश्वास, संस्कृति, कुटुम्ब, लिंग आदि के भेदभावों के बिना मानवोचित जीवन जी सके। जीवन मूल्यों के संरक्षण की अनिवार्यता प्रस्तुत कथन में निहित है। मानवाधिकारों के संरक्षण का मतलब है जीवन - मूल्यों का संरक्षण। ऊपर उल्लिखित अधिकारों को प्रमाणित करनेवाला प्रमाण पत्र है मानवाधिकार। मानवाधिकार हमारे वैविध्यपूर्ण धार्मिक दर्शनों और बहुआयामी सांस्कृतिक धरोहरों में अंतर्निहित मूल्यों का ही प्रतिबिंब है। यह सार्वलौकिक और सार्वदेशिक है। जीवन के प्रति मानवराशि की सारी प्रत्याशाएँ इसमें अंतर्निहित है। मनुष्य को मानवोचित जीवन प्रदान करना तथा उनकी अहम अनिवार्यताओं, अधिकारों एवं उसकी स्वतंत्रता को सुरक्षित रखनेवाली विधियों एवं कानूनों के निर्माण की उचित कर्म पद्धतियों और इसके लिए आवश्यक कार्यक्रमों को स्वीकारने के दायित्वों को निभाना मानवाधिकार की समझौते को माननेवाले राष्ट्रों का दायित्व बन जाता है। वैसे ही अमुख समझौते द्वारा प्रतिपादित अधिकारों को देशीय न्यायालयों के ज़रिए संरक्षण मिलता है और जो कानून घोषित अधिकारों का उल्लंखन करता है उन नियमों को रद्ध किया जाएगा। ऐसे ही मानवाधिकार पूर्ण रूप से प्रयोग में आ जाता है। यही मानवाधिकारों की श्रेष्ठता है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने (UNO) 10 दिसंबर 1948 को सार्वदेशिक मानवाधिकार घोषणा को स्वीकृति दी। यह एक ऐतिहासिक घटना है।

संविधान के तीसरे अध्याय अनुच्छेद 12 से 35 तक मौलिक अधिकारों का ज़िक्र हुआ है जैसे समानता का अधिकार, स्वतंत्रता का, शोषण के विरुद्ध, धार्मिक स्वतंत्रता संस्कृति एवं शिक्षा संबंधी .... संपत्ति का, संवैधानिक उपचारों का यह सब मनुष्य की आधारभूत अधिकार है और मानवाधिकार की जड़ें हैं। मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम 1993 में कहा गया है कि व्यक्ति के जीवन, स्वतंत्रता, समानता और गरिमा से संबन्धित अधिकारों को मानवाधिकार कहा जाता है, जो संविधान द्वारा प्रत्याभूत है या निश्चित है।

सार्वभौमिक मानवाधिकार घोषणा के इतने वर्षों के बाद भी इस संसार में रहनेवाले विशाल मानवसमुदाय केलिए एक उत्कृष्ट ज़िंदगी की संकल्पना कोसों दूर है। हर कहीं मानव मन को छटका लगानेवाले मानवाधिकारों का उल्लंघन और धर्म, वंश, विश्वास आदि के नाम पर व्यापक विवेचन मौजूद है। गरीबी और निरक्षरता विश्वमानवीय शांति, नीति, स्वतंत्रता आदि की जडें हिला दी। नीतिन्याय व्यवस्था एवं जनतंत्र को चुनौती देनेवाले आतंकवाद एवं नशीली पदार्थों का अनियंत्रित व्यापार आदि सामाजिक बुराइयाँ मानवाधिकार एवं राजनीतिक जीवन मूल्यों केलिए चुनौती बन जाती है। विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों की आर्थिक स्थिति में अंतर भी बढ़ता जा रहा है। गरीबी में तड़पकर दम छोडनेवाले तथा स्त्रीयों एवं बच्चों के साथ अनैतिक व्यवहार का दर भी बढ़ता जा रहा है। विश्व के विभिन्न प्रदेशों में आदिवासी, प्रादेशिक निवासियों, अल्पसंख्यक जनता आदि के साथ भी अन्याय चल रहा है। सशस्त्रीय संघर्षों से ग्रसित क्षेत्रों में होनेवाले अमानवीय हत्याकांण्ड वंशीय शुद्धीकरण एवं नियोजित बलात्कार, जेल में होनेवाला उत्पीड़न यह सब मानवाधिकार की संकल्पना को निरर्थक एवं विकृत बना रहा है।

अकेले भारत में 20 करोड लोग गरीबी में जी रहे हैं। अशिक्षित और भी है, 4 करोड से ज़्यादा बच्चे हैं जो बाल मज़दूरी करने को मजबूर है, खाना, वस्त्र, आवास, स्वास्थ्य संरक्षण, साक्षरता, मज़दूरी आदि आधारभूत आवश्यकताओं को पाने में समाज के विशाल जन समुदाय असमर्थ है। असंतुलित अर्थनीति एवं विवेचन सामाजिक समता की नीति को विकल बना देता है। शासकीय आज्ञानुवर्तियों की ओर से उत्पीड़न, अपमान, आदि प्रवृत्तियाँ भी प्रत्येक राष्ट्र में विभिन्न तरीके से हो रहा है। लैंगिक उत्पीड़न एवं कैदियों के साथ अमानवीय व्यवहार सार्वजनिक है।

4.2.2 लोकतंत्र की चुनौतियाँ

जनतंत्रात्मक शासन व्यवस्था की सबसे बडी खूबी है उसका संविधान। स्वस्थ शासन केलिए देश में विधि का होना परम आवश्यक है। इन विधियों का पालन करना देशवासी अथवा नागरिक का कर्तव्य होता है। वर्तमान स्थिति यहाँ तक शर्मनाक बन चुकी है कि शासक और अधिकारी जिसके ऊपर यह जिम्मेदारी है कि वह शासन व्यवस्था को संविधानानुसार चलाएँ, वे ही संविधान और शासकीय आदेशों के प्रतिकूल व्यवहार करके समाज में विधि निषेधों की विकृतियाँ पैदा कर रहे हैं और भ्रष्टाचार को बढ़ावा दे रहा है।

भारत की राजनीति पर दृष्टि डालने से हम यह समझ सकेंगे कि लोकतंत्र का अब कोई मूल्य नहीं रह गया है। लोकतंत्र अब राजनीतिज्ञों केलिए मुखौटा बन गया है कि जिसके ज़रिए वे जनता को भटका सके। कोई भी दल एवं नेता राजनीति को अब सेवामार्ग के रूप में नहीं अपनाता। अधिकार मोह में फँसकर लोकतंत्र का भी मज़ाक बनाये रखा है। एक ही पार्टी के अंदर छोटे - छोटे मतभेद उभरते ही एक और पार्टी जन्म लेता है। अब हमारे भारत में जनसंख्या बढ़ने के ठीक अनुपात में पार्टियों की संख्या भी बढ़ रही हैं। अधिकारमोह के बिना सेवा को लक्ष्य करके राजनीति में उतरनेवाले लोग भी अंत में कूटनीति को सभालने केलिए मज़बूर बन जाते हैं। राजनीतिक जीवन मूल्यों को बनाये रखने केलिए व्यक्ति का नेक व्यवहार एवं नैतिक आचरण बहुत ज़रूरी है। इसके बिना कोई भी शासन का चक्र संभालना चाहे वह दलों के आधार पर हो या फिर आरक्षण के आधार पर या फिर जाति, धर्म, लिंग आदि के आधार पर हो, वह भी अधिकार का रस चूसने केलिए मज़बूर बन जाता है।

नेता लोग अधिकार को बनाये रखने केलिए गुंडों को पालते हैं। अब नेता के साथ जो लोग जुडे रहते हैं। वे किसी विचारधारा को मानकर इसमें जुडे हुए लोग नहीं मगर नेताओं के पैसों पर पलनेवाले लोग हैं। सत्ता को पाने केलिए नेता लोग कुछ भी कर लेते हैं। कभी साँप्रदायिक बन जाते हैं, कभी धर्म निरपेक्ष बन जाते हैं और अपने जेब भराने केलिए ज़रूरी और गैरज़रूरी देशी-विदेशी प्राइवेट कंपनियों के साथ समझौता कर लेता है। बाद में जनता को या प्रकृति को अमुक कंपनियों के ज़रिए नुकसान पहूँचने लगते हैं और उक्त नेता गण के द्वारा एक समिति की नियुक्ति होती है। इस पर विचार - विमर्श केलिए। समिति के रिपोर्ट आने तक पाँच साल समाप्त हो जाता है और शासन भी खत्म हो जाता है। नए लोगों द्वारा शासन संभालने का सिलसिला शुरू हो जाता है। पुराना सब वहीं का वहीं बनी रहती है। शासक लोग पक्ष और विपक्ष की कमियों को ढूँढने में मज़ा लेते रहेंगे, लेकिन कहीं भी कमियों को भराने की कोशिश नहीं होती। देश की निरीह जनता इन सब कार्यों एवं करतूतों का जीता जागता साक्षी बन जाता है।

राजनीति के इतिहास को बनाने वाले मूल तत्त्व राजनेताओं और पार्टियों का स्वरूप एवं चरित्र होता है। आज ज़्यादतर राजनेता एवं राष्ट्रीय दल लोकतंत्र विरोधी बन गया है। प्रत्यक्षतः नहीं परोक्ष रूप से। अब लोकतंत्र चुनाव के समय में अपना विश्वरूप जनता के सम्मुख प्रकट करता है। सत्य, अहिंसा, धर्म, न्याय, स्वतंत्रता, समता विश्वबंधुत्व की संस्कृति में लोकतंत्र कालेधन और असामाजिक अनैतिक तत्त्वों से चल रहा है। अब चुनाव लड़ने की बात भी आम आदमी केलिए बोझ बन गया है। जिसके पास पैसा नहीं वह चुनाव लड़ नहीं सकता। पैसों केलिए भ्रष्टाचार भी हाज़िर हो जाता है। इन सब पर नियंत्रण तो चुनाव आयेग कर रहा है। लेकिन कहाँ तक यह सार्थक हो पाया है, यह हमें देखना है। चुनाव आयोग को

इसलिए रखा गया है कि वह अपनी कार्य कुशलता के ज़रिए हर पाँच साल के बीच होनेवाले चुनाव में कम पैसे और वक्त खर्च करने का बंदोबस्त कर सके। लेकिन संविधान के इस लक्ष्य को साकार करने में इस आयोग ने कामयाबी हासिल नहीं की। चुनाव लड़कर जीतनेवाले हर जनप्रतिनिधि को सरकार ने 2 करोड़ का निर्वाचन क्षेत्र निधि निश्चित किया गया है। इसमें से भारी हिस्सा उनके जेब में जाता है। एक बार चुनाव जीत लिया तो उम्र भर केलिए उनकी पेंशन भी बँध जाती है और सारे देश में मुफ्त यात्रा और मुफ्त चिकित्सा आदि की सुविधाएँ मिल जाती हैं। इस प्रकार के लोकतंत्र से किसको ज़्यादा लाभ हो सकता है जनता को या फिर शासक वर्गों को।

लोकतंत्र के आधार स्तंभ है विधायिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका। नियम निर्माण से लेकर नियमों का कार्यन्वयन एवं संरक्षण इनके द्वारा होता है, और चौथा है मीडिया जिसके ज़रिए जनता एवं सरकार के बीच एक संबंध बना रहता है। चुनाव जीतनेवाले लोगों में से कुछ लोग सरकारें बनाते हैं बाकी के लोग विपक्ष में चले जाते हैं, जिसका काम है विधान सभा में बैठकर सरकार के हर कदम पर निगरानी रखना और जनता की आवश्यकताओं को अधिकारियों तक पहूँचाना। जनता के पैसों का खर्च के हिसाब - किताब ठीक से जानने केलिए बजट भी हाज़िर है। लेकिन विधान सभा में सबसे ज़्यादा बहस मंत्रियों के वैयक्तिक कार्य करतूतों पर चलती है, और फिर एक दूसरे को गालियाँ देना, हल्ला मचाना आदि होता है, इसलिए हर बार विधान सभा बीच में रुक जाती है।

विधायिका के अलावा राज्य की शासन व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग है न्यायपालिका। यह संविधान का रक्षक है और सच के अंतिम निर्णायक भी है।

जनता को न्याय दिलाने केलिए राज्य शासन का सबसे पारदर्शी मार्ग है न्यायपालिका। इसका सिद्धांत है 'विलंबित न्याय न्याय का नकार होता है'। लेकिन जब कोई व्यक्ति न्याय की उम्मीद करके इसके पास जाता है भले ही उसका उम्र बीत जाए लेकिन उसे न्याय मिलता नहीं। लोकतंत्र का और एक महत्त्वपूर्ण अंग है कार्यपालिका। राज्य का सारा काम इससे चलता है। विधायिका और न्यायपालिका के फैसलों को लागू कराने का काम कार्य पालिका के ऊपर सौंपा गया है। इसका काम राष्ट्रपति के अधीन में संचालित है। इसमें पुलिस एवं सेना सम्मिलित है। वैधानिक एवं नैतिक दोनों दृष्टियों से यह जनता का सेवक बनता है। इसका मुख्य तंत्र नौकरशाही है। शासक वर्गों के गुलाम है इसकी कर्मचारियाँ। इसलिए ज़्यादतर नुकसान जनता को झेलना पड़ रहा है। लोकतंत्र इनके हाथों की कठपुतली है। लालफीताशाही के एकदम विकराल रूप हम इसमें ढूँढ पाएँगे। एक फयल ऊपर तक पहूँचाने केलिए आम जनता को सबसे निचले अधिकारी से लेकर कितनों को घूस देना एवं कितनों के हाथ पैर पकड़ना पड़ता है। इनकी भाषा इनकी सारी करतूतें आदि से जनता एकदम अनजान है, और वे इस माहौल को बनाये रखने का खूब प्रयत्न करते रहते हैं। लोकतंत्र का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है पत्रकारिता। इसके ज़रिए जनता एवं सरकार के बीच पारदर्शी संबंध बनाये रहते हैं। लेकिन आजकल माध्यम भी भ्रष्टराजनीति के साथ जुड़कर आम जनता की आँखों में धूल फेंकने का कार्य कर रहा है। उनका मकसद केवल पत्र की गरिमा को बनाये रखना एवं प्रसार के दर को और भी आगे ले जाना है। इसके लिए वे ज़रूरी एवं गैरज़रूरी मामलों को भी सनसनीखेज बना देता है। आजकल मीडिया जन सामान्य की संवेदना से परे विज्ञापन को महत्त्व दे रहा है।

अतः हमें इस बात से सहमत होना पड़ता है कि खामी लोकतंत्र की परिकल्पना में नहीं। लोकतंत्र को किस तरह शासक वर्ग जनता के सामने लाते हैं उसी में खोट पैदा हुआ है। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान जिस लोकतंत्र की परिकल्पना को अपनायी गई है वह राजनीतिक जीवन - मूल्यों से युक्त नैतिक लोकतंत्र था। इस देश की जनता ठीक तरह से समझता है कि नैतिक लोकतंत्र क्या है और आजकल हो क्या रहा है। समकालीन कवियों में अरुण कमल, उदय प्रकाश, अनामिका, रमणिका गुप्ता, ज्ञानेन्द्रपति, कात्यायनी, पवन करण, इब्बार रब्बी आदि कवियों ने इस लक्ष्य को साकार करने के उद्धेश्य को ध्यान में रखकर आज की राजनीतिज्ञों एवं राजनीतिक व्यवस्था के सभी गूढ़तंत्र को अनेक प्रतीकों एवं बिंबों के ज़रिए कभी सीधे - सीधे कभी व्यंग्य की भाषा में हमारे सामने रखता है, ताकि हम जनता भी लोकतंत्र के असली स्वरूप को जान जाएँ। राजनीतिक जीवन मूल्यों पर समकालीन कवियों के दृष्टिकोण को जानने पहचानने का प्रयास प्रस्तुत अध्याय में अंतर्निहित है।

4.3 समाजवाद और आम जनता

समाजवाद एक राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था है, जिसके द्वारा अमीर और गरीब के भेदभाव को मिटाकर देश की जनता को समानतापूर्ण जीवन जीने का एवं देश के सभी संसाधनों का उपयोग करने की सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने की सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। सन् 1917 की रूसी क्रांति के तहत समाजवाद का महत्त्व प्रतिष्ठित हुआ। इससे सिद्ध हुआ कि क्रांति द्वारा किसी राष्ट्र अथवा समाज में गराबी तथा अमीरी को मिटाकर समाजवाद की स्थापना की जा सकती है। प्रस्तुत क्रांति की सफलता के बाद समाजवाद को विविध राजनीतिक विचारधाराओं में सम्मानजनक प्रतिष्ठा मिली। भारतीय लोकतंत्र में भी।

सन् 1931 में कॉग्रेस के अंतर समाजवादी दल का विकास हुआ। भारत पहले से लेकर समाजवादी विचारधारा के पोषक है। इस संस्कृति में प्रतिपादित समता, विश्वबंधुत्व, दानशीलता आदि समाजवादी परिकल्पनाओं को बुलंद करती है।

जनतंत्रात्मक शासन व्यवस्था ने जिस समाजवाद के नारे को ऊँचा किया है उसमें जनता की स्थिति को देखने परखने की सख्त ज़रूरत है। समाजवाद का लक्ष्य एक राष्ट्र की सभी जनता को एक साथ जोडना तथा उनके जीवन स्तर में बराबरी स्थापित करना था लेकिन देश की आधी आबादी अब भी इस संकल्प से एकदम हाशिये पर रह गई है। 'मुहावरा' नामक कविता में विजेंद्रजी ने इस सच्चाई को बाहर लाने की कोशिश की है -

"वह समाजवाद किसका है? जो मेखें ठोंक कर
हांफ रहा है
जो साइकिल - स्टैण्ड के कोने पर सरदी को
कुड़ - मुडा - कुड़ - मुड़ा कर झेल रहा हैं?
वह भूटानी
नेपाली गोल-गोल टोपियां पहने मैदान में
उतर आए हैं।
उनकी ज़रूरत का सामान पीठ पर लदा है।
कड़ी सरदी से हाथ पांव सिकुड गए हैं।
समाजवाद के नारे खुली पीठ पर
चाबुकों की तरह पड़ रहे हैं।" [1]

यही सच्चाई है बदल रहे शासन तंत्र में आम आदमी जो अपने भूख के

1. विजेन्द्र - ये आकृतियाँ तुम्हारी -पृ - 36

खातिर कडी मेहनत कर रहे हैं। उन्हें समाजवाद की कतार से दूर फेंका गया है।

समाजवाद सबको समान नज़रिए से आंकने की दृष्टि है। लोकतंत्र भी सभी जनता को एक जैसे मानते हैं। कहते हैं यहाँ के लोगों को अपनी आधारभूत सुविधाएँ अवश्य प्राप्त होंगे और कोई अपने अधिकारों से वंचित नहीं रहेगा। फिर भी कवि अरुण कमलजी को 'असंवैधानिक मौत' नामक कविता में सभी संवैधानिक अधिकारों से वंचित आम आदमी का चित्रण करना पड़ रहा है, क्योंकि यह भी आज का यथार्थ है और इस यथार्थ से कोई भी अपना मूँह नहीं मोड़ सकता। साहित्यकार तो कदापि नहीं। कवि का कहना है -

"यह कितनी अजीब बात है
कि आदमी पीपल के सूखे पत्ते की तरह
लोकतंत्र और समाजवाद
दो पन्नों के बीच सुरक्षित है।" [1]

संवैधानिक रूप से सभी व्यक्तियों को जीने का अधिकार तो प्राप्त है लेकिन जब राष्ट्र के आम आदमी भूख एवं गरीबी में मरने केलिए मज़बूर है, तो कागज़ों में इन सब अधिकारों को लिखकर रखने से क्या फायदा।

समाजवाद पर भाषण देने वाले और जनतंत्र पर गर्व रखनेवाले भारतीय जनता को सोचने केलिए विवश करती है उदय प्रकाशजी की 'एक लिखी जा रही कविता का पहला ड्राफ्ट' नामक कविता। प्रस्तुत कविता में कवि ने उन आम आदमियों का चित्रण किया है जो संपूर्ण संवैधानिक अधिकारों के हिस्सेदार होकर भी इनसे वंचित रह रहे हैं ।

---

1. अरुण कमल - अपनी केवल धार - पृ - 68

"अंतरिक्ष के निर्वात को वे बच्चे भर दें
अपनी पवित्र साँसों की भाषा और किलकारियों से
जो कैड़बरीज नहीं खाते, जिनके नसीब में नहीं है
दून और ऋषि वेली पब्लिक स्कूल
जो बन नहीं सकते 'इंडियन आइडल' या 'वॉयस ऑफ इंडिया'
वो बच्चियाँ जिनकी नियति में है एक दिन कोई सोनगाछी
कोई कमाठीपुरा कोई फाकलैंड
या फिर आपकी कोठियों का गैरेज - कम - सेर्वट - कवार्टर।" [1]

कवि यहाँ जिन लोगों के बारे में बता रहे हैं वे भी इस जनतंत्रवादी - समाजवादी धर्मनिरपेक्ष शासन व्यवस्था के हिस्सेदार हैं। लेकिन अपने इस लोकतंत्र में वे अबगरेब के कैदी है। अपने ही कुए का तेल, अपनी ही नदी का जल पीने से प्रतिबंधित है। राजनीतिज्ञ कहे जानेवाले हत्यारों के उत्सव समारोह में अँगाछे में अपने मूँह छुपाए सबसे पीछे कतार पर अपनी खाँसी को दबाकर बैठने को विवश है। ताकतवर दलाल लुटेरे खुशमिज़ाज लोग जब खा - पीकर अपने भाषणों से जनता के मन को लूटकर सभागार छोड़ते हैं तब कुर्सियाँ समेटने झाड़ू लगाने केलिए विवश इन लोगों के आगे समाजवाद का नारा लगाना जनतंत्रात्मक शासन व्यवस्था की सबसे बडी मूल्य च्युति है।

समाजवाद पर टिके लोकतंत्र की असलियत यह है कि यहाँ प्रत्येक वर्ग केलिए समता अलग - अलग है। अमीरों के बीच एक समता और इससे अलग होकर गरीबों के बीच और एक समता उपस्थित है। लेकिन इन दोनों के बीच समता लाना स्वतंत्रता प्राप्ति के इतने वर्षों के बाद भी नामुमकिन रह गया है। गणतंत्र दिवस

1. उदय प्रकाश - एक भाषा हुआ करती है - पृ - 15

में कुछ बच्चे उसे एक समारोह के समान बडे-बडे स्कूलों में, बिलकुल अच्छे कपडे पहनकर वह भी अंग्रेज़ी स्टैल के बूट्स एवं टाई बाँधकर, विभिन्नकार्यक्रमों के आयोजन के साथ मना रहे हैं तो कुछ बच्चे झाडू की तीली के सहारे तिरंगे झंडे बनाकर उसे फहरा रहे हैं - 'गणतंत्र दिवस' नामक कविता में अनामिका जी कहती है -

"कल है गणतंत्र दिवस
बच्चा न 'गण' समझता है, न 'तंत्र' ही,
मगर एक अजब बेखयाली में
उसने बनाए हैं झंडे पूरे इक्कीस।
पैड-वैड के पन्ने रँग - रँगकर
झाडू की तीलियाँ निकालकर
छत के गमलों में वह बोएगा
अलस्सुबह कल ये तिरंगे।"[1]

ये जो अपने - अपने तरीके से गणतंत्र दिवस मना रहे हैं असल में ये नहीं जानते हैं कि उनके साथ हमारे नेता गण व प्रशासनिक क्या कर रहे हैं? ये तो उन सपनों में डूबा है कि एक दिन हम भी बाकी बच्चे के साथ एकमेक होकर गणतंत्र दिवस मनाएँगे।

आज भारतीय लोकतंत्र में आम आदमी का औकात तिनके चुन - चुन कर लगातार दूसरा घोसला बनानेवाली गौरैया जैसी है। आज के समाजवाद में जो आम आदमी केलिए तय किया गया है वह सबके लिए है। इस समाजवाद में ज़्यादतर परेशानी आम आदमियों को ही है। अगर आम आदमी की समस्या भूख है तो पूँजीपतियों की समस्या कारोबार है। समाजवाद होने के कारण दोनों की ज़रूरतों पर

1. अनामिका अनुष्टुप - पृ - 59

ध्यान देना सरकार का दायित्व है। इसलिए आम आदमियों के सबकुछ हड़पकर पूँजीपतियों को दे देता है और आम जनता को विस्थापित किया जा रहा है। इस समाजवाद की असलियत जाने बिना आम आदमी जहाँ उन्हें जाने को कहा गया है जाकर अपनी ज़िंदगी की नयी शुरुआत फिर से करने लगता है। पूँजीपतियों और आम आदमियों को समाजवाद का लाभ ऐसे ही मिलता है और इस तरह सरकार भी समाजवाद को लाने में कामयाबी हासिल करता है। 'आदमी की अहमियत' नामक अपनी कविता में राजेन्द्र कुमार वर्माजी कहते हैं -

"आम आदमी परेशान है
क्योंकि वह अकेला है।
जैसे सब उसके लिए हैं
और वह सबके लिए हैं
क्योंकि
समाजवाद है।" [1]

समाजवाद के नाम पर जनता को धोखा देनेवालों का चित्रण प्रस्तुत कविता में हम देख सकते हैं। आजकल समाजवाद अमीरों के बीच हो रहा है। अमीर को और भी अमीर बनाने का और गरीब को और भी गरीबी देना का समाजवाद चल रहा है आज हमारे भारतीय जनतंत्र में।

समाजवाद के नारे गूँजनेवाले भारतीय लोकतंत्र में भी आज वोट की राजनीति को प्रोत्साहन मिल रहा है। यहाँ मनुष्य की हैसियत सिर्फ एक वोट की है। इस हैसियत से अभिहित होने केलिए जनता को हर पाँच साल का इंतज़ार करना पड़ रहा है। लोकतंत्र है, जनता का शासन है, लेकिन चलती है किसी की स्वेच्छाचारिता। इस

1. राजेन्द्र कुमार वर्मा - सूर्य बन कर उगना है - पृ - 30

लोकतंत्र में आम जनता की स्थिति का विश्लेषण करते हुए देवतालेजी कह रहे हैं -

"सुबह धानमण्डी में औरत चक्कर खाकर गिर पड़ी
वह भूखी थी और माँ बननेवाली थी
गोद में बच्चे को संभाले मकई केलिए खड़ी थी
कतार में सुबह से
मई का सूरज इन सब बातों केलिए
क्या कर सकता है?
दोपहर में उसका नम्बर आये
उसके पहले उसने दम तोड़ दिया
किसी आँख से कुछ नहीं निकला
बहुत सारे लोग बुत बने देखते ही रह गये
इतने में नारेबाजी शुरू हो गयी जुलुस निकला
भोंपू से लदी झण्डा फहराती एक जीप आ गयी
पत्थर भी फेंके गये
इससे उस बच्चे को कुछ नहीं मिला
नगरपालिका के चुनावों में जीतने केलिए
एक मरी हुई औरत की लाश के साथ
सौदेबाजी की गयी।"[1]

यही है आज का समाजवाद। वोट केलिए जनता के साथ कुछ भी कर लेते हैं। अब जनतंत्र नहीं कूट तंत्र है और जनता इस तंत्र से अनजान है। अब की राजनीति गुंडे और पैसों की ताकत से चल रही हैं। इसके आगे औरत, बच्चे, बूढ़े सब समान है किसी के प्रति कोई संवेदना नहीं।

---

1. चन्द्रकांत देवताले - उसके सपने - पृ - 157

आजकल की राजनीति में भी समाजवाद के नाम पर तानाशाही चल रही है, लेकिन वह पहले के समान प्रत्यक्ष रूप में नहीं अर्थत् किसी पर अपना वर्चस्व स्थापित करने की हठ से नहीं बल्कि लोगों का ध्यान आकर्षित करके उन्हें एक छल की दुनिया में रखने की दिशा में हो रही है। वह तो शांति का दूत बनकर, निश्शस्त्रीकरण की बात कहकर लोगों को अपने बहकावे में रखनेवाले हैं। लेकिन पीछे से जनता को लूटने एवं उनके साथ अमानवीयताएँ बरतने में कोई कसर नहीं छोड़ता। 'तानाशाह की खोज' नामक कविता में कवि उदय प्रकाशजी का कहना है -

"अब तो वह आयेगा तो उसे पहचानना भी मुश्किल होगा
हो सकता है, वह कहता हुआ आये कि मैं इस
शताब्दी का सबसे ज़्यादा छल गया व्यक्ति हूँ
और वह विनोबा भावे या संत तुकाराम के बारे में
बात करे या सफेद - सफेद कपडे पहनकर
सफेद - सफेद कबूतर उडाये या निश्शस्त्रीकरण
की बात करे
उसका चेहरा सफाचट हो, चेहरे में झुर्रियाँ हों
और वह सेना और पुलिस के होने के ही खिलाफ हो
वह भाषणों में करता हो चिडियों
और बच्चों से बेतहाशा प्यार
कहीं उसने बनवा दिया हो अस्पताल,
कहीं खोल दी हो प्याऊ, कहीं कोई
धर्मशाला
कोई नृत्यकेंद्र
कोई पुस्तकालय।" [1]

1. उदय प्रकाश - अबूतर - कबूतर - पृ - 55-56

इन सब तानाशाहों की शिफारिश देश की जनता एवं हमारे बीच के किसी के मूँह से भी लगातार निकलता ही है। लोगों के साथ छल करने का यही तरीका आजकल चल रहा है। पहले तो ऐसे लोगों को पहचानना बहुत आसान था। अब वे प्रत्यक्षतः अपने सही चेहरे को दिखाते नहीं। जीवन के हर क्षेत्र में अब मानवीय संवेदनाओं के साथ लोग खेल रहे हैं। चाहे वह राजनीति का क्षेत्र हो या फिर और कहीं। उदय प्रकाशजी की कविता 'राज्यसत्ता' में उन्हेंने प्रजातंत्र के भीतर क्या चल रहा है इसका विश्लेषण किया है। समाजवाद प्रजातंत्र के मुख्य मुद्धे होते हुए भी यहाँ प्रजातंत्र को राज्यसत्ता के भीतर चलने का हुकुम दिया गया है। यहाँ जो प्रजातंत्र चल रहा है उसमें जनता को सिर्फ और सिर्फ तंत्र के भीतर प्रजा होने का हक दिया गया है। कवि का कहना है -

"राज्यसत्ता
'प्रजातंत्र' का प्रजापति है
और 'प्रजा' अगर 'तंत्र' से
टकराती है कभी
तो तंत्र की हिफाजत में तैनात
बंदूक की नाल से
बोलती है राज्यसत्ता -
कि सुनो मेरी प्यारी प्रजा
तुम्हें तंत्र के भीतर ही
प्रजा होने का हक है।"[1]

आज का भारत बिलकुल स्वतंत्र है। प्रजातंत्र के अनुरूप यहाँ हर नागरिक को राज्य की सत्ता पर विशेष अधिकार है, लेकिन व्यवस्था का नाम बदलने से

1. उदय प्रकाश - अबूतर - कबूतर - पृ - 64

स्वेच्छाचारिता बदलता नहीं। आज भी यहाँ अधिकारी और धनी वर्गों को ही ज़िन्दा रहने का अधिकार है। प्रजातंत्र एवं समाजवाद अब इन अधिकारी वर्गों के हाथ एवं दिमाग से चल रहा है।

समाजवाद के नाम पर जनता के साथ चल एवं ढ़ोंग करनेवाले राजनीतिज्ञों और राजनीतिक व्यवस्था को एकदम कृत्रिम एवं वैयक्तिक स्वार्थों पर केंद्रित रखनेवाले समाज के करोड़पतियों पर कवयित्री कात्यायनीजी आक्रोश की गुंजाइश को ज़रूरी समझती है। 'तर्क के बारे में' शीर्षक अपनी कविता में वे तर्क ज़रिए नियमित एवं चालू सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था में बदलाव लाने केलिए जनता को प्रेरित कर रही है -

"बताता है वह
रहस्य और अंधकार
और कृत्रिमता
और निरुपायता से
मुक्ति के बारे में
इसलिए ज़रूरी है तर्क करना
और लोगों को बताना
तर्क के बारे में
जो चाहते हैं दुनिया को चलाना ऐसे ही
जैसे कि वह चल रही है
वे डर जाते हैं
जब हम शुरू करते हैं
तर्क करना।" [1]

1. कात्यायनी - जादू नहीं कविता - पृ - 79 - 80

अबकी उजड़ी राजनीतिक व्यवस्था की पुनः स्थापना केलिए तथाकथित व्यवस्था का शुद्धीकरण अनिवार्य है और यह जनता के द्वारा ही संभव हो सकता है। क्योंकि राजनीति में मूल्यों के होने का गुण सबसे ज़्यादा उनको ही मिलता है।

आम जनता इस प्रतीक्षा एवं उम्मीद में जी रहे हैं कि कभी न कभी कोई तो आयेगा जिसके ज़रिए मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा होगी। समाज में सबको बराबरी का दर्जा प्राप्त होगा। देश की तत्कालीन उज़डी व्यवस्था में ज़रूर कोई न कोई बदलाव आ जाएगा। 'प्रतीक्षा' नामक अपनी कविता में इब्बार रब्बीजी का कहना है -

"मैं कब से पडा हूँ
वहीं का वहीं
वह कोई आयेगा
भूखे को रोटी देगा
अँधे तो आँख
लँगड़े को पाँव देगा
कमज़ोर को लाठी
कब से कब से
क्रांति की राह में
खडा है पूरा देश।" [1]

देश की दुःस्थिति की ओर कवि ईशारा कर रहे हैं। हर कोई यहाँ इस उम्मीद के साथ जीनेवाले हैं कि एक न एक दिन सब कुछ ठीक हो जाएगा। अच्छा नेता आयेगा, शासन मूल्यों पर अधिष्ठित होगा, विधि - न्याय कानून सब जनता का पक्ष लेगा। आज की परिस्थिति भी राजनीतिक जीवन - मूल्यों की पुनः स्थापना की माँग करती है।

1. इब्बार रब्बी - लोगबाग - पृ - 90 - 91

कहते हैं भारत स्वतंत्र है प्रजातांत्रिक गणराज्य है यहाँ सब नागरिक एक समान है। प्रजातांत्रिक व्यवस्था का सर्वोच्च अधिकारी जनता है। लेकिन इन अधिकारों को वे पाएँगे कैसे। चुनाव के संदर्भ में पैर पकड़ने वाले नेता की गाड़ी चुनाव के बाद तेज़ रफ्तार में पूरी सेक्यूरिटी के साथ निकल रहा है तो जनता चाहे स्त्री हो, पुरुष हो, बूढे हो, बच्चे हो, अंधे हो, लंगडे हो सड़क पार करने केलिए घंटों तक इंतज़ार करना पड़ता है। कवि इब्बार रब्बीजी की 'सड़क पार करने वालों का गीत' नामक कविता में वे कहते है -

"मंत्रियों, तस्करों
डाकुओं और अफसरों
की निकल जाएँ सवारियाँ
इनके गरुड़
इनके नंदी
इनके मयूर
इनके सिंह
गुज़र जायें तो सड़क पार करें
यह महानगर है विकास का
यह पूरा हो जाय तो हम
सड़क पार करें ये
बढ़ लें तो हम बढें।" [1]

सड़क पार करने केलिए इंतज़ार करने में आम जनता पर सामाजिकता की नीति को कायम किया गया है। सामाजिकता एवं समाजवाद कब कहाँ कैसे स्थापित करना है। यह राजनीतिज्ञ एवं शासक तय करता है।

1. इब्बार रब्बी - लोगबाग - पृ - 101 - 102

आज के समाजवाद में करोडों की मृत्यु हो रही है। करोडों भूख एवं गरीबी में तड़प रहे हैं। करोडों बच्चे फैक्ट्रियों में झुलस रहे हैं। ये जो मुश्किलें हैं, वे सब करोड़ों की गिनती में हैं, जहाँ प्रजातंत्र है और जहाँ चुनौती के समय करोड़ों की राय माँगने की सुविधा है, वहाँ ये करोड़ों की स्थिति एकदम बदतर है। 'राजनीतिक प्रलाप' नामक कविता में श्री कुमार अंबुज का कहना है -

"इतनी ज़्यादा मुश्किलें है जिनमें जीवित हैं लोग
करोड़ों लोग गरीबी के नर्क में हैं
करोड़ों बच्चे झुलस रहे हैं फैक्ट्रियों में
करोड़ों स्त्रियाँ जर्जर शोकमय शरीरों में मुसकरा रही हैं
अदृश्य सुखों की प्रतीक्षा में हाड़ तोड़ रहे हैं करोड़ों लोग
जो भी मुश्किलें हैं वे करोड़ों की गिनती में हैं
और नामुमकिन सा ही है उनका बयान
अभाव और बीमारी - हज़ारों लोहकूटों द्वारा कूट दिए गए शब्द हैं।" [1]

हमारे बदलते सरकार ने गरीबी हटाने एवं आर्थिक समता लाने केलिए बहुत सारी योजनाएँ बनायी हैं लेकिन अब भी देश की आधी आबादी जनता गरीबी बेरोज़गारी एवं आर्थिक संकट में फँसा हुआ है।

समाजवाद में सबको बराबरी की श्रेणी में लाने का प्रयास चल रहा है। इस मुद्धे को आगे रखते हुए कई विकास योजनाएँ एवं आरक्षण की सुविधाएँ कानून द्वारा पारित किया गया है, ताकि समाज के सबसे निचले तबके के लोग भी आगे आये और बाकी लोगों के समान जीवन स्तर उन्हें भी प्राप्त हो जाए। देशी धरोहरों को सुरक्षित रखने केलिए हमारी संस्कृति को बनाये रखने केलिए यहाँ की हर तबके

1. कुमार अंबुज - अनंतिम - पृ - 10

के लोगों की भागीदारी वांछनीय है। 'प्रधानमंत्री और शिल्पी' नामक कविता में कवि कुमार अंबुजजी का कहना है -

"ऐसे एकत्र हो गए शिल्पियों से प्रधानमंत्री ने कहा
मुझे गर्व है कि आप लोग
शिल्पी हैं और तमाम कठिनाइयों के बीच कर रहे हैं काम
शिल्पियों में से एक - दो ने कहा हिम्मत बटोरकर
हमें नहीं मिलती लकड़ी
लोहा और ताँबा नहीं मिलता
नहीं मिलते रंग नहीं मिलती मिट्टी तक
और जैसे - तैसे बना ले कुछ तो नहीं मिलती
इतनी भी कीमत कि निकल सके लागत।" [1]

आम जनता के बीच आनेवाले राजनीतिज्ञों से हर बार यही रटाते - रटाते साधारण जनता को तंग आ चुके हैं। देश की प्रगति में इन लोगों की कामयाबी भी शामिल है तो समाजवादी प्रजातांत्रिक व्यवस्था में इन्हें भी बाकी के समान जीने का हक है। राजनीतिज्ञ इन सबकी बातें कान भर कर सुनते हैं लेकिन इन्हें हर पाँच साल में बहुत विरले मिलने वाले राजनीतिज्ञों से बार- बार यही कहते रहना पड़ रहा है।

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था समाजवाद के तत्त्व पर निर्भर है। जहाँ जनता का शासन है वहाँ जनता की समता एवं समानता भी ज़रूरी है। लेकिन यह सिर्फ कहने लायक या लिखने लायक बनकर रह गया है। आज भी हमारा भारत असमानता के दौर से गुजर रहा है। जाति, धर्म, लिंग, राजनीतिक पक्षधरता, आर्थिक परिस्थिति आदि सब कुछ इसके लिए कारण बन जाता है।

---

1. कुमार अंबुज - अनंतिम - पृ - 12

4.4 भ्रष्टराजनीति एवं राजनीतिज्ञ

आजकल राजनीति एवं अधिकार भ्रष्ट हो गया है। अपने अधिकारों को पाने केलिए या फिर बनाये रखने केलिए लोग कुछ भी कर लेते हैं। नौकरशाही में धन का राज चल रहा है जिनके पास धन है उन्हें और कोई योग्यता की ज़रूरत नहीं पड़ती। सरकारी कर्मचारियों ने घूस लेकर सभी क्षेत्रों में बिलकुल अयोग्य एवं कामचोर लोगों की भर्ती करवाता है। यह स्थिति समाज की सभी संस्थाओं में कायम है। पैसा है तो गैरकानूनी बातें भी कानून के अनुकूल बन जाती हैं। 'खोटा सिक्का' नामक कविता में शिवकुमार श्रीवास्तवजी का कहना है -

"हैं राजनीति में भी खन खन बजने वाले सिक्के चलते,
नौकरशाही में यही फूलते और फलते।"[1]

धन की लोलुपता में पड़कर गैरकानूनी काम करके जनता एवं न्यायपालिका को उल्लू बनाने में हमारे यहाँ के दफ्तरशाह बहुत आगे निकले हैं, कवि ने इस सच्चाई को इन पंक्तियों में व्यक्त किया है। "सूखा : एक प्रतिक्रिया" नामक अपनी और एक कविता में आवाम के साथ धोखा करनेवाले राजनीतिज्ञों का प्रतिपादन कवि ने यों किया है -

"यह भी पता नहीं है -
गरीब आवाम को
कि उसका विश्वास छला गया है !
दिवा स्वप्न में
कागज़ी योजनाओं के प्रारूप में।
.....

1. शिवकुमार श्रीवास्तव - तुम ऋचा हो - पृ - 79

सारे देश के सपने

आशायें

आकांक्षायें दबे हैं

दफ्तरों में - फइलों के स्तूप में।" [1]

विभिन्न आवश्यकताओं को लेकर सरकारी कर्मचारियों के पास दफ्तरों में लगातार जनता का आनाजाना होता रहता है। कई दिनों तक इन पर चर्चाएँ होती रहती हैं मगर कुछ कार्यवाही नहीं होता। जनता की सभी आवश्यकताएँ कागज़ी योजनाओं में पड़ी रहती हैं। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था की सबसे बड़ी त्रासदी है यह लालफीताशाही।

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में हर पाँच साल के चुनाव को उत्सव की तरह मनाते हैं। यह वक्त है जब सारे के सारे निकम्मे एवं निष्ठूर नेता भी जनता के आगे वोट का भीख माँगते खडे हो जाते हैं। ये जो लोग चुनाव जीत कर संसद जाते हैं फिर उनसे मुलाकात होना एकदम सपना बन जाता है। कवि प्रकाश दीक्षित 'हम अगर टूट भी गए तो जुडे हुए लोगों' नामक अपनी कविता में जन सेवा की प्रतिज्ञा लेकर संसद जानेवाले राजनीतिज्ञों से पूछ रहे हैं -

"शांतिवार्ताओं की मेज़ों पर

सद्भावना यात्राओं में

और शोकसंदेशों में

तुम अपनी किसी के भी प्रति

प्रतिबद्धता का दावा

किन लोगों के नाम से करोगे?" [2]

---

1. शिवकुमार श्रीवास्तव - तुम ऋचा हो - पृ - 107 - 108
2. प्रकाश दीक्षित - अक्षितिज सूरजमुखी का देश - पृ - 59

भ्रष्ट राजनीतिज्ञों से भरे प्रशासनिक व्यवस्था में प्रतिबद्धता की भावना एवं मूल्यों की प्रतीक्षा करना व्यर्थ का काम होता है। कवि प्रस्तुत पंक्तियों के ज़रिए राजनीतिक जीवन मूल्यों की पुनः स्थापना चाहते हैं। भ्रष्ट राजनीति एवं राजनीतिज्ञों के बारे में और वर्तमान समय के लोकतंत्र की दुरवस्था के बारे में 'बटोर' नामक कविता में परमानंद श्रीवास्तवजी का कहना है -

"मानवीय लोकतंत्र में वे अब पूरी तरह
अँट नहीं पा रहे थे
जिसकी कठिन चौहद्धियाँ थी
जो पाप की भित्ति पर
टिका था
पाप की भित्ति पर टिके लोकतंत्र का
उद्धार करने
साधू आये।" [1]

यहाँ कवि लोकतंत्र के सभी आधारों में निहित भ्रष्टाचार के उद्धार की कामना करते हैं। उनके अनुसार लोकतंत्र के नाम पर जनता को धोखा देनेवाले लोगों से देश की मुक्ति अनिवार्य है।

राजनीति एवं राजनीतिज्ञ जनता की सुरक्षा का नाम लेते हुए अधिकार प्राप्ति में विजय हासिल करता है। कह रहे हैं कि हम विकास की गति में आगे बढ़ रहे हैं, सरकार जनता के साथ है। जब जनता भूख से तड़पकर मरनेवाले हैं यह बात उनकी यादद्दाश में नहीं रहती, जब वे दम तोड़ देता है तब सरकार जनता के दुःख बाँटने चला आता है, मुआवजे की घोषणा करता है। यही पैसा मरने से पहले उन्हें मिल

1. परमानंद श्रीवास्तव - चौथा शब्द - पृ - 51

जाता तो शायद वे बच जाते, लेकिन नहीं, क्योंकि तब एक नहीं हज़ार कानूनी प्रतिबंध लग जाता है। नौकरशाही एवं लालफीताशाही के भ्रष्ट राजनीति में हर कहीं आम जनता केलिए प्रतिबंध ही प्रतिबंध उपस्थित है। जिनके पास पैसा है उनके लिए सरकार के अहितकारी कामों में भी सरकार और प्रशासन का सहयोग मिलता है। जब मीडिया द्वारा बात बाहर आ जाती है तब चर्चाएँ शुरू होती हैं और कोई नए कांड शुरू होने तक चर्चा ज़ारी रहती है। इस राजनीतिक मूल्य हीनता पर 'आत्महत्या के विरुद्ध' नामक कविता में रघुवीर सहायजी बता रहे हैं -

"यह नहीं हो सकता, यह नहीं होगा
शून्य में घोषणा करता है विचारक
पढ़े लिखे लोगों के बीच सिद्ध होता है
कि संवाद मर गया
कर्महीन लोकतंत्र की मदद करता है विध्वंसक लोकतंत्र
दोनों मिलकर विचारधारा चलाते हैं
कि कोई विचार नहीं हत्या ही सत्य है
हम भी भयभीत असहाय भी भयभीत है
यों कह कर भीड़ में समर्थ छिप जाते हैं।" [1]

यही परम यथार्थ है। अब जो कुछ भी हो रहा है इसके पीछे न कोई वजह है, न कोई सबूत है, न कोई गवाह है न किसी की ज़िम्मेदारी है।

अब सब कुछ पश्चिम के हाथ में हैं, भारतीय लोकतंत्र भी। देशप्रेम और राष्ट्रप्रेम की भावना की परिभाषा बदल चुकी है। प्रशासनिक क्षेत्र में जो षड्यंत्र चल रहा है इसका शिकार होता है आम जनता। 'बडे देशों की राजनीति' नामक कविता

1. एक समय था - रघुवीर सहाय - पृ - 16

में कवि रघुवीर सहायजी कहते हैं -

"देश पर मैं गर्व करने को कहता हूँ
उनसे जो अमीर हैं बडे स्कूलों में पढ़ें हैं
पर उन्हें गर्व नहीं हैं
गर्व है भूखे प्यासे अधपढ़े लोगों में
राष्ट्रीय गौरव रह गया है अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में
मोहरा बन कर
पडोसी को हराने में, यह गर्व मिटता है
यदि पड़ोसी और हमारी जनता की दोस्ती बढ़ती है
बड़े देशों की राजनीति करने केलिए अपनी जनता को
तनाव में रखना पड़ता है।" [1]

राजनीति में राष्ट्र प्रेम की भावना नष्ट हो गई है। आज के राजनेता देश का उद्धार चाहते हैं इसके लिए उन्होंने पश्चिम को मॉडल बनाया है। वास्तव में इन सबका लाभ पश्चिम को ही मिल रहा है। देश को स्वावलंबी बनाने के बजाय उसे परावलंबी बनाने वाली राजनीति चल रही है। लोकतंत्र को उसी के तत्त्वों के आधार पर चलाने का लाभ राजनीतिज्ञों को नहीं मगर जनता को मिलता है, इसलिए लोकतंत्र को लोकतंत्र में रहनेवाले शासक वर्ग बिगाड़कर उसे राजतंत्र का परिवेश दे रहा है। व्यवस्थाओं को बिगाड़ने वाले ही खुद कहते फिर रहे हैं कि यह व्यवस्था बिगड़ रही है। 'लोकतंत्र का संकट' नामक कविता में कवि रघुवीर सहायजी का कहना है -

"सब व्यवस्थाएँ अपने को और अधिक संकट केलिए

1. रघुवीर सहाय - एक समय था - पृ - 17

तैयार करती रहती हैं
और लोगों को बताती रहती हैं
कि यह व्यवस्था बिगड़ रही है
तब जो लोग सचमुच जानते हैं कि यह व्यवस्था बिगड़ रही है
वे उन लोगों के शोर में छिप जाते हैं
जो इस व्यवस्था को और अधिक बिगाड़ते रहना चाहते हैं
क्योंकि
उसी में उनका हिता है।" [1]

यही आज की राजनीति है। इसमें सर्वत्र वैयक्तिक स्वार्थ एवं अमानवीयताएँ फैल गई है। कहीं भी किसी भी संस्था पर विश्वास की गुंजाइश ही नहीं रह गई है। राजनीतिज्ञ, कार्ट, कचहरी, पुलिस आदि सब इस भ्रष्ट राजनीति का पोषक बन गया है। राजनीतिक जीवन मूल्यों की पुनः स्थापना केलिए जनता में जागृति पैदा करने की ज़रूरत है। वैसे ही रघुवीर सहाय जी की 'देश में रहता, युग ऐसा है','मौका' आदि कविताओं में भ्रष्ट हुई भारतीय राजनीति एवं उसका नतीजा भुगतने वाले जनता की विसंगतियों की चर्चा हुई है। इन कविताओं के ज़रिए कवि चाहता है कि अब शासन तंत्र में जो हो रहा है उसका शुद्धीकरण ज़रूरी बन गई हैं।

चुनाव लड़कर संसद जानेवाले सभी जन प्रतिनिधि का कर्तव्य बनता है कि वह एक अच्छे समाज सेवी बने। संसदीय सभा चलाने का उद्धेश्य भी यही है कि यहाँ पक्ष एवं विपक्ष के सदस्य मिलकर जनता केलिए कुछ सकारात्मक परिवर्तन ला सके। लेकिन संसदीय सभा जब भी मिलते हैं वहाँ के हर एक सदस्य एक दूसरे की कमियों को गिन - गिन कर अंत में सभा को स्थगित करना पड़ता है। 'सभा' नामक कविता में वीरेन डंगवालजी कह रहे हैं-

1. रघुवीर सहाय - एक समय था - पृ - 20

"भीतर वालों ने भितरघात किया
बाहर वालों ने बर्हिगमन
अध्यक्ष रूठे कुछ देर को
सम्विधान के अनुच्छेदों के निर्देशानुसार
सदन स्थगित हुआ
भत्ता मगर मिला सबको
यों चलती ही रही हमारी सभा
चलती ही रही मार - काट।" [1]

अधिकार में चाहे कोई भी दल आये और विपक्ष में कोई भी आये, संसद में लगातार हल्ला मचाने की प्रथा चलती ही रहती है। संसद में कुछ उपयोगी चर्चाएँ हुए या न हुए संसदीय सदस्यों को उनका हिस्सा तो मिल ही जाता है। और वे भूल जाते हैं कि उन्हें जो भत्ता मिल रहा है वह जनता दे रहा है। जनता का पैसा लेकर जनता को ही कष्ट देना यह राजनीतिक जीवन मूल्यों के विरुद्ध है। वीरेनजी की ही और एक कविता है 'प्रधानमंत्री' इसमें एक आम आदमी को प्रधानमंत्री बनने का मोह पैदा होता है क्योंकि प्रधानमंत्री को काफी छूट मिलता है। कवि का कहना है -

"मैंने सोचा
कितना मज़ा आता अगर मैं आपकी जगह हो सकता
मैं भी आपकी तरफ धुली हुई कार में भर्राता हुआ चलता
मैं भी अपने भाषणों से देश - विदेश में हलचल मचा देता
मेरी जो मर्जी आती करता, कोई मुझे रोकता तो मैं उसे डाँट देता
.....
तब मुझे परेशानी नहीं होती कि चीनी का भाव 4 रुपये से 30 रुपये हो गया है
.....

1. वीरेन डंगवाल - इसी दुनिया में - पृ - 38

तब मुल्क से ले कर फाइलों तक की सारी गोपनीयता की शुरूआत मुझी से होती
हाय - हाय कितना मज़ा होता
प्रधानमंत्री
मैं आप से जलता हूँ।" [1]

यहाँ कवि शासक वर्गों पर व्यंग्य करते हैं। जनता की ओर से चुनाव जीतकर जनता केलिए के नारे लगाकर जनता का ही शोषण करनेवाले अराजनीतिक नेताओं का मज़ाक उठाते हैं 'मक्खियों की आत्माएँ' नामक कविता में कवि उदय प्रकाशजी। उन्होंने यहाँ भ्रष्टराजनीति पर चर्चा की है। धनकेंद्रित समाज में सब का सब बिकाऊ है यहाँ तक राजनीति भी। यह एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था है जिसमें निरपराध लोगों की हत्या होती है और राजनीतिज्ञ उनके नाम पर वोट जमाता है।

"जो गुलाम नहीं हैं उन पर संदेह और उनकी हत्या केलिए
मिलती है उन्हें बहुत ही
बहुत मामूली करुणा जैसी पगार
यही है इस लोकतंत्र की सबसे बड़ा रोज़गार
एक बिक चुके देश में
वोटों को खरीदने के निमित्त
कितने माध्यमों में कितनी तकनीकों में कैसे - कैसे हूनर में
कितने - कितने कीमती दिलकश विज्ञापन हैं ज़रा देखो तो।" [2]

समकालीन संदर्भ में सब कुछ बिकाऊ है। वोट ज़माने के कई अनैतिक तरीके आजकल राजनीतिज्ञों के पास है। उनका लक्ष्य केवल शासन एवं कुर्सी है उसके लिए जो कुछ भी करना पड़े वे करने को तैयार हैं। राजनीतिक जीवन मूल्यों

1. वीरेन डंगवाल - इसी दुनिया में - पृ - 38
2. उदय प्रकाश - एक भाषा हुआ करती है - पृ - 22

में आये सबसे बडी मूल्यहीनता अनैतिक चरित्र वाले संवेदन शून्य नेता एवं दल है।

वर्तमान भ्रष्ट शासकों एवं राजनीतिज्ञों से तंग आकर कवि ज्ञानेन्द्रपति इससे मुक्ति को अविलंब एवं एक अनिवार्यता मानते हैं। इस लोभ एवं मोह से पूरा देश बिगड़ने से पहले इससे मुक्ति की राहें ढूँढ़ना अनिवार्य बन गया है। इसके लिए बहुजनों अर्थात् जनता को जागृत होना है। पूरे शासन तंत्र को साफ करने का दायित्व अब जनता पर आ गया है। 'अधरात घास - गंध' नामक कविता में कवि कह रहे हैं -

"इस लोकतंत्र नहीं लोभतंत्र को फ़ोडने का वक्त है
सृजन और शांति केलिए
कसना ही होगा मानव - समुदायों को
एक संकल्पित मुट्ठी में
युद्ध और विनाश की तिजारत के विरुद्ध
मौत के आढ़तियों की दूकानों के शटर
गिराने ही होंगे
देश - देश में
जनमत के बल से।" [1]

जब स्थापित व्यवस्था में अड़चनें आती है तब उसे बदलने केलिए बहुमतों की सहमती की अनिवार्यता होगी, क्योंकि इसमें कुछ लोगों की नहीं बल्कि सभी की भलाई है। राजनीतिक जीवन मूल्यों की पुनः स्थापना का दायित्व अब विशाल जन समुदायों के हाथ में है।

आजकल हमारे यहाँ राजनीति को हाथों की पुतली बनानेवाले प्रशासकों की

1. ज्ञानेन्द्रपति - कवि ने कहा - पृ - 92

कोई कमी नहीं है। सरकार कई योजनाएँ बनाते हैं। जनता को स्वस्थ एवं सुरक्षित रखने के वास्ते। इनके कर्मों को देखकर यह समझना मुश्किल बन जाता है कि वास्तव में ये जनता की सुरक्षा चाहता या फिर सर्वनाश। 'अष्टावक्र का वंशज' नामक कविता में ज्ञानेन्द्रपतिजी कह रहे हैं -

"एक झोंपड़ी उजाड़कर
एक कूड़ादान गाडते हैं
नगरपालिका के कर्तव्यनिष्ठ कर्मचारी
मानव - मकड़जालों को साफ़ करते हैं
नगर को निरोग और सुंदर करने की फिक्र में हैं प्रशासक
प्रदूषण - मुक्त।" [1]

यही सरकारी योजनाओं का असलियत है वे सब कुछ करते हैं जनता के नाम लेकिन जनता को इसका फायदा नहीं मिल रहा है। सड़क बनाते हैं एक या दो हफ्ते बाद सड़क गडढे बन जाता है। पुल में दरारें पड़ जाती है। कूड़े साफ करने की परियोजना पर बिल तो पास हुआ होता है उसका हिसाब भी कागज़ में ठीक से रेखांकित हुआ है लेकिन कूडे कचरे सब कहीं बिखरे पड़े नज़र आते हैं। वास्तव में भारतीय जनता इस लोकतंत्र में रक्षक का भक्षक बनने की स्थिति से गुज़र रहा है।

राजनीतिक मूल्यध्वंस पर विद्रोह प्रकट करती है कवयित्री अनामिकाजी। उनकी 'खाली बटुआ' नामक कविता में इसका बुलंद स्वर मुखरित है। आज के गणतंत्र उन लोगों को नोचने में लगे रहते हैं, जिनके पास कुछ भी नहीं है। चुनाव जीतकर जो भी नेता गद्धी पर बैठता है वह इस पर ज़ोर दिया करता है कि हमारा सरकार आम आदमी के साथ है हम उन केलिए सभी सुविधाएँ दे देंगे। लेकिन हर

1. ज्ञानेन्द्रपति - गंगातट - पृ - 126

विकास योजना के तहद इन आम आदमियों को सबकुछ नष्ट हो जाता है। कवयित्री कहती है -

" मेरी एक जेब में आसमान है,
दूसरी में खाली बटुआ।
नीले रूमाल - सा तहाकर
आसमान जेब में आँटा लेना
मेरे इस गणतंत्र में सबको आता है!
मेरे इस गणतंत्र में सबको आता है
खाली बटुओं में उँगलियाँ नचाना।
खालीपन की नाच से
पुश्तैनी है दोस्ती
मेरे इस गणतंत्र में।" [1]

यही आज की सच्चाई है। लेकिन इस सच्चाई से सुपरिचित एवं उत्तरदायी लोग ही इसे अनदेखा कर रहे हैं। आजकल राजनीति में उतरनेवाले हर एक नेता उसको सेवामार्ग से परे एक धंधा समझ बैठा है। इसमें सब कुछ जायज है धोखा, छल, प्रवंचना सबकुछ। राजनीतिज्ञों के बारे में 'क्रांतिकारी नेता' नामक कविता में राजेन्द्र कुमार वर्मा कहते हैं -

"नये पुराने संबंधों को
मंत्र शोधित
रेशमी बहुरंगी धागों से
जोड़ता गाँठता खोलता
अवसर पर तोड़ता

1. अनामिका - अनुष्टुप - पृ - 100

अभिनय में पारंगत

क्रांतिकारी नेता हूँ।" [1]

यही सच है नेता की क्रांतिकारिता सिर्फ बातों में है और कर्मों से वह एकदम अनैतिक है। अधिकार एक ऐसी नशीली चीज़ है जिसमें पड़नेवाले चाहे स्त्री हो, पुरुष हो, दलित हो जो भी हो इसकी नशे के, इसकी रुचि के आदि हो जाते हैं। इसलिए सबसे ज़रूरी है व्यक्ति में नैतिकता एवं मानववादिता का बोध होना। ऐसे व्यक्तियों से समाज एवं राष्ट्र का कल्याण होगा मूल्यों की पुनःस्थापना होगी।

आज की राजनीति पैसों की राजनीति है। हर पाँच साल में चुनाव इसलिए रखा गया है कि चुनाव केलिए अधिक पैसों का खर्च न हो जाए। लेकिन चुनाव आते ही पूँजीपति लोग राजनेताओं के पीछे पैसे लेकर भागता है, ताकि अवैधानिक रूप से अपने कारोबार चलाने में उन्हें कोई दिक्कत न हो जाए। पैसा देखते ही नेता गण सब कुछ भूल जाते हैं समाजवाद, लोकतंत्र, जनसेवा सबकुछ पैसों के आगे न्योच्छावर कर देते हैं। इसपर राजेन्द्र कुमारजी कह रहे हैं अपनी 'चुनाव आया' नामक कविता में -

"चुनाव आया

नेता हर्षाया

पूँजीपतियों का सबको

बुलावा आया।" [2]

यही आज की सच्चाई है। आज जनतंत्र मक्कारी राजनेताओं एवं पूँजीपतियों के बीच का सौदा बन गया है। इनके असली रूप को दर्शाती है कवि की 'जनयुग का देवता' नामक कविता। कवि का कहना है -

---

1. राजेन्द्र कुमार वर्मा - सूर्य बन कर उगना है - पृ - 20
2. राजेन्द्र कुमार वर्मा - सूर्य बनकर उगना है - पृ - 21

"जनयुग का देवता
नेता।
दुग्धपायी विषधर
वरदायक महादंशक।
पूजा चाहते हो
पूजो।
संभाल कर पूजना
डस लेगा।"[1]

वैसे ही कवि की और एक कविता है 'सफेदपोश' बादल इसमें भी उन्होंने सफेद कपड़ों में काले एवं मैले दिल लेकर घूमनेवाले राजनेताओं का ज़िक्र किया है। चुनाव आते ही ये लोग बहुत सारे वायदे लेकर खडे हो जाते हैं चुनाव जीतने के बाद इनके नामोनिशान तक नहीं लगता। फिर ये सिर्फ पत्रों में एवं T V में ही दिखेगा। कहीं कोई घोटाला या भ्रष्टाचार में फँसकर या फिर उत्पीडन (Molestation) के मुक़दमे में फँसकर। 'सोने की लंका' नामक कविता में राजेन्द्र कुमार वर्माजी ने राजनीतिज्ञ के रूप में हमारे बीच उपस्थित अगणित अदृश्य रावणों का चित्रण किया है। जो चुनाव की घोषण से लेकर बहुत सारे कुतंत्रों से चुनाव जीतकर जनता एवं देश पर अपनी काली करतूतों का इस्तेमाल कर रहा है।

"हमारे बीच अगणित अदृश्य रावण हैं
देहधारी सभ्य सुसंस्कृत
दस से ज़्यादा मुख वाले
और बीस से अधिक भुजाओं वाले
शक्ति के नियामक

1. राजेन्द्र कुमार वर्मा - सूर्य बनकर उगना है - पृ - 22

रावणों को पहचानो।" [1]

आजकल सबसे ज़्यादा अनीति एवं भ्रष्टाचार प्रशासन के क्षेत्र में हो रहा है। आर्थिक लाभ केलिए देश की सभी कायदे कानून को ये लोग अपने हाथों की खिलौना समझ रखा है। यहाँ के हर तबक्के के लोगों में हम अनैतिक चरित्र वालों को ढूँढ सकते हैं। नेता, धर्मवेत्ता, अभिनेता, मठाधीश, धना-धीश, कलाधीश, न्यायाधीश सभी में रावण हैं क्योंकि अब की राजनीति में रावणों को प्रोत्साहन मिल रहा है। अगर अधिकार साथ है तो, सत्ता की सहायता मिल रही है तो हर क्षेत्र एवं हर जीवन स्तर के लोगों के बीच रावणों का जन्म संभव है।

'वो पाँचों और हम सब' नामक कविता में चन्द्रकांत देवतालेजी ने भ्रष्टराजनेताओं द्वारा आम जनता के शोषण का चित्र खींचा है। इसमें कवि आम जनता के लिए सुख के अण्डे खोजकर निकलनेवाले पाँच लोगों को बारे में कहा गया है। ये जो पाँच लोग है वे पाँच दलों के प्रतिनिधियों का प्रतीक है। कविता के आरंभ से लेकर अंत तक कवि ने इन पाँचों द्वारा जनता को ललचाने की कोशिश का चित्रण किया है। जब चुनाव जीतनेवाले लोगों से आम जनता उनकी ज़रूरतें बता रहे हैं जैसे सड़क, बच्चों की शिक्षा, पीने केलिए पानी आदि तो ये लोग सबसे पहले मल्टीनेश्नलों की ज़रूरतों के पीछे भागते रहेंगे और आम जनता को अपने भाषणों के प्रभाव में कैद करके रखते हैं।

"वे पाँचों हँसते रहे
और उन्होंने हमें
सब कुछ दे दिया

1. राजेन्द्र कुमार वर्मा - सूर्य बन कर उगना है - पृ - 32

यानी

कमीज

स्लेट

टुम्मट धोती

रोशनी - सड़क - हवा

पानी - भाषा और

गाती हुई दुनिया के किस्से तक दे दिये

तुरत - फुरत शब्दों में।" [1]

यही सबसे बड़ा धोखा है कि जिसके पास कुछ भी नहीं है वे कुछ मिलने की प्रतीक्षा में इन झूठे मक्कार राजनीतिज्ञों के बहकावे में बहुत जल्दी फँस जाते हैं। यह कविता एक कहानी की शैली में है ये सब वादें देकर संसद जानेवाले हर एक सदस्य सोने के अण्डे की खोज में निकले उन पाँचों के समान है। फिर उनका लौटना और जनता के पास प्रत्यक्ष होने केलिए चुनाव या कोई विशेष मौकों की ज़रूरत पड़ती है। ये पाँचों आपस में लड़ने लगते हैं कि कहते रहते हैं तुम्हारे सपनों के अण्डे की मुर्गी यह खा गया या वह खा गया। जनता ये सब सुनता रहता है और फिर से इन धोखबाज़ों की बातों में आकर अण्डे की मुर्गीयों की तलाश में और किसी को भेज देते है। जब भी कोई इनके खिलाफ कुछ बोलने लगे या पूछने लगेंगे तब ये सब मिलकर सभी घरों को कब्र में बदल देता है और फिर इनको हेलिकोप्टर की खिड़कियों से झाँकते हुए दिखाई देता है कोई झण्डा दिखाते हुए जैसे कि मंत्री एवं राजनेता किसी आफत पर जनता की हाल को देखने जाता है। समकालीन संदर्भ में भी राजनीति इन कूटनीतिज्ञों से मुक्त नहीं।

---

1. चन्द्रकांत देवताले - उसके सपने - पृ - 99 - 100

'पंत पेशवा शहर में आ रहा है' नामक कविता में चन्द्रकांत देवतालेजी ने अनुत्तरदायी एवं पथभ्रष्ट राजनीतिज्ञों के प्रति विद्रोह का स्वर मुखरित किया है। शासकों के विश्वास पर रहनेवाले बहुसंख्यक आदमियों की ज़िंदगी को पैरों तले कुचलनेवाले राजनीतिज्ञों के बारे में कवि का कहना है -

"जिसे सड़क से उठा सिंहासन पर बिठाया तुमने
और बदले में जिसने
दुःस्वप्नों के जंगली कुत्तों को छोडा तुम्हारी नींद में
वही दयालु प्रभु
आ रहा फाँसीघर का शिलान्यास करने
जय दुन्दुभी बजाने में कोई कसर नहीं रहे
सताए हुए लोगों
तुम्हारी सहिष्णुता सदियों चर्चित रहेगी इतिहास में।" [1]

सच्चाई एवं वास्तविकता से मूँह मोड़ना सबसे बड़ी चरित्रहीनता एवं मूल्यच्युति है। हमारी जनता भी एक हद तक राजनीतिक मूल्य च्युतियों को प्रोत्साहन दे रहा है। विभिन्न राजनीतिक दलों के अंदर होनेवाली सच्चाई को जानकर भी वे सभी अनैतिकताओं को या तो प्रोत्साहित करते रहते हैं या फिर चुप रहा करते हैं। पहले तो अनैतिक चरित्रवाले सदस्य को पार्टी से अलग करते थे अब अनैतिकता की सूचना देनेवाले को पार्टी से अलग करता हुआ दिखाई पड़ रहा है। कवि राजेश जोशी भी अपनी कविता 'घृणा के बारे में कुछ शब्द' में जनता की इसी छुप्पी पर आवाज़ उठाया है। वे भी चाहते हैं कि जनता के द्वारा राजनीति में कुछ परिवर्तन आयें। इससे जीवन मूल्यों की पुनः स्थापना हो जाए।

"इससे भी ज़्यादा दुर्भाग्यपूर्ण है यह कि कई बार

1. चन्द्रकांत देवताले - उसके सपने - पृ - 212

जो सहते हैं सबसे ज़्यादा अत्याचार और
बसते हैं जीवन की तलछट में
वो ही सबसे ऊँची आवाज़ में करने लगते हैं
अत्याचारी का गुणगान
घृणा यूँ कोई बहुत अच्छी चीज़ नहीं है
लेकिन इतनी बुरी भी नहीं कि जहाँ ज़रूरी हो
वहाँ भी न की जा सके
क्या ज़्यादा बुरा नहीं है उदासीन हो जाना।" [1]

हम सबको पता है घृणा को मूल्य के रूप में नहीं स्वीकारा जा सकता लेकिन मनुष्य की हर भावनाओं एवं संवेदनाओं के भी दो पक्ष होते हैं सकारात्मक एवं नकारात्मक। घृणा की माँग किसी परिस्थिति में अनिवार्य है तो उसका इनकार भी मूल्यहीनता है। वैसे तो आज की अराजक एवं भ्रष्ट राजनीति जनता की घृणा का हकदार है।

राजनीतिज्ञों का कर्तव्य है अपने राज्य की व्यवस्था को ठीक से संचालित करना और जनता की सुरक्षा केलिए पुलिस सेना को सज्जित करना। सबसे पहले जनता की सुरक्षा एवं ज़रूरत उनके दिल और दिमाग में आये। लेकिन आज की भारतीय जनता ऐसी राजनीतिज्ञों की सेवा से वंचित रह गए हैं। 'डेबलडेकर' नामक कविता में विनोद भारद्वाजजी कहते हैं -

"एक बार
शहर के मेयर ने
डबलडेकर से यात्रा की

1. राजेश जोशी - नेपथ्य में हँसी - पृ - 34

कुछ आवारा पेड़ों की
बेरहम टहनियाँ
करीब - करीब
उनकी आँख में
घुस गयीं
.....
इस डबलडेकर का
रूट विशिष्ट है
तीन फ्लाईआवर
और दरियागंज की तरह के
दस तंग बाज़ार
इसके रास्ते में आते हैं
इस बात पर भी
एक हाएपवर कमेटी
विचार कर रही है
कि इन तंग बाज़ारों से
डबलडेकर को
कैसे मुक्ति दिलाये जाये।"[1]

जनता की सुरक्षा जिनके हाथों सौंप गया है वह तो विकास करते - करते जनता एवं राज्य के प्राकृतिक वैभव को ठेस पहूँचा रहा है। 'अधिनायक वंदना' नामक अपनी कविता में गोरख पाण्डेयजी समकालीन भ्रष्ट राजनीति का मज़ाक उठा रहा है। रक्षक का भक्षक बनने की स्थिति से मुक्ति न मिलनेवाली जनता अब अधिनायकों की वंदना यों कर रही हैं -

1. होशियारपुर - विनोद भारद्वाज - पृ - 75-76

"जय हे ज़मींदार पूँजीपति
जय दलाल, शोषण में सन्मति
जय हे लोकतंत्र की दुर्गति
भ्रष्टाचार विधायक जय हे! (जन ....गण...मन)
जय पाखंड और बर्बरता
जय तानाशाही सुंदरता
जय हे दमन भूख निर्भरता
सकल अमंगलदायक जय हे !" [1](जन ....गण...मन)

अब की राजनीति में अमंगलदायक ही बचा है तो उसकी वंदना ही कर सकता है। मंगलमय कुछ नहीं बचा है। सभी सरकारी कार्यालयों शासन के हर एक विभाग जनता को धोखा दे रहा है। सब का सब दलाल, शोषक एवं पूँजीपति है। राजनीतिक जीवन मूल्यों को एदकम तहस - नहस करने को तुले हैं।

यहाँ के छोटे - छोटे नेता से लेकर मंत्रियों तक के लोग इतने भ्रष्ट हैं कि जन सेवा के नाम पर वे अपनी तिजोरियाँ भराने के काम में व्यस्त है। खान में नेपाली मज़दूर के मृत्यु हो जाती है तब इस पर नेता एवं श्रम मंत्री की प्रतिक्रिया को जाहिर कर रहा है 'गदाखोर' नामक कविता में इब्बार रब्बीजी -

"नेता ने कहा
"मालिक चंदा देते हैं हमें
कैसे दिलाये मुआवजा"
मालिक का कहना है -
"अगर मुआवजा दूँगा तो घाटा होगा
मुझे क्या मिलेगा फिर

1. गोरख पाण्डेय - जागते रहो सोनेवालो - पृ - 78

मरते हैं तो मरें

.....

मंत्री जी!

यह जवान लड़का

खान तोड़ते मरा

इसका परिवार क्या करे?

कितनी कम उम्र

अभी पूरा आदमी भी नहीं हुआ

यह हत्या है महोदय

मुआवजा दिलायें परिवार को"

.....

मंत्री ने मूँह फेर लिया-

इसका क्या प्रमाण है कि

यह उसी की लाश है

क्या प्रमाण है कि यह

खान में मरा

लाश आप कहीं से भी

उठा लाये हो।" [1]

यही सच्चाई है। आज की राजनीति में श्रमिकों, किसानों एवं कामकाजी लोगों केलिए कोई स्थान नहीं रह गया है। वे मरे या न मरे पूरी जाँज के बाद यही रिर्पाट आता है कि वह कठिन मेहनत की वजह से या कारखाने में हुई आपत्ति की वजह से नहीं बल्कि शारीरिक कमज़ोरियों की वजह से मरा है, और उनके नाम की मुआवजे का रकम छोटे श्रम नेता से लेकर मंत्री तक के लोग खा रहे हैं। जनता की सुरक्षा की कमी शासन तंत्र की पराजय है और राजनीतिक जीवन मूल्यों का ह्रास है।

1. इब्बार रब्बी - लोगबाग - पृ - 49 - 51

'परामर्शदाता' नामक अपनी कविता में इब्बार रब्बीजी ने भ्रष्ट राजनितिज्ञों का पोल खोल दिया है। हमारी जनतंत्रात्मक शासन व्यवस्था का अभिशाप है इसमें भाई भतीजावाद को पलने का मौका बहुत आसानी से उपलब्ध है। कवि का कहना है -

"वे आ गए परामर्शदाता
उच्चस्थ सलाहकार
चुने हुए
चुने हुओं में सर्वश्रेष्ठ
इन्होंने जिनकी सिफारिश की
वे हो गए
सहायक
विशेष
उपस्थ
.....
कुछ नहीं करते
कराते रहते हैं
न ऊपर होते हैं न नीचे
पुरी दुनिया हिलाकर
आग लगवाते
ठण्डा करवाते हैं ये
खुद समशीतोष्ण हैं
निर्गुट
तटस्थ
निर्दून्दू

निराकार
सिर्फ सलाहकार हैं
कान में फुसफुसाते
होंठ हैं बस।"[1]

हमारी आज की भ्रष्ट राजनीति को लेकर नगण्य ऐतिहासिक नामक कविता में कवि कैलाश वाजपेयीजी का कहना है -

"गृहयुद्धों से तानाशाही तक
राजनीति का शरीर गंदा है।"[2]

समकालीन भ्रष्ट राजनीति का पूरा का पूरा ब्यौरा इन दो पंक्तियों में देखा जा सकता है। यहाँ कवि का मकसद भी यह स्थापित करना है कि जीवन व्यवस्था इतनी भ्रष्ट हो चुकी है कि जीवन के हर क्षेत्र पर इसका प्रभाव वहुत ही तीखेपन के साथ प्रस्फुटित है। राजनीति के सबसे छोटे हिस्से से लेकर ऊपर के महानतम स्तर तक के लोग अनैतिकता को प्रोत्साहन दे रहा है। इसका प्रभाव मनुष्य जीवन में, समाज में, धर्म, संस्कृति, नीति न्याय व्यवस्था सब के ऊपर पड़ रहा है। व्यक्ति - व्यक्ति तानाशाह बनता जा रहा है। वैयक्तिक स्वार्थ को पाने केलिए पूरी राजनीतिक व्यवस्था को बिगाड़ना इनका लक्ष्य बन गया है। आज का राजनीतिज्ञ देश द्रोही है साथ ही मानवीयता विरोधी भी। इनकी ही और एक कविता है 'व्याहत सुबह के अँधेरे में' यहाँ भी कवि तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था के उजड़े हुए स्वरूप को लेकर परेशान है। उनका कहना है -

"कितना अजब वक्त है

---

1. इब्बार रब्बी - लोगभाग - पृ - 97 - 98
2. कैलाश वाजपेयी - देहांत से हटकर - पृ - 79

एक भी आदमी
आदर के योग्य नहीं
सब कुछ पुराना है, बासी है, रद्दी है
नया कुछ भोग्य नहीं
पता नहीं मैं
तानाशाह क्यों नहीं हुआ
फूल उगाने के बजाय।" [1]

इस समय की राजनीति में नया कुछ स्वीकार्य नहीं। यहाँ अच्छाई, तरलता, मानवीयता सब कुछ आदमी केलिए खोट है। जो सबसे बड़ा क्रूर एवं तानाशाह है तत्कालीन राजनीति उसी का साथ देता है। कैलाश वाजपेयीजी की 'वी.आई.पी' नामक कविता में भी उन्होंने राजनीति के उच्च पद पर बैठकर जनसेवा के नाम पर जनद्रोह करने वाले राजनीतिज्ञों का चित्रण किया है। कवि ने इसमें जनता की दुरवस्था की ओर संकेत किया है।

"तुम उन्हें सहते हो!
दुनिया भर में जितना शोर है
उससे कहीं अधिक
वे कुछ घण्टों में कर सकते हैं
एक खास वक्त पर वे तुम्हारे लिए
मौखिक रूप से
दनादन मर सकते हैं
पर जब तुम मिलना चाहोगे
उन्हें ज़रूर कोई
और काम होगा।"[2]

1. कैलाश वाजपेयी - देहांत से हटकर - पृ - 116-117
2. कैलाश वाजपेयी - देहांत से हटकर - पृ - 81

चुनाव जीतकर संसद जानेवाले हर एक सदस्य का जनता के साथ ऐसा व्यवहार पुराने समय से हमारे प्रजातंत्र में कायम है। यह एक पुश्तैनी विशेषता है इसमें अब तक न ही कोई बदलाव आया है और न ही किसी ने बदलाव लाने की कोशिश की है।

'जिलाधीरा कार्यालय के परिसर में' नामक कविता में कवि कुमार अंबुजजी ने भ्रष्टराजनीतिज्ञों एवं सरकारी कर्मचारियों के बारे में लिखा है। यहाँ कवि ने इन अधिकारी वर्गों के शिकार होनेवाले आम जनता का चित्र खींचा है। कवि का कहना है -

"घर - गाँव छोडे हुए चार दिन
अहाते के पेड़ के नीचे बैठा है हलवाहा
घरवाली ने रखी थी जितनी भी ज्वार की रोटियाँ
हो चुकी है खतम
नाज़िर कहता है अभी रुको दो दिन और!
बाबू माँगता है कलेक्टर की नाक के नीचे
दो सौ रुपए की रिश्वत
सारे हाकिम रोज़ आते - जाते हैं पेट हिलाते हँसते हुए
भूखे असहाय हलवाहे के सामने से।"[1]

हमारे इस जनतंत्रात्मक शासन व्यवस्था में लालफीताशाही एवं रिश्वतखोरी का लंबा इतिहास है। एक को भी नहीं छोडता, एक फायल को ऊपर के अधिकारियों तक पहूँचाने केलिए देश की जनता को कितनों को रिश्वत देना पड़ता है। अपने ही पेट भरने में नाकामयाब जनता से रिश्वत माँगने वाले इन अधिकारियों को राजनीति की नैतिकता को ज़रा सा भी अंदाज़ा नहीं। लोगों को सरकारी कर्मचारियों से घृणा हो चुकी है।

---

1. कुमार अंबुज - अनंतिम - पृ - 88

पहले ही सूचित किया जा चुका है प्रजातंत्र समाजवाद पर टिका है। लेकिन आजकल के राजनेता प्रजातंत्र के नाम पर कूर्सी - खेल खेल रहे हैं। न ही इसमें नैतिकता है और न ही कोई विचारधारा और न ही जनता के प्रति प्रतिबद्धता। हमारा प्रजातांत्रिक भारत जिस जनता याने प्रजा के हितों की कामना रखती है वह उस कुर्सी या अधिकार से बंधा हुआ है। लेकिन यहाँ क्या चल रहा है कि अगर कुर्सी और अधिकार को कुछ हो जाता है तब सबसे पहले प्रजातंत्र के संरक्षक ही उसका विध्वंसक बन जाता है।

"फाइलें दबी रहती है
न्याय टाला जाता है
भूखों तक रोटी नहीं पहूँच पाती
न ही मरीज़ों तक दवा
जिसने कोई जुर्म नहीं किया
उसे फाँसी दे दी जाती है
इस बीच
कुर्सी ही है
जो घूस और प्रजातंत्र का
हिसाब रखती है।
कुर्सी खतरे में है तो प्रजातंत्र खतरे में है
कुर्सी खतरे में है तो देश खतरे में है
कुर्सी खतरे में है तो दुनिया खतरे में है
कुर्सी न बचो
तो भाड़ में जायें प्रजातंत्र
देश और दुनिया।" [1]

1. गोरख पाण्डेय - जागते रहो सोनेवालो - पृ - 48

यही वास्तविकता है। आजकल हमारे राजनीतिक क्षेत्र मूल्यों की च्युति की दृष्टि से बहुत आगे बढ़ चुके हैं। इसमें सुधार लाना बहुत ही कठिन है और प्रजातंत्र पर परम अधिकार प्रजा को ही है इसलिए नियमित व्यवस्था में सकारात्मक परिवर्तन सिर्फ और सिर्फ वे ही ला सकते हैं। राजनीतिक जीवन मूल्यों की पुनः स्थापना वे ही कर सकते हैं।

भ्रष्टाचार एवं राजनीति का संबंध युगों से चल रहा है। आश्चर्य इस बात पर है कि विकास की चरम स्थिति पर पहूँचकर भी स्वतंत्र प्रजातांत्रिक, गणतंत्र भारत 21 वीं सदी में भी इस दुःस्थिति केलिए उचित विकल्प ढूँढने में नाकामयाब रह गया है। गलती मात्र व्यवस्था की नहीं व्यवस्था को चालू करनेवालों की है। सुधार हर एक नागरिक के दिमाग से शुरू करना है ताकि वे राजनीतिक जीवन - मूल्यों की रक्षा कर सके।

4.5 राजनीतिक गुटबंदी

समकालीन राजनीति की कूटनीति संबंधी मामला इस संदर्भ में काफी पेचीदा लग रहा है। दलों में गुटबंदी अवश्य चलता है। अजकल पार्टियों के सदस्यों में विश्वास रखना भी बेकार लग रहा है। क्योंकि कब कौन किसके साथ जुड़ता है और किसका साथ छोड़ता है यह भी पता लगाना नामुमकिन है। यहाँ कवि पवन करणजी ने अपनी कविता 'लात - मंत्री' में राजनीति के अंदर चलनेवाली अनैतिकताओं के बारे में कहा है। कल तक जो लोग जिस नेता का विरोध करते रहे जिसके लिए अनर्गल बोलते रहे आज जब वह मंत्री बन गया तो उसके स्वागत में वे भी मालाएँ लेकर खडे हैं। कवि कहते हैं -

"जो कल तक उन्हें राजनीति में मानकर मृत

गाहे-बगाहे उनके खिलाफ अनर्गल बोलते रहे
वे भी चले आए हैं, आगे बढ़कर उनका स्वागत करने
और स्वागत में बिछे उनके पलक पावड़े देख - देखकर
मंत्री जी के उन कट्टर समर्थकों के मन में
अजीब - सी हलचल है जो अब तक करते आए उनके साथ संघर्ष।"[1]

राजनीतिक दलों के बीच क्या - क्या चल रहा है इसके बारे में दल के भागीदार सदस्य अनजान है, तो फिर आम जनता को सच्चाई कैसे पता चलेगा। अब कोई विचारधारा या आदर्श बचा नहीं है। सबका सब मिलजुलकर एक विकृत रूप धारण कर लिया है। सभी पार्टियाँ अपने - अपने काम चलाने केलिए गाँधी, माकर्स, समाजवाद, साम्यवाद, सब को मान लेते हैं।

भारतीय राजनीति की सबसे महत्त्वपूर्ण विडंबना है उसमें चल रही गुटबंदी। ये लोग विभिन्न दलों में रहते हुए भी कभी कभी दलों की विचारधारा से हटकर वैयक्तिक स्वार्थ को पाने केलिए विभिन्न गुटों में बँट जाते हैं। इसलिए भारत में एक राजनीतिक पार्टी के नाम पर कई ग्रूप्स है और इनका भी काम सिर्फ जनता को झूठी वायदें देते हुए उन्हें अंधेरे में रखना होता है। वेणुगोपालजी अपनी 'अखबार में' नामक कविता में कहते हैं -

"जैसे
जनता जाग रही है
काहिली भाग रही है।
इंदिरा गाँधी स्त्री भी है और प्रधानमंत्री भी।
और इससे सिद्ध होता है कि भारत
इंडिया होते हुए भी भारत ही है।

1. पवन करण - अस्पताल के बाहर टेलिफोन - पृ - 56

समाजवाद का मतलब गाँधीवाद भी होता है और
नक्सलवाद भी।(पसंद अपनी - अपनी खयाल अपना - अपना)
अमुक जी ने इस दल से त्याग - पत्र देकर
उस दल का सदस्यता - पत्र भर दिया है।
हम - इस खेल में बहुत आगे हैं लेकिन
उस खेल में ज़रा पीछे हैं
अच्छा
तो इतना सब कुछ छपा रहता है अखबार में।" [1]

अब की राजनीति में सबकुछ जायज है। इतनी सारी अमानवीयताएँ एवं अनैतिकताएँ शासन तंत्र के अलावा और कहीं देखने को नहीं मिलता। राजनीतिज्ञ ही तय करते हैं गाँधीवाद कैसा है और समाजवाद कैसा है। गाँधी ने अहिंसा का मार्ग अपनाया था लेकिन गाँधी के अनुयायियों केलिए इससे भी ज़्यादा महत्त्व की बात यह होता है कि कहीं गाँधी ने हिंसा का प्रयोग किया है कि नहीं। अगर है तो हम भी उचित अनुचित बातों में संदर्भ की माँग के बिना हिंसा की नीति को ही अपनाएँगे।

तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था दलों की स्वेच्छाचारिता पर अधिष्ठित है। एक ही दल के अंदर अनेक उपविभागों के उभरकर आने से राजनीति पर से जनता का विश्वास उड़ जाता है। ये सारे दल जनता को ठेस पहूँचाने को लक्ष्य करके आपस में हाथ मिला रहे हैं। इसमें शामिल होनेवाले सभी सदस्य कामचोर एवं निकम्मे हैं। आसानी से नाम एवं पैसा कमाने की सुविधा समकालीन राजनीति में बन रही है। इन लोगों की गुटबंदी में फँस कर आम जनता निराश होकर इन्हें कोस रहे हैं। कवि 'विनोद कुमार शुक्ल' की कविता है 'तथा' इसमें कवि तत्कालीन राजनीतिक दलों की गुटबंदी एवं नारेबाजी को लेकर जनमत को शब्दबद्ध कर रहे हैं -

---

1. वेणुगोपाल - हवाएँ चुप नहीं रहतीं - पृ - 58

"भाइयों और बहनो संघर्ष हमारा नारा है

चिल्लाता एक जुलुस गया
तथा माँ - बहिन की गाली से जन्मे लड़के ने
लाइन से बाहर आकर
जुलूस वालों को माँ - बहिन की गली दी
तथा बहुत लबी लाइन देखकर फिर
और केवल तथा यह राजनैतिक समाज नहीं।" [1]

झूठे वायदे देकर जनता की आँखों में धूल फेंकने में सभी राजनीतिक दल बहुत ही आगे हैं। जनता को रॉशन नहीं मिल रहा है, बच्चे भूख से तड़प रहे हैं, सरकारी आस्पताल में आवश्यक सुविधाएँ तक नहीं, स्कूलों में शिक्षा का स्तर गिरता जा रहा है। रोज़गार कार्यालयों में भी भ्रष्टाचार चल रहा है। सब कुछ इस जनतांत्रिक शासन व्यवस्था में जनता के खिलाफ हो रहा है। फिर भी राजनीतिक गुटों के नारे 'हम तुम्हारे साथ है' बदलता नहीं। कैसी विडंबना है कि जो सच्चाई सबको दिखता है इसे नज़रंदाज़ करते हुए जाने की हिम्मत इन दलों को कैसे प्राप्त होता है!

4.6 नीतिन्याय व्यवस्था एवं मानवाधिकार

लोकतंत्र में न्यायपालिका एवं कार्यपालिका का दायित्व बनता है जनता के जीवन, संपत्ति एवं सुरक्षा को संरक्षण देना। छल कपट की व्यवस्था इसमें वर्जित है। बदल रहे शासन तंत्र में ये बिलकुल कटपुतली बन गए हैं। सच को झूठ, अपराधी को निर्दोष साबित करना अब इनके लिए बायें हाथ का खेल बन गया। राज्य केलिए उचित शासन व्यवस्था को इसलिए कायम किया गया है कि शासन के अधीन में

1. विनोद कुमार शुक्ल -अतिरिक्त नहीं - पृ - 16

जनता सुरक्षित रहे, कानून के सहारे न्याय को पायें, अन्याय पर आवाज़ उठाएँ। इन सभी लक्ष्यों को पाने केलिए अधिकारियों का नैतिक होना बहुत ज़रूरी है। 'जाल' नामक कविता में अरुण कमलजी कहते हैं -

"सरकारी रिपोर्ट थी.....
गोली चलने से सिर्फ एक मौत,
वो भी हॉस्पिटल में
तीन दिन बाद,
पाँच हज़ार मुआवजा
भूल - चूक लेनी - देनी माफ!
कल रात मछुआरों ने डाला था जाल
आज मछली नहीं, निकली तीन लाशें।" [1]

जब कोई अस्वाभाविक हत्याकांड होता है तब सरकार की ओर से बाधित लोगों को मुआवजा दिया जाता है। इसके लिए प्रत्येक सहायक कोष है। लेकिन इसमें से जनता के पास बहुत कम पैसा आता है बाकी सब अधिकारी वर्ग खा लेता है। सेवा मार्ग के नाम पर जनता का हिस्सा भी ये लोग हड़प रहा है। रही बात रिपोर्टों की तो किसी मामले पर ठीक रिपोर्ट कभी आता ही नहीं क्योंकि समाज में जो कुछ भी हो रहा है इसके पीछे किसी राजनीतिज्ञ या धनाठ्य का हाथ ज़रूर होगा तब नीति एवं न्याय भी उनका ही पक्ष लेता है, जो अपराधी है। इस तरह अब पूरी शासन व्यवस्था अपराधियों से भरा पड़ा है।

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में मानवाधिकारों केलिए अहम भूमिका है, जिसके तहद यहाँ रहनेवाले हर एक को चाहे वह बच्चे हो, बूढे हो, दलित हो, पुरुष

1. अरुण कमल - अपनी केवल धार - पृ - 43

हो, स्त्री हो, हिजडे हो, हिंदू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो, बिना कोई भेद भाव से कानून के सहारे उनके सभी अधिकारों के संरक्षण की व्यवस्था कायम की गई है। लेकिन हमारे अहम अधिकारों पर भी आजकल नाइनसाफी चल रहा है। इसपर कवि की 'पीड़ित खुफिया आँखें' में कवि उदय प्रकाशजी कह रहे हैं-

"हत्यारे ने उस औरत को मारने में दो मिनट लगाये
उस पर दो शताब्दियों तक चलता है मुकदमा
जिसने सार्वजनिक कोष से साफ - साफ उडा लिये सैकडों करोड़ रुपये
उसकी सत्तर साल तक जांच करता है जांच आयोग।" [1]

यही न्यायपालिका का न्याय है कि जब भी इसमें कोई आम आदमी फँस जाता है जीवन पर्यंत वह उसमें जकड़ जाता है। जिसके पास अपने न्याय केलिए लड़ने का पैसा नहीं हैं सरकार खुद खर्चा उठाकर सरकारी वकील का इंतज़ाम करता है। इस प्रकार पैसों का खर्च तो होता रहता है मगर जिसको न्याय मिलना होता है उसे न्याय नहीं मिलता क्योंकि सबूत ढूँढने से भी तीव्र गति से सबूत को नाकामयाब सिद्ध करने का प्रयास चलता रहता है। गलत है यह जानते हुए भी वकील अपराधी का साथ दे रहा है सिर्फ पैसों केलिए। ऐसी स्थिति में मानवाधिकार का संरक्षण कैसे हो पाएगा।

हमारे स्वतंत्र, समाजवादी, लोकतंत्र भारत में नागरिक के खातिर कई सारे कर्तव्यों एवं अधिकारों को लागू किया गया है। न्यायालय के द्वारा इन अधिकारों के संरक्षण की बात भी तय किया गया है ताकि नागरिक देश को अपना समझे वहाँ की जनता के साथ सौहार्द भाव से रह सके। लेकिन अर्थकेंद्रित समकालीन संदर्भ में धन के सहारे कई गुनेगार नियम एवं कानून से छूट जाता है। चाहे राजनीतिज्ञ हो या

1. उदय प्रकाश - रात में हारमोनियम - पृ - 49

कोई बिसिनस मैग्नेट हो या फिर फिल्म स्टार हो वे अपने अधिकार, धन एवं जनप्रियता को समाज के विरुद्ध प्रयोग करता रहता है इस पर 'चंकी पांडे मुकर गया है' नामक कविता में कवि उदय प्रकाशजी कहते हैं-

"गुलशन कुमार की आकांक्षा थी अनुराधा को लता मंगेश्कर
और अपने भाई किशन कुमार
को ट्रेजडी किंग दिलीप कुमार बनाने की
वही किशन कुमार, जो मैच फिक्सिंग के मामले में गिरफ्तार हुआ था
और जेल में बीमार पड़ा था
फिर ज़मानत पर छूट गया था, जैसे सभी इज्ज़तदार और
सम्मानित लोग छूट जाया करते हैं इस देश में।" [1]

नीतिन्याय व्यवस्था भी अब धन के लोलुप है। अगर किसी के पास पैसा है तो वह इस समाज में कुछ भी गलत कर सकता है। यहाँ कानून भी पैसों के आगे झुकता है। कवि ने अपनी 'विचार' नामक कविता में न्यायालय एवं कानून को अपने स्वार्थ केलिए उपयोग करनेवाले लोगों के बारे में बताया है कि

"कुछ न्यायाधीरा दिखेंगे
अन्याय के पक्ष में जिनका फैसला पूर्व घोषित है
दिखेंगे कुछ चश्मदीद गवाह जो कहेंगे हमने कुछ नहीं देखा
उस दिन हम इस पृथ्वी पर थे ही नहीं।"[2]

कॉर्ट, कचहरी, विधान सभा, संसद सबको इसलिए बनाया कि जहाँ तक हो सके जनता अपने वैयक्तिक सामाजिक मूल्यों से अवगत रहे और उसकी चार दीवारी में रहकर देश केलिए उपयोगी कार्यों में लगे रहे। राजनीति भी इस लक्ष्य को

---

1. उदय प्रकाश - एक भाषा हुआ करती है - पृ - 29
2. उदय प्रकाश - एक भाषा हुआ करती है - पृ - 61

साकार करने के उद्धेश्य को लेकर जनम ली थी। अब सारे के सारे मूल्य छूट गए हैं और उनके स्थान पर वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं स्वार्थ को महत्त्व मिल रहा है। वकीलों का काम यह नहीं कि वह नियमित कानून में से बचाव का रास्ता (loop holes) ढूँढ निकालकर अपराधियों को संरक्षण दे बल्कि इसलिए बनाया कि उचित गवाह को प्रस्तुत करके मुकदमे की पूरी जाँच ठीक तरीके से करके अपराधी को सज़ा दिलवा सके और निर्दोष को न्याय दिलवा सके। आजकल होता इसका उल्टा है। वास्तव में कवि कहना चाहते हैं कि सारे के सारे विचारों के पीछे अब अनीति, अन्याय, निरंकुशता ही है। परिवर्तनकारी लगनेवाले इन विचारों के तंत्र के पीछे वह ताकत प्रवर्त्तमान है जिसकी अनैतिकता से हासिल किया गया अधिकार भी अनैतिकता का ही पक्ष लेगा। अर्थात् शासक अनैतिक हो तो उनका शासक बनने का एवं शासन करने का तरीका भी अनैतिक रहता है। इसकी वजह से देश की सारी प्रशासनिक व्यवस्था बिगड़ती जा रही है।

नीति न्याय व्यवस्था की अमानवीयताओं को दर्शानेवाली कविता है पवन करणजी द्वारा लिखित 'देहाती जीवन' इसमें उन्होंने एक ऐसे दीवान के बारे में कहा जो बिलकुल अन्याय का पक्ष लेता है। पुलिस को जनता के जीवन, संपत्ति एवं स्वतंत्रता को सुरक्षा देनी चाहिए। लेकिन एक छोटे से थानेदार भी अब पैसों के आगे पिघल जाता है और अन्याय का साथ देता है, यहाँ कवि ऐसे एक दीवान के बारे में बताते हैं -

"दहेज केलिए एक बहू की हत्या वाले केस में तो
उन्होंने भी हवा में फरफराते पूरे दस हज़ार गिने
और वे झट से डाकघर जाकर कर आये
उन्हें ब्याह केलिए अपनी बेटी के नाम,

दस हज़ार के आगे बहु के बाप और भाई के आँसू भी
नहीं पिघला पाए उनका धार्मिक कलेजा
उस केस में दरोगा ने क्या लिया हनुमान जी जाने।" [1]

यही आज की नीति न्याय व्यवस्था है। छोटे - छोटे अधिकारियों से लेकर बडे - बडे अधिकारियों तक सब का सब भ्रष्ट है। नीति पीठ पर रहनेवाले अब सभी मानवीय मूल्यों के घातक बन गए हैं। ये सभी लोग मिलकर पूरे शासन तंत्र को बिगाड़ दिया है। मानवाधिकार इतने ठोस होते हुए भी यहाँ मनुष्य के साथ होनेवाले अन्याय को माफी मिल जाती है। कहा जाता है कि कुछ पुलिसवाले गुंडे से कम नहीं होता। आम जनता से हफ़्ता वसूल करने का काम वे भी कर रहे हैं। उन्हें सब कुछ मुफ्त में मिल जाता है। डर के मारे हवलदार की इन सभी करतूतों को आम जनता सह लेते हैं। पवन करणजी की 'एक अभिभाषक के बारे में' नामक कविता में भी उन्होंने न्यायव्यवस्था की सुरक्षा के उत्तरदायी लोगों से किस प्रकार पूरी नीति न्याय व्यवस्था को शर्मिंदा होना पड़ रहा है इस पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ कवि ने एक ऐसे अभिभाषक का चित्रण किया है जो सिर्फ और सिर्फ अन्याय को साथ देने के मकसद से इसमें शामिल हुआ है। हर नागरिक का दायित्व है कि वह अपने देश में नैतिक संस्कार को पालने में योगदान दें, लेकिन यहाँ जनता का संरक्षक एवं नीतिन्याय व्यवस्था के रक्षक खुद इसका दुरुपयोग कर रहा है इस पर कवि का कहना है -

"उन्हें उस अभियुक्त से मिलकर ज़्यादा खुशी नहीं होती
जो रिरियाते हुए कहता है मुझे झूठा फँसाया गया है
वकील साहब मुझे बचाइए मैंने कोई अपराध नहीं किया
उसे बचाने की तो वकील साहब की इच्छा ही नहीं होती

1. पवन करण -अस्पताल के बाहर टेलिफोन- पृ - 51

वकील साहब को तो वह अपराधी पसंद है जो
छाती ठोंककर हँसते हुए उनके सामने कहता है
हाँ साहब, अपराध तो मैंने किया है
अब यह आपके ऊपर है कि आप मुझे किस तरह बचाते हैं
आप तो ये बोलो नोट कितने लगेंगे।"[1]

न्याय केलिए लड़ना जिन लोगों का फर्ज़ है वे ही अन्याय का साथ दे रहे हैं तो इसमें जनतंत्र एवं कानून की कोई गलती नहीं। वास्तव में व्यवस्था में निहित गलती को सुधारने का काम मानव ही कर सकता है। यह उनका फर्ज़ है।

नीतिन्याय व्यवस्था, हमारे संविधान, शासक सबका दायित्व होता है कि वह देश की प्रगति करें। सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि सभी पहलुओं के आधार पर देश का विकास इनका दायित्व बनता है। इसके लिए सबसे निचले तबके के लोगों से इसकी शुरुआत अनिवार्य है। इस मकसद से परंपरागत सामाजिक रूढ़ियों से जनता को मुक्त करके एक स्वतंत्र संवैधानिक व्यवस्था को कायम किया गया है। इसमें आरक्षण के ज़रिए सभी प्रकार के भेदभावों को अनदेखा करते हुए इनके अधिकारों का संरक्षण हो रहा है। आधुनिक युग में आदिवासी, दलित आदि अवर्ण भी जानने लगे हैं इनके संवैधानिक अधिकारों के बारे में इससे शासक एवं न्यायाधीशों का पोल खुल गया है कि किस प्रकार गैरकानूनी प्रवृत्तियों से ये अधिकारी वर्ग दीन दलित लोगों का शोषण कर रहा है, किस प्रकार मानवाधिकारों का हनन हो रहा है। 'एक आदिवासी गाँव से गुज़रती सड़क' नामक कविता में कवि का कहना है -

"चमक पड़ा मर्म
आदिवासी गाँव की छाती से गुज़रती सड़क का

1. पवन करण - अस्पताल के बाहर टेलीफोन - पृ - 118

कि हमारी शोषण की सभ्यता का
कि जिसकी बाँह राजधानी से
यहाँ तक यह आयी है
लुटेरी बाँह
टटोलती इसकी छाती के कोयले आत्मा का अबरख
यह सड़क
कि यह नहीं राजधानी से बहती आयी सभ्यता की नदी
कि इससे नहीं कोई संबंध
इनके किनारे बसे हुओं का।" [1]

यही सच्चाई है अब किसी भी क्षेत्र के लोग हो चाहे पुलिसवाले, शासक वर्ग, अभिभाषक सब का सब अमानवीय चरित्र वाले हैं। उनमें कोई संवेदना नहीं। आर्थिक लाभ केलिए वे कुछ भी कर सकते हैं। यह भीषण राजनीतिक मूल्यच्युति है।

आजकल हम एक ऐसी व्यवस्था में जीने को मज़बूर है कि यहाँ कोई सच को मानता नहीं। झूठ जल्दी ही अपना स्थान जमा करते हैं। जनता के मन में और न्यायालय के फयलों में। कवयित्री अनामिकाजी अपनी 'सच, न्यायालय और कविता' नामक कविता में इस सच्चाई को ज़ोर देकर स्थापित करती है कि आजकल कहीं भी कोई मूल्य बचा ही नहीं और आज के जीवन का हर क्षेत्र ऐसे लोगों से भरा पड़ा है जो बिलकुल चरित्रहीन है और यहाँ सच सदा एक कहानी में तब्दील हो जाता है।

"न्यायाधीश
कोई गवाह नहीं मेरे पास,
लेकिन मैंने सच की हत्या नहीं की।
थपकी देकर उसको सुला दिया

1. ज्ञानेन्द्रपति - कवि ने कहा - पृ - 45

क्योंकि वह थका हुआ था!
देखना, वह अभी जागेगा,
और खुद तुमसे कहेगा-
सच के कहानी बन जाने की दास्तान।" [1]

सच को स्थापित करने केलिए इतना मेहनत करना पड़ता है कि सब का सब झूठ का सहारा ले रहा है, तो फिर सच का बचाव कैसे संभव हो पाएगा। लोकतंत्र में अल्पमत की नहीं बल्कि बहुमत की स्वीकृति होती है। आजकल की राजनीति की त्रासदी भी यही है कि अधिकांश लोग अब झूठ के पक्ष में हैं।

न्याय व्यवस्था को सुचारू ढंग से चलाने के खातिर यहाँ थाने एवं पुलिसवालों को रखा गया है ताकि उनकी सेवा 24 घंण्डे जनता को प्राप्त हो जाए, लेकिन आजकल के पुलिसवाले गुण्डों से कम नहीं। कवि चन्द्रकांत देवतालेजी 'सबसे ज़रूरी काम' नामक अपनी कविता में बता रहे हैं -

"मैं शिकायत करने कहाँ जाऊँ
हर जगह चाँदी का जूता गड़ा है
थाने में जाकर सही - सलामत लौटना
लगभग असंभव है।" [2]

प्रशासनिक क्षेत्र में इस तरह की अमानवीयताएँ होते हुए जनता की सुरक्षा एवं लोकतंत्र की बात कहाँ तक संगत है। नीति और न्याय कागज़ों में हैं। आजकल नियमपालक भी इसका पालन नहीं कर रहा है और जनता भी कानून से छूट मिलने के आदी हो चुके हैं।

---

1. अनामिका - अनुष्टुप - पृ - 102 - 103
2. चन्द्रकांत देवताले - उसके सपने - पृ - 156

'कि कुछ दिनों तक' नामक कविता में विनोदकुमार शुक्लजी ने सत्ता एवं न्यायालय की अमानवीयता पर ज़ोर दिया है। जनता की सुरक्षा इन दोनों के हाथ में है लेकिन जनता इनके अंदर अपने आपको असुरक्षित महसूस कर रहा है। आजकल निरपराध लोगों के साथ अन्याय हो रहा है। कवि का कहना है -

"अधिकतर लोगों ने उसे बुरा कहा
न्यायपालिका ने बल्कि हत्यारा भी
जितना मुझे उस आदमी के अच्छे होने पर विश्वास था
उतना सत्ता और सर्वोच्च न्यायपालिका पर कभी नहीं था।
वह एक गरीब आदमी था।" [1]

साधारण जन समाज का रक्षा करना सत्ता का दायित्व है, और गरीब - अमीर, ऊँच - नीच, स्त्री - पुरुष आदि भेदभावों को देखे बिना गुनेगार को सज़ा देना कानून एवं नियमपालकों का फर्ज है मगर वे धन के माप तोल के आधार पर या फीस के रकम के आधार पर किसी को गुनेगार और किसी को बेगुनाह स्थापित कर रहे हैं।

आजकल नीति, न्याय, समानता आदि सब सुविधाएँ धनाठ्यों को मिल रही है। वे चाहे जितने भी अनैतिक हो उन्हें सुरक्षित रखने का दायित्व देश की नीति न्याय व्यवस्था एवं सत्ता अपना फर्ज़ समझ रखा है। लेकिन जिनके पास कुछ भी नहीं उन्हें तो सूली पर चढ़ाने का कार्य यही व्यवस्था बेहद दंग से कर रही है। 'रंगा - बिल्ला' नामक कविता में उदय प्रकाशजी ने अपना मत प्रकट किया है।

"एक था रंगा

1. विनोदकुमार शुक्ल - अतिरिक्त नहीं - पृ - 57

एक था बिल्ला
दोनों भाई - भाई नहीं थे
लेकिन दोनों को फँसी हो गयी।
एक है टाटा
एक है बिरला
दोनों भाई - भाई है
लेकिन दोनों को फाँसी नहीं हुई।" [1]

आज भी हमारे कार्ट एवं कानून के आगे रंगा और बिल्ला ही लगातार खडे हो जाते हैं क्योंकि वे तो किसी के लायक नहीं। इनके पास न ही अधिकार है और न ही ये धनी है। हमारे यहाँ उन मानवों के अधिकारों का संरक्षण हो जाता है जो सत्ता को अपनी संपत्ति से अपने हाथों में नचा रहे हैं।

मानवाधिकार आयोग को इसलिए रखा गया है कि अगर हमारे समाज में किसी भी व्यक्ति के साथ चाहे वह स्त्री हो, पुरुष हो, बूढे हो, बच्चे हो कोई भी हो अन्याय होते देख रहा है तो इसके लिए उत्तरदायी लोगों को सज़ा दिलवा दे। इसमें ही नहीं बल्कि हमारे संविधान में भी हर नागरिक के अधिकारों के बारे में विस्तृत कानून व्यवहृद है। लेकिन आँखों के सामने अन्याय होते देखकर भी सबका सब चुप है। 'किसकी दिल्ली' नामक कविता में बोधीसत्व का कहना है -

"पाँच साल का बच्चा
गुमसुम मलता है बासन
यह कैसी किसकी दिल्ली
और किसका कैसा शासन।"[2]

---

1. उदय प्रकाश - अबूतर कबूतर - पृ - 71
2. बोधीसत्व - खत्म नहीं होती बात - पृ - 46

देश को उचित शासन व्यवस्था इसलिए चाहिए कि देश का हर कार्य व्यवस्थित रूप में चले। वहाँ सब कुछ ठीक तरीके से ठीक समय पर हो जाए। सब केलिए जिन अधिकारों की व्यवस्था की गयी है, उसे हासिल होने में जनता को मदद मिल जाए। लेकिन आज के राजनीतिज्ञ अशिक्षित एवं व्यवस्था के खिलाफ है तो वह बाकी लोगों के अधिकारों के बारे में कैसे सोचेंगे।

'गुरुदक्षिणा' नाम की अपनी कविता में लीलाधर मंडलोईजी ने आम जनता के साथ अन्याय करनेवाले सत्ता एवं न्यायालय की विलंबित नीतियों के बारे में चर्चा की है। उनका कहना है -

"जो कुछेक पेड़ थे और थोडी - सी ज़मीन
बेदखल किया उन लोगों ने
जिनकी जड़ें थी सत्ता के तहखानों में
बेचेहरा माफिया कहा उन्हें सरकारों ने
न्यायालयों ने रची ऐसी विलम्ब की नीति
कि पीढ़ियाँ लड़ते हुए बूढ़ी हुई कि मृत।" [1]

साधारण जनता के हाथ में जो कुछ है वह सब हड़पने केलिए जानबूझकर सत्ता कोई न कोई रास्ता ढूँढ़ता रहेगा। जनता के साथ होनेवाले अन्याय के बारे में पूछने वाला कोई नहीं होगा। पूछने केलिए जो उत्तरदायी है वे स्वयं निरंकुश है तो फिर जनता को केस लड़ते - लड़ते दम तोड़ना पड़ता है। उनकी ही कविता है 'कुलगोत्र' इसमें भी मंडलोईजी देश के न्यायालयों की आलोचना कर रहे हैं -

"रोज़नामचे से लेकर उस जगह
जहाँ एक आँखों में पट्टी बाँधें

1. लीलाधर मंडलोई - देखा - अदेखा - पृ - 33

सदियों से तराजू संभालने की नौकरी बचाए
देखने के अधिकार से वंचित खड़ी
साये में बैठे लोग तक परहेज़ में आँखें खोलने को
सिर्फ सूने या जुटाए गए सबूतों पर
भरोसा करते बिन भरोसे के लोग
कोई नहीं जान पाएगा इस दफा फिर हत्यारा बाइज्ज़त बरी हुआ।" [1]

हमारी नीतिन्याय व्यवस्था की सबसे बड़ी कमी है इसमें देरी ही देरी है। इस देरी ने कईयों की ज़िंदगी बिगाड़ दी अब भी बिगाड़ रही है। लेकिन जो अपराधी है उसे बहुत जल्दी ही छूट मिल जाती है। कोई गवाह या सबूत बचेगा ही नहीं।

हमारी उजड़ी नीतिन्याय व्यवस्था में न्याय के हकदार लोगों को अन्याय ही मिल रहा है। 'कानून' नामक कविता में गोरख पाण्डेयजी कह रहे हैं -

"रखता हुआ चीज़ों को
पहले से तय की हुई
जगहों पर
मसलन अपराधी को
न्यायाधीश की, गलती को सही की
और पूँजी के दलाल को
शासक की जगह पर
रखता हुआ
चलेगा,
मज़दूरों पर गोली की रफ्तार से
भूखमरी की रफ्तार किसानों पर

1. लीलाधर मंडलोई - देखा - अदेखा - पृ - 48

विरोध की जुबान पर
चाकू की तरह चलेगा।"[1]

यही कानून की सच्चाई है। यहाँ सामाजिकता को, न्याय को, सच्चाई को स्वीकृति नहीं मिल रही है। अधिकार मोहियों के गलत शासन तंत्र ने प्रजातंत्र के अर्थ को ही बदल दिया। अब प्रजा पर शासकों और न्यायाधीशों का तंत्र चल रहा है।

'प्रतीपों के जंगल में' नामक कविता में कैलाश वाजपेयीजी ने सामाजिक यथार्थ के ज़रिए असुरक्षित जनता का चित्रण किया है। अगर देश की जनता में नैतिक मूल्यों का पतन हो रहा है तो इसका दायित्व व्यक्ति पर ही नहीं देश के नियामकों, कानून, नीति, न्यायालय सभी पर होता है। चोरी पकड़ने के बाद भी चोर को दण्ड नहीं मिल रहा है, बार - बार छूट मिल जाता है तो वह कैसे सुधरेगा। हमारी, संवैधानिक विधियाँ इतनी उदारवादी है कि निरीह जनता के साथ कुछ भी हो जाए वह गुनेगार आदमी को कुछ नहीं करेगा। उन्हें कॉर्ट एवं जेल में इतनी सुविधाएँ मिल जाती हैं कि वह अपराध करना अपना आदत बनाने को मज़बूर बन जाए। कवि का कहना है -

"जिंदा हूँ
दुनियाँ भर के आधे पागलों
लफंगों, धूर्तों, सत्तान्धों को लेकर
शर्मिंदा हूँ !
मेरे दिमाग में ततैयों का छत्ता
हाठों पर कनखजूर चिपका है
अखबारों में चर्चा है

1. गोरख पाण्डेय - जागते रहो सोने वालो - पृ - 68

चार वर्ष की बच्ची

माँ बनने वाली है।" [1]

यही हमारा सामाजिक यथार्थ है। यहाँ हर कहीं लफंगों, धूर्तों, सत्तान्धों का राज चल रहा है। कोई किसी के साथ कुछ भी कर सकता है, पूछनेवाला कोई नहीं होता। न ही सत्ता पूछेगा न ही न्यायालय। इसलिए दिन - ब - दिन हमारे समाज में गुनाहगारों एवं अपराधियों की संख्या बढ़ती जा रही है और मूल्यों की च्युति भी बढ़ती जा रही है।

4.7 आतंकवाद, युद्ध और अमानवीय हत्याएँ

आज की राजनीतिक व्यवस्था के सामने उपस्थित एक महत्वपूर्ण एवं न मिटने वाली समस्या है आतंकवाद। शासन कितनी भी प्रबल रहे आतंकवाद के सामने घुटने टेंकना पड़ता है। इनका लक्ष्य सिर्फ अपने अधिकारों को जनता पर थोपना है। इसके पीछे अर्थ, अधिकार, धार्मिक कट्टरता आदि वजहें होती हैं। आतंकवाद में मूल्य एवं मानवतावाद केलिए कोई स्थान नहीं है। आतंकवाद के चलते जनता के जीवन एवं स्वतंत्रता को संरक्षण देने में सभी शासन व्यवस्थाएँ असर्मथ रह जाती है। 'ईष्या' नामक कविता में अरुण कमलजी कह रहे हैं -

"कल न्युट्रॅन बम गिरेगा

हम तुम सब सब मर जाएँगे

सब कुछ नष्ट हो जाएगा

फिर भी इस टेबुल पर इसी तरह चमकता रहेगा

शान से यह ऐश ट्रे

आज मुझे

---

1. कैलाश वाजपेयी - देहांत से हटकर - पृ - 59 - 60

इस ऐश ट्रे से ईर्ष्या हो रही है
मुझे ईर्ष्या हो रही है।" [1]

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में भी लोगों के जान की हैसियत ऐश ट्रे से भी कम महत्वपूर्ण रह गयी है। सुचारू शासन तंत्र को चलते हुए देश आतंकवादियों से मुक्त नहीं। इन लोगों को शासकों द्वारा सहायता मिल रही है तो देश आतंकवादियों से मुक्त कैसे होगा। हर देश के प्रशासनिक विभाग में राज्यद्रोह को प्रोत्साहन देने वाले प्रशासनिक वर्ग ज़रूर मौजूद है, नहीं तो इस प्रकार की अमानवीय संस्थाओं का टिकाव मुश्किल होगा।

राजनीतिक जीवन मूल्यों पर और एक आफत युद्ध है। कई कारणों से बाहरी शक्तियों का आक्रमण हर राज्य को सहना पड़ रहा है। कभी- कभी युद्ध का कारण उनकी वर्चस्व की स्थापना हो सकती है। युद्ध की भावनाएँ सबसे ज़्यादा भुगतने वाले लोग सीमांत प्रदेशों में रहनेवाले होंगे जो बिलकुल एक सहज साधारण जीवन बिताने वाले हैं। जीवन की सुरक्षा के दावे रखनेवाले लोकतंत्र के सामने इनके जीवन की सुरक्षा भी एक विराट समस्या बन गयी हैं। आज तो मानवाधिकार आयोग भी कार्यरत है जनता के अधिकारों को संरक्षण देने केलिए लेकिन, फिर भी इन लोगों को चयन की नींद कभी भी हासिल नहीं होती। कवि प्रयाग शुक्लजी ने अपनी कविता युद्ध में इस सच्चाई को यों दर्शाया है।

"कानों के पास
आ जाती
आवाज़ बम वर्षकों की।
अरे वहाँ कोई घर

1. अरुण कमल - अपनी केवल धार - पृ - 52

भहराया,
वह भी किसी आदमी था।
उसमें भी रहते थे
बच्चे।"[1]

हमारा राज्य, देश की सुरक्षा को सुदृढ़ बनाने केलिए इतना कुछ कर रहा है करोडों पैसे खर्च कर रहे हैं फिर भी सीमाप्रांतों में रहनेवाले साधारण जन जीवन की सुरक्षा आज भी सिर्फ बहसों में रह गया है।

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में जीकर भी लोक की सुरक्षा, असुरक्षा में बदलती रहती है। जब भी कोई हादसा हो जाती है वह निरीह जन जीवन के बीच ही होता है। इसका कारण क्या है इस पर बखूबी चर्चाएँ होती रहती हैं। शासक वर्ग कहते हैं इसमें विपक्षियों का हाथ है। विपक्षियों का कहना है कि यह आतंकवादियों का काम है। लेकिन असल में ये लोग मिल कर जनता के बीच कुछ न कुछ गड़बड़ी पैदा करता रहता है। इसका फल आम जनजीवन को भुगतना पड़ता है। 'क्या फर्क पड़ता है' नामक कविता में कुँवर नारायणजी कहते हैं -

"तुम जो बेदर्दी से हत्याएँ कर सकते हो
क्या किसी का दिल भी जीत सकते हो?
अगर 'हाँ' तो तुम हत्यारे नहीं हो सकतेः
अगर 'नहीं' तो तुम आदमी नहीं हो सकते।
कौन हो तुम? सोच कर बताओ
अगर सोच सकते हो, इतनी आसान भाषा में
कि दम तोड़ता एक बच्चा भी समझ सके

1. प्रयाग शुक्ल - बीते कितने बरस - पृ - 17

तुम्हारी बहादूरी
और अपनी कुर्बानी का मतलब.....।" [1]

धन, अधिकार इसकी लोलुपता में पड़कर हमारे समाज में जितनी हत्याएँ हो रही हैं इसमें ज्यादतर बच्चे, औरत और कामकाजी लोग होते हैं। पता नहीं चलता है कि राजनीतिज्ञों का इन निरीह प्राणियों ने क्या बिगाड़ा है। यह सब राजनीतिज्ञों का खेल है कि उन लोगों को सत्ता को बनाये रखने केलिए ऐसी अमानवीय चाल चलाने में कोई दिक्कत नहीं होती । राजनीतिक जीवन - मूल्यों की च्युति केलिए यह भी एक कारण बन जाता है।

'छोटे - छोटे घर' नामक अपनी कविता में कवि कुँवर नारायणजी ने आज की अनैतिक राजनीति के शिकार होनेवाली आम जनता का चित्रण किया है। राजनीतिक लडाइयाँ सही और गलत के बीच होता रहता है। लेकिन सही और गलत को राजनीति की भाषा में नहीं नीति की भाषा में तय करने की ज़रूरत को मानना पड़ता है क्योंकि अगर बेगुनाहों की हत्याओं के सिलसिले से मुक्ति पाना है तो सही और गलत को अलग करने में नीति की सहायता लेनी पडेगी। आजकल छोटे - छोटे घर यदि असुरक्षित रह गया है तो इसके पीछे अनैतिक राजनीति का ही हाथ है, कवि कह रहे हैं -

"बेगुनाहों की बेवजह हत्याओं के सिलसिले
क्यों शर्मिंदा करते हैं
एक मामूली - से आदमी को भी
इतनी बड़ी - बड़ी राजनीतियों के सामने
अगर हो सके तो सोचें

1. कुँवर नारायण - हाशिए का गवाह - पृ -36

क्यों किसी भी हद से
इतने असुरक्षित नज़र आते हैं
छोटे - छोटे घर।" [1]

आजकल किसी देश, दल एवं समुदाय में किसी भी तरह की समस्याएँ उभरकर आ रही हैं तो इसके पीछे राजनीति का हाथ ज़रूर रहता है। क्योंकि हर राजनीतिक दल जनता के बीच यह वहम पैदा करना चाह रहा है कि जिस राजनीतिक दल के शासन में वे रह रहे हैं और विश्वास रखते हैं या जिन्हें वे अपनी सुरक्षा की लगाम सौंप दिया है उनके हाथ में जनता सुरक्षित नहीं है। यह हर राजनीतिज्ञ का एक चाल है कि वे जनता को धोखे में रखे। जनता भी समझता है कि जो भी और जितने भी राजनीतिक दल यहाँ पर कायम है, कि जनतंत्र के नाम किसी एक धोखेबाज़ को चुने और उसकी हर अनैतिकता को पाँच साल तक सहते रहें।

युद्ध एक अमानवीयता है चाहे वह वैयक्तिक स्वार्थों केलिए हो, साम्राज्य केलिए हो या फिर हुकूम केलिए युद्ध में अनेक निरीह प्राणियों को अपना जान गँवाना पड़ रहा है। वे नहीं जानते हैं कि उनको अपना जान क्यों नष्ट हो रहा है। वे तो किसी का कुछ भी नहीं बिगाड़ा न कि विदेशी साम्राज्यवादी शक्तियों का न कि देशी राजनीतिक ताकतों का और न ही आंतकवादियों का लेकिन जब युद्ध होता है या फिर कोई दंगा फसाद होती है उसमें ज़्यादातर हानि आम जनता को ही होती हैं। 'युद्ध की छाया' नामक कविता में अनिता वर्माजी कहती है -

"रात - भर गिरती रहीं लाल - पीली रोशनियाँ
मेरी छत पर
सीएनएन से दिखाये गये बमबारी के

1. कूँवर नारायण - हाशिए का गवाह - पृ -37

दृश्यों की तरह
मैं बचाती रही अपने बच्चे को सबको
डरे - सहमे थे परिचितों के चेहरे
हम सब भयभीत थे
आखिर हमने किया क्या था
कुछ लोगों को साम्राज्यवाद चाहिए था
कुछ को ताकत हुकूमत
हमें क्या चाहिए था
सिवाय एक निरुपाय जीवन के
कुछ रंग फूल मामूली ज़रूरतों और प्यार के
उन पर भी भय की छायाएँ थीं
.....
और जब खुली नींद
मेरी आत्मा में सन्नाटा था
टीवी अब भी बता रहा था युद्ध के बारे में।"[1]

युद्ध कहाँ, किसके लिए, किसके द्वारा हो रहा है इससे भी महत्त्वपूर्ण है देश अपनी जनता की सुरक्षा का दायित्व ठीक से निभा रहा है कि नहीं। इसलिए हमारे यहाँ सैनिकों को रखा गया है कि वे अपनी मातृभूमि एवं जनता की रक्षा करें लेकिन युद्ध के समय चाहे भारत हो या पाकिस्तान या फिर और कोई देश पता नहीं मानवीयता की सारी हदें पारकर निरीह एवं निरुपाय लोगों को मारने में लगे रहते हैं।

भारत एवं पाकिस्तान को अलग करनेवाला सीमा प्रदेश है जम्मु काश्मीर यहाँ रहनेवाले लोगों की ज़िंदगी दो राज्यों के बीच की राजनीति में फँसकर सदा बेचैनी एवं असुरक्षा में तड़प रहा है। कब दंगा फसाद होगा, कब घरों को जलते राख बनते

1. अनिता वर्मा - एक जन्म में सब - पृ -106

देखना होगा आदि समस्याएँ इन लोगों का पीछा नहीं छोड़ती। ज़िंदगी को लेकर इनमें कोई सपना ही नहीं बचा है ऊपर से हिंदू मुसलमान विद्वेष भी इन्हें सता रहा है। देश की जनता को सुरक्षित रखने में नाकामयाब रहनेवाले शासन, राजनीतिक जीवन मूल्यों की च्युति मिटाने में कैसे कामयाब होगा। 'घर जल रहा है' नामक अपनी कविता में रामदरश मिश्रजी ने इस सच्चाई को सामने लाने की कोशिश की है -

"कश्मीर जल रहा है
पर्यटकों का स्वर्ग जल रहा है
राजनीतिज्ञों की राजनीति जल रही है
धार्मिकों का धर्म जल रहा है
कलाकारों की कला जल रही है
सभी सुरक्षित होकर
लीलाभाव से देख रहे हैं यह जलना
और अपनी - अपनी योजनाओं में खोये हुए हैं।" [1]

काश्मीर जैसे प्रदेशों में रहनेवाले लोगों की ज़िदगी में चयन से जीने का भाग्य नहीं लिखा है। वहाँ मनुष्य को मनुष्य की दृष्टि से नहीं बल्की हिंदू और मुसलमान के भेदभाव एवं फर्क की दृष्टि से देख रहे हैं। वैसे ही रामदरश मिश्रजी की और एक कविता है 'घर' इसमें भी आतंकवादी शक्तियों की अमानवीय हरकतों से तड़पते लोगों का चित्रण मिल रहा है। किसी की स्वेच्छाचारिता केलिए कितनों को अपना जान देना पड़ रहा है, कितनों को घर एवं सगे संबंधियों से दूर जाना पड़ रहा है। आतंकवादी शक्तियों के आगे देश की राजनीति भी झुक जाती है। कवि का कहना है -

---

1. रामदरश मिश्र - बारिश में भीगते बच्चे - पृ - 30

"लेकिन क्या होगा इस घर का?
मैं सोच में डूब जाता हूँ
जब कहीं भी सुनता हूँ
किसी स्वेच्छाचारी इच्छा का बारूदी अट्टहास
सदियों को समाप्त होने में मिनट भी नहीं लगेगा।" [1]

एक बहुमत पर अल्पमतों को अपना अधिकार जमाने केलिए कई प्रकार की अमानवीयताएँ करनी पड़ती हैं जैसे आतंकवादी शक्तियाँ कर रही हैं। उनकी अपनी कुछ विशेषकार्य सूची होगी और उसको कामयाब कराने में वे कोई भी तरीके अपनाते हैं। उन्हें दूसरों की कोई परवाह नहीं और उन्हें इस लक्ष्य तक पहूचाने केलिए इनके ही अभिकर्ता, गुप्तचर (Agent) देश विदेश के विभिन्न कार्यालयों में कार्यरत हैं। राजनीतिक मूल्य च्युति से देश को बचाने केलिए इन शक्तियों को वश में लाने की ज़रूरत पड़ती हैं।

युद्ध एक भीषण स्थिति है। इसमें पड़कर साधारण अनजान आत्माएँ राख हो जाती है। युद्ध की राजनीति मूल्यों के खिलाफ है। लेकिन कभी कभी सत्ता को हासिल करने केलिए देश के नागरिक ही इस तरह की अमानवीयताएँ फैला देती हैं। कभी - कभी आतंकवाद की चुनौती से बचने केलिए युद्ध की ज़रूरत पड़ जाती है। देशी राजनेताओं में भी अपनी कुर्सी के बचाव के खातिर नकसलिज़म को प्रोत्साहन देनेवाले हैं - 'बच्चा' नामक कविता में युद्ध की भीषणता को व्यक्त करते हुए कवि कहते हैं -

"बच्चा सात बरस का तन्हा
ढूँढ़े है झुलसों के बीच

1. रामदरश मिश्र - बारिश में भीगते बच्चे - पृ - 65

.....

चाहे है अम्माँ के बोसे

पिता के चांटे खोजे

सुनना माँगे गुमी आवाज़ें, दोस्त की खिलखिल, बहन की सिसकी

अटे ढ़ेर लाशों के कितने

किसमें प्रियजन दबे - पड़े

भटक रहा इत - उत देखे बच्चा सात बरस का तन्हा।"[1]

यही युद्ध का परिणाम है। सत्ता को युद्ध के दौरान जनता के सबकुछ हड़पने को नहीं बल्कि अगर हो सके तो समझौते के ज़रिए युद्ध को टाल देना चाहिए और जनता के जीवन एवं संपत्ति का रक्षा कवच बनना चाहिए। देश केलिए कोई विपत्ति खड़ी हो जाती है तो और अगर शासन से संभल नहीं रहा तो जनता खुद अपना जान दे देंगे देश केलिए, अपनी स्वतंत्रा केलिए लेकिन बेवजह निरीह जनता की हत्या करना धन, अधिकार, धर्म के स्वार्थ को पाने केलिए बेकसूरों की अमानवीय हत्या रणनीति के खिलाफ है।

युद्ध, आतंकवाद, दंगा, फसाद सब कुछ मूल्यों की दृष्टि से अमानवीय है। इन अमानवीयताओं से जनता की मुक्ति मनुष्य के विवेक संपन्न सोच से ही संभव बन पाएगा। आजकल मनुष्य का विवेक नहीं धन ही सबका नियामक बन गया है। इसलिए उन्हें सूझता है कि आग झोपडों को जलाने केलिए काम आता है, धनवानों के भूख मिटाने केलिए अन्न उगता है, शांति केवल परमाणू अस्त्रों से ही कायम हो सकती है। कवि गोरख पाण्डेयजी अपनी कविता 'सोचो तो' में कह रहे हैं -

"यह भी कितना अजीब है

---

1. लीलाधर मंडलोई - देखा - अदेखा - पृ - 89

कि हम सोच सकते हैं
मसलन हम सोच सकते हैं
कि फसल ज़मीन्दारों के बिना भी
उग सकती है
जैसे परमाणू अस्त्रों के बिना भी
कायम हो सकती हैं शांति
जो कल - कारखाने अपने हाथों चलाते हैं
वे उनके मालिक भी हो सकते हैं
पानी जोंकों के बिना भी
बहता रह सकता है
और आग झोपडों जलाने केलिए नहीं
बल्की ठंड से काँपते लोगों को
बचाने के काम आ सकती है
सोचो तो सिर्फ सोचने से
कुछ होने - जाने का नहीं
जबकि करने को पड़े हैं।" [1]

हमारे यहाँ जितने भी हत्याकांण्ड हो रहे हैं वह इन विद्रूपताओं को लेकर हो रहा है। सब कहीं फर्क ही फर्क दिखाई पड़ रहा है। कुछ लोग समानता लाने केलिए आतंक का मार्ग अपनाते हैं। सामाजिक भेदभावों को मिटाने हेतु संघर्ष कर रहे हैं। धर्म के नाम पर एक दूसरे को मार रहे हैं, अमीर एवं गरीब के बीच की खाई कभी भी भरता नहीं। यह भी शासन की पराजय है एवं राजनीतिक मूल्य च्युति है।

युद्ध एक विसंगति है। इसमें सबकुछ नष्ट हो जाता है। मनुष्य की मानवीय संवेदनाओं में आयी कमियाँ और धन एवं अधिकार लेलुपता ने युद्ध को जन्म दिया।

1.गोरख पाण्डेय - जागते रहो सोनेवालो - पृ - 66 - 67

'युद्ध' नामक कविता में हेमंत कुकरेती कहते हैं -

"हथियार बनाने के बाद
उसे खून अच्छा लगने लगा
युद्ध ने उसे सीख दी खुद को बचाने की
दूसरों को मार कर
उसे लगा सुरक्षित है वह
उसने कहा देखा मैं सब कुछ कर सकता हूँ
उसने सब कुछ किया
पर वह सुंदर नहीं रहा।" [1]

युद्ध किसी की वर्चस्व मोह का परिणाम है। जो वर्चस्व की स्थापना चाहते हैं उनमें दूसरों के प्रति संवेदना नहीं होगी जबकि मूल्य मानवीय संवेदनाओं पर आधारित है। चाहे जीवन के कोई भी क्षेत्र हो मानवीय संवेदनाएँ अपना सही रूप लेकर उपस्थित हो जाती हैं तो सारी अमानवीयताएँ मिट जाएगी।

कैलाश वाजपेयीजी की 'स्नायुघात' नामक कविता युद्ध को लेकर देश की दुः स्थिति पर चिंतित कवि की मानसिकता को उभारनेवाली है। राजनीतिक जीवन मूल्यों का पहला पड़ाव है जनता की सुरक्षा क्योंकि जनता नहीं तो फिर किसके लिए है शासन और किसके लिए है यह प्रजातंत्र। कवि का बयान है -

"देश युद्ध करते हैं
तब जबकि कुछ हो सकता है करने को
देश युद्ध करते हैं
कमर टूट जाने के बाद
संधि पत्र पर

1. हेमंत कुकरेती - चलने से पहले - पृ - 40

करके हस्ताक्षर
फिर खाली नलियों में बारूद भरते हैं
यही हो रहा है
सौ साल से
ना - हज़ार साल से
दस हज़ार साल से!" [1]

जब युद्ध होता है तब समझौतों की ज़रूरत पड़ती है। एक बार समझौता कर लेने के बाद भी, नयी आवश्यकताओं के साथ युद्ध फिर से उपस्थित हो जाता है। लेकिन युद्ध का असर राज गद्दी पर बैठनेवालों पर नहीं बल्कि आम जनता पर पड़ता है।

4.8 राजनीतिक दंगा फसाद एवं युवापीढ़ी

आजकल राजनीतिक दल कोई भी हो देश की युवा पीढ़ी को भटकाने में हर एक का योगदान अविस्मरणीय है। ये लोग अपने हित को साधने केलिए युवा पीढ़ी के ऊर्जा का ही इस्तेमाल कर रहा है। युवा पीढ़ी कई सपनों के ज़रिए राजनीति में उतरते हैं मगर दलबंदी की कूटनीति उन्हें आम आदमियों के खून पीने को मज़बूर कर रहा है। 'अपील' नामक कविता में अरुण कमलजी कहते हैं -

"हम देश के सबसे बडे नेता को
अपने सबसे प्रिय नेता को
सबसे महत्वपूर्ण नागरिक को
देंगे सबसे बडा सम्मान
अजूबा अभूतपूर्व नागरिक सम्मान -
फूल से नहीं

1. कैलाश वाजपेयी - देहांत से हटकर - पृ - 19

सोने चाँदी से नहीं
हम उन्हें खून से
जी हाँ खून से तोलेंगे।" [1]

वर्तमान राजनीति शहीदों की संख्या में वृद्धि चाहते हैं। इसकेलिए देश की युवा पीढ़ी का इस्तेमाल कर रहा है। वे भी तो अपने खून में पार्टी एवं नेता का नाम रटते रहते हैं और नेता तो उनके राष्ट्रप्रेम का, उनकी संवेदनाओं का शोषण कर रहा है।

देश प्रेम के नाम पर झठे प्रोत्साहन देकर कई युवा जनों की आत्माएँ अब शहीद बन गयी हैं। युवा लोगों में देश प्रेम जगाने केलिए उन्हें गलत रास्ते से चलने को प्रेरित करना सबसे बड़ी मूल्य च्युति है। दंगा - फसाद कहीं भी कभी भी लोगों को चयन से सोने का मौका नहीं देगा। हेमंत कुकरेती की कविता है 'दुनिया का नागरिक'; इसमें कवि का बयान है -

"जब हम इतने अलग हैं
तो प्रेम कैसा?
जब एक नहीं है तो किसका
यह देश और इनका प्रेम?
जो ऐसे प्रेम के नाम पर दी जाती है
मैं उस यातना के खिलाफ हूँ
मैं जीवित हूँ कि सोचता भी हूँ
दूसरे के समान जीवन
जीने के बारे में।" [2]

तत्कालीन राजनीति की सबसे बडी चुनौती है वहाँ युवा शक्तियों का गलत

1. अरुण कमल - अपनी केवल धार - पृ - 56
2. हेमंत कुकरेती - चलने से पहले - पृ - 58

इस्तेमाल हो रहा है। नेता लोग अपनी वाकपटुता एवं क्रांतिकारिता के ज़रिए युवा लोगों को आकर्षित करता है। उनका सारा काम इन लोगों से करवाता है। राजनीति के प्रस्तुत तंत्र को उजागर करने वाली कविता है 'सलाह', इसमें कवि इब्बार रब्बीजी का कहना है -

"शेर को सलाह दी
खरगोश ने
शेर हिरण को खा गया
भेड़ियों को भगा दिया
खा गया नील गाय को
शेर को सलाह दी खरगोश ने
वह हाथी को मार आया
सुनसान हो गया सारा जंगल
कुछ नहीं बचा खाने को
भाँय - भाँय कर रहा था
शेर के पेट का कुआँ
उसने पुकार खरगोश को
वह अपने सदाबहार बिल से
बाहर आया
शेर उसे चटकर गया।"[1]

यही राजनीति की वास्तविकता है। युवापीढ़ी में अधिकार मोह जगाकर उन्हें गलत रास्ते दिखाने वाले खरगोश रूपी नेताओं का अंत इन शेरों रूपी युवा पीढ़ी से ही होगा। प्रस्तुत कविता में राजनीतिक जीवन मूल्यों की च्युति को दर्शाने केलिए कवि ने शेर को युवापीढ़ीयों के प्रतीक के रूप में और खरगोश को चालाक

1. इब्बार रब्बी - सोगबाग- पृ - 59

राजनीतिज्ञों के प्रतीक के रूप में इस्तेमाल किया है।

राजनीतिक स्वार्थों में फँसकर अपने भविष्य को खरते में डालना हमारे यहाँ के युवा पीढ़ी की आदत बन गई है। आजकल बडे - बडे नेता वे ही बन जाते हैं जो कालेजों में पार्टी के नाम पर संघर्ष करते रहते हैं जो कई बार अनुपूरक परीक्षा लिखने पर भी पास नहीं हुआ हो और जिनके हाज़िरी दर सबसे कम हो, जो अपने भविष्य को लेकर इतना बेपरवाह एवं अनुत्तरदायी रहता है वे करोडों जनता के भविष्य को कैसे उज्जल बन पायेंगे।

4.9 राजनीति और मीडिया

मीडिया या पत्रकारिता को लोकतंत्र का चौथा स्तंभ माना गया है, क्योंकि आम जनता का राजनीति के साथ सीधा संपर्क इसके द्वारा होता रहता। मीडिया सच को सामने लाता है। पत्रधर्म भी यही है कि वह विश्व व्यापी खबरों को जनता के सामने ज्यों का त्यों प्रस्तुत करें। इसमें वह निष्पक्षता अपनाए, धन या अधिकार के शिकार होकर वह किसी पक्ष के लिए काम करें यह सब पत्रकारिता में निषिद्ध है। आजकल अपने सभी प्रोटोकॉल (विज्ञप्ति) को खंडित करके मीडिया काम कर रहा है। 'वर्गीकरण' नामक कविता में अखबार में आयी खबरों की ओर संदेह भरी दृष्टि रख रहे हैं कवि रघुवीर सहाय -

" पत्र सूचना विभाग मौत की कई खबरें
एक साथ जारी कर देता है
संपादक उन्हें छाँट कर विषय के हिसाब से रखते हैं
महानगर में बूढ़े बूढ़ियों के घर में हत्या
कोई डकैती नहीं
फिर सड़क दुर्घटना

मोटर भिडंत कम
बस तले कुचला जाना अधिक
और आत्म हत्याएँ सब एक सिरे से एक साथ।" [1]

यहाँ कवि बस इतना ही बताना चाह रहा है कि पत्रकार कुछ प्रश्नों का उत्तर यूँ ही छोड देते है जिसमें सत्य छिपा हुआ होता। परस्पर मेल मिलाप के बगैर खबरों को लाकर छपवाता है। जो पाठक हैं वे भी सोचते हैं कि डकैती नहीं है तो हत्या क्यों हुई। मोटार भिडंत कम है तो दुर्घटना कैसे? और ये जो आत्महत्याएँ हो रही हैं इसके पीछे की वजह क्या है? आदि प्रश्नों का उत्तर न ही पत्रकार दे सकता है और न ही प्रशासक।

जनता को, आम आदमी को अपने अधिकारों को पाने का सही रास्ता पता नहीं उन्हें उस राह तक ले जाने का काम मीडिया का होता है। जब भी कहीं मानवाधिकारों का उल्लंघन होता है तब इसके प्रति सतर्कता बरतना प्रतिबद्ध पत्रकार का धर्म होता है। पत्रकारिता एक कारोबार नहीं कि अपने प्रसार केलिए सही और गलत में कोई फर्क न दिखे लेकिन आजकल होता यह है। इसपर कवि रामदरश मिश्रजी 'आग' नामक कविता में कहते हैं -

"जब हमारा गाँव धू- धू कर जल रहा था
तब तुम बड़ी तेज़ी से दौडे आये थे
और हमारी जलती औरतों की नंगी तस्वीर
और हमारी आँखों का हाहाकार
अपने कैमरें में भरकर ले गये थे
और कहा था -
हम जल्दी ही लौटेंगे

1. रघुवीर सहाय - एक समय था - पृ - 24

इनका इलाज लेकर
कहाँ हो तुम?
.....
सुना है तुम
इलाज ढूँढने से पहले
आग लगाने वाले को ढूँढ रहे हो
पता नहीं
सजा देने केलिए
या
मुबारकबाद देने केलिए।" [1]

आजकल पत्रकारिता के क्षेत्र में भी यही अनैतिकताएँ चल रही हैं। उनका लक्ष्य जनता की सुरक्षा एवं संरक्षण और सामाजिक न्याय एवं व्यवस्था को बनाये रखना नहीं बल्कि जल्दी - जल्दी नयी - नयी खबरें ढूँढना होता है ताकि पत्र के प्रसार में वृद्धि हो जाए, पाठक की संख्या में वृद्धि हो जाए इसके लिए वे राजनीति के साथ जुड़कर कुछ भी कर लेते हैं। दोनों का लक्ष्य नाम एवं पैसा है।

4.10 सांप्रदायिकता

21 वीं सदी में पहूँचकर भी मनुष्य धर्म के जकड़न से दूर नहीं हुआ है। धर्म एक ऐसा नशा बन गया है कि उसके लिए कुछ भी करने को लोग तैयार होने लगा है,व्यवस्था को अव्यवस्थाओं में तब्दील करनेवाले अधिकारी वर्ग भी सांप्रदायिक विध्वंसों को प्रोत्साहन दे रहा है। 'इतिहास' नामक कविता में रघुवीर सहायजी सांप्रदायिकता की गहरी पकड़ को दिखा रहे हैं।

1. रामदरश मिश्र - दिन एक नदी बन गया - पृ - 22

"इतिहास का एक क्षण होता है
जब सारी शक्तियाँ
मिल जाती हैं उसे अपने पक्ष में पलट लेने केलिए
और जिनको उन्होंने निकाल बाहर कर दिया है धीरे - धीरे
उनसे यह कहती है
कि तुम अब हमारे अधीन होकर रहो
सांप्रदायिकता को मान लो
नहीं मानते हो तो
सब शक्तियों के आक्रमण सहने को तैयार रहो।" [1]

आज के ज़माने में रहने केलिए सांप्रदायिकता को मानना पड़ता है। भारत की धर्म निरपेक्षता सिर्फ कागज़ों में पड़ा है। यहाँ समाज में और Social media में भी धार्मिक आशयों को लेकर लड़नेवालों की संख्या बहुत बढ़ चुकी है। सांप्रदायिकता को बढावा देना आजकल राजनीति केलिए एक अनिवार्यता बन गई है। राजनीतिज्ञों का लक्ष्य जनता का कल्याण एवं सुरक्षा नहीं बल्कि अधिकार को बनाये रखना होता है। इसके लिए वे किसी भी कदम उठा सकते हैं।

जब धर्म और राजनीति एक साथ जुड़ जाता है तब इससे सर्वाधिक हानि जनता को ही होता है, उनके विश्वासों पर ठेस पहूँचता है। आध्यात्मिकता एवं शासन यह मानव जीवन के कभी भी न जुडनेवाले दो तत्व है। धर्म, त्याग एवं अहिंसा का पाठ देता है। यहाँ राजनीतिज्ञ कूटनीतियों के सहारे धर्म के नाम पर हत्या का आह्वान कर रहे हैं। जनता के बीच विद्वेष का बीज बो देता है। ज्ञानेन्द्रपति ने इसकी अभिव्यक्ति यों की है। -

---

1. रघुवीर सहाय - एक समय था - पृ - 51

"फिर बोले;
यहाँ हम मंदिर - मस्जिद के कोनों - अँतरों में
कोई पवित्र पुण्यफल नहीं, विध्वंसक विस्फोटक
सूँघते - ढूँढ़ते फिर रहे हैं
वहाँ वे
खुलेआम भर रहे हैं लोगों के मस्तिष्क में
विध्वंसबीज विस्फोटक विचार
अभी - अभी आनी है होली
लाल चेहरे और हरी हथेलियाँ लिये
धूमते बच्चों के समूहों पर रीझे या खीजे
हमने कभी सोचा है, उनके हाथों की रंग - पिचकारियाँ
पिस्तौल के रूपाकर में क्यों बदल गई हैं?
हम कभी हुए हैं चिंतित कि दीपावली और शबे - बारात
के शिशु पटाखे दहलाते बमबच्चों में क्यों बदल गए हैं?।" [1]

अब लड़ाई राजनीतिज्ञों से होकर मंदिर और मस्जिद के बीच चल रहा है अयोध्या में बाबरी मसजिद का जो दंगा फसाद हुआ उसमें बहुत सारे लोगों को अपनी जान गँवाना पड़ा। वे मामले अब तक सुलझा नहीं और राजनीतिज्ञ सुलझने नहीं देता, क्योंकि अगर यह सब खतम हो गया तो उन्हें वोट की राजनीति चलाने केलिए और कोई सरल मार्ग सूझता नहीं। अब राजनीति में उतरनेवाले लोग समाज सेवी नहीं बल्कि धर्म के नाम पर शोर मचाने वाले हैं। धर्म मनुष्य को मनुष्य की तरह देखने एवं व्यवहार करने को मज़बूर करता है। राजनीति अर्थात् भारत में लोकतंत्र जनता की सेवा का सबसे सुचारू एवं पारदर्शी व्यवस्था है। लेकिल इन दोनों तत्त्वों से अनभिज्ञ लोग अब दोनों को बिगाड़ रहे हैं। मंदिर तोड़कर मसजिद

1. ज्ञानेन्द्रपति - गंगातट - पृ - 84

बना रहे हैं और मसजिद तोड़कर मंदिर। इसमें पड़कर आम आदमी डर के मारे जी रहें हैं। उन्हें न कोई ईश्वर बचाने आता है न प्रशासक। कवि भी यही पूछते हैं कि इतिहास की भूल सुधारने में भूल का इतिहास क्यों रच रहे हैं।

हर माँ चाहती है कि वह अपने बच्चे को सही संस्कार दें। जाने अनजाने वह किसी के दिल न दुखाए, इस परवरिश के साथ बढाते है वे बच्चों को। जब खेल खुद में लड़ाई करके आता है तो उसे प्रशांत प्रतिरोध के तरीके सिखाती है। फिर भी कभी-कभी उसके बच्चे का अतिवादी होने का डर सदा उसकी बेचैनी बन जाती है। 'गणतंत्र दिवस' नामक कविता में अनामिकाजी इसका ज़िक्र यों करती हैं -

"कभी - कभी वह पूछता है,
'माँ, यह पाकिस्तान क्या चाहता है?'
और फेंकता है मिसाइल - सी कागज़ की
छत की इस सरहद के पार!
सोचती हूँ - बचपन में मैंने तो इसको
खिलौने की भी बंदूक नहीं दी,
डरती रही कि हो नहीं जाए यह भी अतिवादी।
है हवा में ही इतनी हिंसा !
'आतंक', 'अगवा', 'आगजनी'
'लूट', 'हत्या'
हाईजैकिंग -
ये हिंसक शब्द अबाबीलों से मँडरा रहे हैं सिर पर इसके।"[1]

आजकल बच्चे से लेकर युवा पीढी तक जाने अनजाने देश प्रेम को छोडकर अतिवादी बन रहा है। हिंदू, मुसलमान जैसे भेदभाव बचपन से लेकर उनके मन में स्थिर

1. अनामिका - अनुष्टुप - पृ- 60

हो गया है। प्रत्यक्ष रूप से उन्हें इन भेदभावों की नज़रिए से कोई हानि नहीं हुआ है तो भी, जो कहानियाँ वे बचपन से लेकर सुन रही है उन्हीं के आधार पर वे नैतिकता और अनैतिकता ढूँढने लगेंगे और उनमें भी मानवीयता की सार्वभौमिक भावना के परे किसी के प्रति पक्षधरता जागने लगता है। सांप्रदायिकता मानव मन में बाहर से आता है इसकी शुद्धीकरण प्रशासनिक तलों से होना चाहिए।

कभी - कभी कोई हादसा या प्राकृतिक आफत होता है जो संपूर्ण मानव जीवन को हड़प लेता है। अब एक आफत या एक महामारी लोगों के मन को ग्रस रहा है उसका कोई इलाज नहीं। जो ईश्वर के नाम पर फैल गया है। जिसके पुरोधा अधिकारी एवं शासक है। 21 वीं सदी का मनुष्य अपने स्वार्थ को पाने केलिए कुछ भी करने को तैयार है। कवि चन्द्रकांत देवतालेजी अपनी कविता 'इस शाही हाड़ तोड़ती दिनचर्या में' नामक कविता में कह रहे हैं -

"उन्नीसवीं सदी में ताऊन बड़ा हत्यारा था
आज कैंसर है
कल को शायद वह भी नहीं रहेगा
राजा गये राजनेता आये
ईश्वर के सभी टेलिफोन कट गये
अब आदमी के प्रश्नों का उत्तर वे नहीं दे सकते
जो आग को घी पिलाकर मगन हैं
या खडे हैं एक पाँव पर बरसों से।" [1]

जिस ईश्वर की संकल्पना ने मनुष्य की रक्षा पर ज़ोर दी है उसी ईश्वर की संकल्पना को लेकर एक ही जैविक विशेषताओं वाले मनुष्य आज लड़ रहे हैं। वह

1. चन्द्रकांत देवताले - उसके सपने - पृ- 81

भी किसी राजनीतिज्ञों की कूटनिति में फँसकर। जब कोई आसरा नहीं है तब मनुष्य ईश्वर के चरणों पर आश्रय ढूँढ़ता है। लेकिन आज कल वह भी नहीं कर सकता क्योंकि अब सबसे खतरानक चीज़ धर्म है। धर्म जान की रक्षा नहीं बल्कि हत्या करते हैं। अब आदमी को आदमी की हैसियत से नहीं बल्कि धर्म की हैसियता से मानने लगे हैं। उसके अस्तित्व को न्यायाधीशों के शब्द और बजट के दस्तावेज़ों से लेकर उसकी थाली में पडे रोटी और बदन के कपड़े तक बता रहे हैं वे कौन हैं।

लोकतंत्र के चलते हुए भी भ्रष्ट राजनीतिक व्यवस्था में एक व्यक्ति इतना भी स्वतंत्र नहीं कि वह किसी संप्रदाय दल, वर्ग से च्युत रहे। न चाहते हुए भी बाहरी शक्तियों की प्रेरणा से व्यक्ति सांप्रदायिक हो जाता है। भारत के संदर्भ में घर वापसी, गोहत्या आदि इसके लिए उत्तम उदाहरण है। 'आशीष' नामक अपनी कविता में कवि रामदरश मिश्रजी ने इस सच्चाई को हमारे सामने लाने की कोशिश की है।

"लेकिन बेटे
तुम्हें पता नहीं है कि
तुम जिस समय यहाँ आये हो
वह जलता हुआ समय है
चारों और आदमी नहीं
सम्प्रदाय चल रहे हैं
जीवन का तेज़ नहीं
श्मशान जल रहे हैं
आसपास नीति नहीं

राजनीति हँस रही है

.....

तुम्हारी यह निच्छल खुली बेनाम हँसी
नाम पा जायेगी किसी सम्प्रदाय, वर्ग या दल का
तुम्हारी मौन बोलती आँखों की मानवीय भाषा
किसी पक्ष के अभिप्राय से जुड़ जायेगी
तुम्हारी मुट्ठियों में बंद सुंदर रहस्य
सरककर गिर जायेगा
और समय उनमें
कोई न कोई झंडा या बंदूक थमा देगा
तुम विस्मित से यह सब देखोगे,
और सोचोगे - कहाँ आ गया हूँ।" [1]

किसी दल, संप्रदाय, वर्ग के पक्ष लेना बुरा नहीं, अगर यह सब उसमें निहित नैतिकता को मानते हुए चल रहा है तो इसमें कोई गलती नहीं। आजकल यह नहीं हो रहा है कुछ व्यक्तियों या वर्चस्ववादी शक्ति एक साथ मिलकर सभी विचार धाराओं में अपने मनोनुकुल परिवर्तन लाकर अपने स्वार्थ को पाने की मकसद से संप्रदाय, वर्ग एवं दल को प्रोत्साहन दे रहा है। इस परिस्थिति में परिवर्तन वाछनीय है।

सांप्रदायिकता की जड़ सत्ता और धर्म के बीच के संबंधों से इतनी तेज़ बन गई है। प्रजातंत्र बहुमत पर आधारित है तो तब इन बहुमतों को अपनी ओर खींचना अधिकारियों एवं राजनीतियों एवं राजनीतिज्ञों की ज़रूरत बन जाती है, इसका एक आसान तरीका है धर्म। धर्म मनुष्य के हृदय की गहराई तक को छू लेता है। आजकल विभिन्न दलों को देखने से हमें महसूस होगा कि हर एक दल एक - एक धार्मिक संस्था

1. रामदरश मिश्र - बारिश में भीगते बच्चे - पृ- 20 - 21

को माननेवाले है या फिर जातिगत, समुदायगत संस्था के पोषक है। वाम पंथियों ने भी अब कार्लमाकर्स के सारे सिद्धांतों को अनदेखा करके अपने ही घर में पूजा पाठ आदि सब कुछ को मानने लगे हैं। जब राज्यसत्ता के सबसे ऊँचाई पर धर्मावलंबी एवं संप्रदाय के पक्षधर लोग विराजने लगे हैं तब जतना के बीच समता समानता का होना बिलकुल संकल्प मात्र रह जाता है। कवि उदय प्रकाशजी ने 'दो हाथियों की लड़ाई' नामक कविता में कहा हैं -

"और तब
विद्वता बोली -
अध्यात्म ही उपचार है,
धर्म ही विकल्प है !
लोग प्रेम से रहे
तो शांति स्थापित होगी।
संसार के
सबसे बडे बनिये ने
विद्वता के पैरों पर
माथा टेका।
संसार के सबसे क्रूर तानाशाह ने
रुद्राक्ष धारण किया।" [1]

वास्तव में संसार के हर तबके के लोग एक न एक धर्म एवं विश्वास के आदि बनकर रह रहे है। मनुष्य की इस मानसिकता एवं भावना का आज के राजनीतिज्ञ गलत इस्तेमाल कर रहा है।

आज हम जिस समय एवं परिवेश में जी रहे हैं वह इतना खतरनाक है कि कब

1. उदय प्रकाश - अबूतर - कबूतर - पृ - 69

किसकी ओर से हमारा मौत संभव होगा यह पता लगाना मुश्किल है। आजकल मौत को ले आने का टेका राम, अल्ला ने ले लिया है। कवि गोरख पाण्डेयजी की 'दंगा' सांप्रदायिकता का उत्तम उदाहरण बन कर मौजूद है। कवि कह रहे हैं -

"इस बार दंगा बहुत बड़ा था
खूब हुई थी
खून की बारिश
अगले साल अच्छी होगी
फसल
मतदान की।"[1]

यहाँ पर दंगा राम और अल्लाहू के नाम पर हो रहा है। चुरा चलाकर धरम बचाने का काम अब कुटिल राजनीतिज्ञों द्वारा हो रहा है। देश की अखण्डता को बनाए रखने केलिए खलता खून अब धर्म को बचाने केलिए खल रहा है और अखण्डता को खण्डित एवं चकनाचूर कर रहा है।

धर्म को आत्मीयता के परिवेश से बाहर खींचकर उसमें वर्चस्वता की विशेषता को भरने का काम कूटनीति ने किया। अधिकार पाने का सबसे आसान तरीका अब धर्म की आड़ में वोट की माँग रखना है। 'मृतपत्र' नामक कविता में कैलाश वाजपेयीजी कहते हैं -

"और वे
जो साँप और रस्सी की बहसों में
मठ बनाते गिरते रहे
नए नए

---

1. गोरख पाण्डेय - जागते रहो सोने वालो - पृ - 23

वे तानाशाह

जनहितैषी

वे धर्मपुत्र

सब अपनी - अपनी तरह के नरभक्षक थे

भीतर के तक्षक से

स्याह हुई काया को

वे काटते रहे या तो तलवार से

या फिर धोते रहे .....।" [1]

अब राजनीति एवं धर्म इतना घुल मिल गया है कि दोनों को एक दूसरे से अलग करना भी मुश्किल बन गया। आजकल यह विष वाले साँप साँप्रदायिकता का रूप लेकर पूरे समाज को डँस रहा है।

रमणिका गुप्ताजी ने साँप्रदायिकता को बढ़ावा देनेवाले राजनीतिज्ञों के सामने प्रश्न चिन्ह के रूप में मज़दूरायण नामक कविता लिखी है। झूठी राजनीति को प्रोत्साहित करनेवाले अधार्मिक व्यक्तियों के सामने आम आदमी की शंकाएँ प्रस्तुत कविता में मुखरित है। वे कहती है -

"सियाराम मय सब जग जानी

कह गये तुलसीदास

फिर हमर के का ज़रूरत है

माथा - पच्ची करे के

कि राम केने जन्मे?

इस देश में

कित्ते मज़ूरों की माय है

जो बात सकत है

1. कैलाश वाजपेयी - देहांत से हटकर - पृ- 121 - 122

ऊकर बेटा किस खेत में जन्म ले?

जैन खेत में ऊ जन्मत है।" [1]

धर्म के नाम पर आम जनता में क्रांति का दीप प्रज्वलित करनेवाले अनैतिक धार्मिकों एवं राजनीतिज्ञों के मूँह से जनता को परिचित कराने में प्रस्तुत पंक्तियाँ काफी असरदार है। अब जीवन मूल्यों की पुनः स्थापना आम जनता से होगी। प्रजातंत्र की सुरक्षा एवं सार्थकता भी आम जनता की ओर से ही हो सकती है। रमणिकाजी की 'बगुलों की कतार' नामक कविता में भी उन्होंने जनता के बीच अलगाव पैदा करनेवाले झूठे राजनीतिज्ञों का संकेत किया है, जो धर्म को एक राजनीतिक हथियार बनाकर अमानवीयता को प्रोत्साहन दे रहा है -

"सत्ता और सदारत रहे कुर्सी सलामत
देश जाए जहन्नुम में
बोल - बम तरन्नुम में
जुग - जुग जाए भारत में मुल्ला - पण्डा - पादरी
खण्ड - खण्ड 'भारती'
.....
कुर्सी की सलामती
सत्ता की वापसी
बेटों की चौकसी
बकसे की चाकरी
यही एक मूल - मंत्र
जपते दिन रात्री
पार्टी करपात्री

1. रमणिका गुप्त - भीड़ सतर में चलने लगी है - पृ- 36-37

'हवाला' का हलुवा डायरी है बांटती

टिकट के प्रार्थी !!" [1]

वोट की राजनीति में सबकुच धर्म माना जाता है और व्यक्ति मोहरा बन जाता है। किसी को कुर्सी चाहिए, किसी को काम, किसी को धन, इन सब केलिए गलत तरीकों का इस्तेमाल करना अब साधारण सी हो गया है। मुश्किल की बात यह है कि अब कुछ भी सीधे तरीके से नहीं चल रहा है। अब भारतीय जनता नहीं बल्कि मुस्लिम जनता, हिंदू जनता, ईसाई जनता है, सबको मिलाकर एक नाम देना सबसे बड़ा अपराध है। आज की राजनीति इन्हें एकता की डोरी में पिरोना भी नहीं चाहती क्योंकि देश की जनता, अगर एक हो जाए और अपने अधिकारों केलिए लडें तो अधिकारी वर्गों को नुकसान होगा।

निष्कर्ष

भारत के संदर्भ में राजनीतिक जीवन मूल्यों से तात्पर्य है जनतंत्रात्मक शासन व्यवस्था में निहित वैयक्तिक स्वार्थों एवं अनैतिकताओं का उन्मूलन। जब भारत स्वतंत्र जनतंत्र बन गया तब इसका लक्ष्य गुलामी से मुक्ति पाना एवं स्वावलंबन था और इसके लिए देश की जनता ने जद्धोजहद की। लेकिन वर्तमान राजनीतिक परिवेश फिर से गुलामी एवं परावलंबन की ओर जा रहा है । समाजवाद के नाम पर जनता का शोषण हो रहा है। भ्रष्टाचार सभी सरकारी कार्यालयों का अविभाज्य अंग बन चुका है। गुटबंदी की राजनीति ने नैतिक राजनीति की परिकल्पना को मिटा दिया है। मानवाधिकारों का हनन हो रहा है। नीतिपीठ अब मज़ाक बन गया है। सब कहीं युद्ध, अमानवीय हत्याओं का ताण्डव चल रहा। ऊपर से पत्रकारिता भी इन सबका

1. रमणिका गुप्ता - भीड़ सतर में चलने लगी है - पृ- 71

साथ दे रहा है। धर्मनिरपेक्षता की बहसें सिर्फ कानूनी कागज़ों में सिमट गया है। इन सब चुनौतियों से देश की सुरक्षा एवं जनता का संरक्षण ज़रूरी बन चुकी है। समकालीन हिंदी कवियों ने इन सब बातों पर चर्चा इसलिए अनिवार्य माना कि देश फिर से नैतिक राजनीति की राहों पर चलना सीखे। इसके लिए जातिगत, धर्मगत भेदभावों को माननेवाले नियमों को हटाना होगा। आरक्षण सिर्फ जाति के या उपजाति के नाम पर न होकर आमदनी के आधार पर हो जाए तो समाज जातिगत भेदभावों से 99% मुक्ति पा सकेंगे। घूस देने वालों एवं लेने वालों दोनों को कठिन दण्ड की व्यवस्था का बंदोबस्त करना भी अनिवार्य है। सरकारी कार्यालयों में होनेवाले सभी कार्यों पर जनता का हक बनता है। मानवाधिकार के नाम पर जनता को सूचना का अधिकार दिया गया है। इसके लिए एक फीस भी निर्धारित किया गया है। अब इस क्षेत्र में भी जनता के साथ शोषण हो रहा है। कर्मचारी गण अब निर्धारित फीस के बगैर भारी फीस ले रहे हैं। नीतिन्याय व्यवस्था को और भी दृढ़ बनाने की ज़रूरत युग की माँग बन चुकी है। अब भारतीय संविधान जनता को नैतिक बनाने के बजाय और कुकर्मी बना रहा है। इस स्थिती में भी परिवर्तन की सख्त ज़रूरत है। राजनीतिक जीवन मूल्यों की पुनः स्थापना केलिए जनता एवं प्रशासनिक दोनों में चारित्रिक बदलाव अनिवार्य है। व्यक्ति के नैतिक होने से समाज एवं राज्य दोनों मूल्यों से जुड़ जाता है। साथ ही राजनीतिक व्यवस्था भी मूल्यों से जुड़ जाएगी।

****

पाँचवाँ अध्याय
समकालीन हिंदी कविता में आर्थिक जीवन - मूल्य

पाँचवाँ अध्याय

समकालीन हिंदी कविता में आर्थिक जीवन - मूल्य

आधुनिक समाज की सबसे बडी विड़ंबना है कि हम सब एक अर्थाधारित समाज में जीने को विवश हैं। अब जीवन के नियामक एवं केंद्रीय शक्ति मूल्य न होकर धन हो गया है। अब का समाज मानवीय संवेदनाओं से दूर हो गया है। मानव मूल्यों एवं सांस्कृतिक जीवन - मूल्यों पर धन हावी हो गया है। जिसके पास धन है उसी का बोलबाला चल रहा है। मान, सम्मान, प्रतिष्ठा एवं अवसर सबकुछ धनी लोगों को ही प्राप्त हो रहा है। मनुष्य को जीवित रहने केलिए धन की ज़रूरत है, क्योंकि एक स्वस्थ समाज में जनता की आवश्यक ज़रूरतों की पूर्ति होना अनिवार्य है। सामाजिक विकास केलिए उत्पादन एवं विनिमय की प्रक्रिया भी ज़रूरी है। संस्कृति एवं सभ्यता इससे पुष्ट एवं पल्लवित होती है। पहले से लेकर वाणिज्यिक क्रियाओं से ही सामाजिक विकास एवं सभ्यता का विकास संभव हो पाया है। अर्थ भी सामाजिक विकास का आधार है। उत्पादन नहीं तो उपभोग नहीं, उपभोग के बिना विनिमय एवं वितरण भी नहीं। इसलिए इन सब कार्यो के पीछे एक मानवधर्मी मानसिकता का विकास भी अनिवार्य बन जाता है। तभी अर्थ की संकल्पना जीवन-मूल्यों से जुड़ जाएगी। एक समाज एवं वहाँ की जनता में अंतर्निहित मूल्य संबंधी परिकल्पना में अर्थ संबंधी सभी क्रियाकलापों का प्रभाव अवश्य पड़ता है। व्यक्ति को अपने जीवन की गरिमामयता केलिए साधन एवं सुविधाओं की ज़रूरत पड़ती है। इन

साधन एवं सुविधाओं को उन्हें सभ्यता से ही प्राप्त करना है। तब सभ्य समाज की आर्थिक आवश्यकताएँ भी जीवन मूल्यों के अध्ययन के संदर्भ में चिंतनीय विषय है ।

5.1 भारतीय अर्थ - व्यवस्था

भारतीय चिंतन धारा ने 'अर्थ' को भौतिक जीवन से संबंधित माना है अर्थ वह माध्यम है जिससे भौतिक जगत की सुख-सुविधाओं की प्राप्ति होती है। अर्थ विनिमय के माध्यम से बढ़कर जीवन मूल्य के व्यापक धरातल पर पहूँचने पर उसका संबंध मानवीय संवेदनाओं से हो जाता है। धनोपार्जन को भारतीय संस्कृति ने सबसे श्रेष्ठ स्थान दिया है क्योंकि जीवन में आनंद केवल उन लोगों को मिलता है। जिनके पास जीने का साधन एवं सुविधाएँ हो यही नहीं अर्थोपार्जन मनुष्य को परिश्रमी, साहसी एवं विवेकी बनाता है। महाभारत में निर्धनता को पाप माना जाता है। धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान केलिए भी धन की ज़रूरत पड़ती है। कौटिल्य ने अर्थ को महत्वपूर्ण जीवन - मूल्य के रूप में स्वीकारा है। वैदिक युग से लेकर आज तक भारतीय संस्कृति एवं जीवन में धन एवं अर्थ संबंधी अवधारणा को लेकर बहुत बडा अंतर हम देख सकते है। यह सच है कि वैदिक काल से लेकर अर्थ को जीवन मूल्य मानते हैं। उनके लिए अर्थ जीवनोपयोगी साधन मात्र है। जीवन का लक्ष्य नहीं। अब अर्थ अथवा धन जीवन का लक्ष्य बन गया है। धन के प्रति लोगों की लालसा बढ़ती जा रही है। पहले जिस अर्थ से परिवार संस्था का भरण, पोषण, समृद्धि एवं धार्मिक कर्तव्यों का सदाचार से पालन होता था अब वही धन परिवार को बंटवारे करने, अमानवीय हत्याकाण्ड आदि का कारण बन गया। मनुष्य अपनी भावनाओं एवं

संवेदनाओं का गुलाम है इस तथ्य को सही स्थापित करने केलिए इतना जानना ही काफी है कि अत्यधिक धन संग्रह, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, संघर्ष, युद्ध आदि अमानवीय भावनाओं को बढ़ावा देता है। वैयक्तिक संपत्ति का अधिकार भारतीय संविधान द्वारा सबको दिया गया है लेकिन किसी को भी यह अधिकार नहीं दिया गया है कि वह अपनी संपत्ति को बढ़ाने हेतु दूसरों को तकलीफ दें। उसका लक्ष्य व्यक्तिगत न होकर सामजिक हो। तभी आर्थिक जीवन मूल्य की परिकल्पना साकार होगी। अर्थ को जीवन का साध्य न मानकर साधन माना जाना चाहिए। ऐसे मानने केलिए आज के लेग तैयार नहीं है इसलिए उन्हें संस्कृति, आध्यात्मिकता, सत्यवादिता, दर्शन सबकुछ व्यर्थ लगने लगा है। अगर इनमें निहित सार को समाहित करके जीना है तो उसे वैयक्तिक स्वार्थ को त्यागना पडेगा। इसलिए सबसे आसान तरीका है कि इन सबको नकार दें। आर्थिक जीवन मूल्यों पर विचार विमर्श की ज़रूरत यहीं से शुरू होती है।

एक राज्य पूर्णतः वहाँ की अर्थ व्यवस्था पर निर्भर होता है। किसी भी युग के जीवन मूल्यों को समझने केलिए वहाँ की अर्थ व्यवस्था से परिचित होने की ज़रूरत है। अंग्रेज़ों के आगमन के पूर्व भारतीय अर्थ व्यवस्था का मुख्य आधार ग्राम था। ग्रामीण जीवन की ज़रूरतों की पूर्ति के सभी साधन यहाँ उपलब्ध थे और श्रम विभाजन जाति के आधार पर हुआ था। जो कुछ चाहिए था उसका उत्पादन गाँव के अंदर होता था। वितरण एवं विनिमय भी वहाँ तक सीमित रहा। भारत की आर्थिक संरचना में आमूलचूल परिवर्तन अंग्रेज़ों के आगमन से हुआ। सामंतवाद से हटकर भारतीय अर्थव्यवस्था पूँजीवादी बन गई। पुरातन भूव्यवस्था में परिवर्तन आ गया। ज़मींदारी प्रथा की शुरुआत हुई। भूमि पर व्यक्तिगत कर व्यवस्था शुरु हुई। यंत्रों की सुविधा, सड़क, तार, रेल आदि के

माध्यम से यातायात की प्रक्रिया भी शुरु हुई, नये उद्योग-धंधों की शुरूआत हुई। कारखानों, खान उद्योगों, चाय - कॉफी के बगानें का प्रारंभ हुआ। 1917 में हुई रूसी क्रांति के फलस्वरूप सर्वहारा एवं श्रमिक वर्गों की आर्थिक स्वतंत्रता की माँग भी मुखरित हुई। विभिन्न ट्रेड यूनियन (श्रमिकसंघ) की स्थापना हुई। श्रमिक अपने अधिकारों के प्रति सजग हुए। वह अपने मज़दूरी बढ़ाने एवं श्रम संबंधी अन्य अधिकारों केलिए लड़ने लगे। नेहुरु युग में भारत की अर्थ व्यवस्था मिश्रित - अर्थ व्यवस्था बनी। यहीं से नई अर्थ - व्यवस्था की शुरुआत हुई। गाँव नगरों में तब्दील होने लगा। जाति एवं वर्गाधारित श्रम विभाजन का अंत हो गया सबके केंद्र में अर्थ ने स्थान पाया। साथ ही मानवीय संबंधों एवं संवेदनाओं में भी अर्थ ने कब्जा जमाया समकालीन संदर्भ में अर्थ का राज चल रहा है। अब भारतीय अर्थ व्यवस्था की नियामक शक्ति विश्वबैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्व व्यापार संगठन है। भारतीय अर्थ व्ववस्था को जानने केलिए उदारीकरण एवं निजीकरण भूमंडलीकरण एवं बाज़ारवाद पर भी नज़र डालने की ज़रूरत है ।

5.1.1 उदारीकरण एवं निजीकरण

उदारीकरण से तात्पर्य है अर्थ व्यवस्था में नियमों को उदार बनाकर आर्थिक गतिविधियों को बढ़ावा देने की प्रक्रिया, इसके तहत निजीकरण को प्रोत्साहन मिल गया। उदारीकरण की अर्थनीति ने सब कहीं निजी कंपनियों को स्थापित करने में सरकारी कार्यों में भी अन्य पूँजीनिवेशों को प्रोत्साहन दिया। उदारीकरण एवं निजीकरण की प्रक्रिया से स्वदेशी वस्तुओं के निर्माण एवं आयात - निर्यात में आमूलचूल परिवर्तत्र हुआ। इससे अमरिका जैसे विश्व व्यापी अर्थ शक्ति को अपने आर्थिक विकास की गति को और भी तेज बनाने

का मौका दिया, देशी वस्तुओं की दाम में परिवर्तन लाकर इन विश्वशक्तियों ने अविकसित एवं विकासशील देशों की आर्थिक व्यवस्था को और भी बिगाड़ दी। इन देशों की अर्थव्यवस्था अंतरराष्ट्रीय मूद्रा कोष एवं विश्व बैंक के हिसाब से चल रही है। खेती कुटीर उद्योग, स्वदेशी व्यापार सब पर निजीकरण एवं आर्थिक उदारीकरण का बहुत बडा प्रभाव पड़ रहा है। उदारीकरण एवं निजीकरण की अर्थनीति ने विकास को पूरी तरह विदेशी पूँजी पर निर्भर होने को विवश कर दिया। इसके लिऐ देशी सरकार को अंतरराष्ट्रीय शक्तियों से भीख माँगने की नौबत उपस्थित हुई। खुद ये विदेशी शक्तियों का कायाबल देशी सरकारों पर कायम रहते हैं। वित्त व्यवस्था पर पूरा नियंत्रण उनके हाथों होने के कारण देशी सरकार पर दबाव डालना उनके लिए आसान बन गया। वैसे तो विदेशी पूँजी का निवेश अविकसित एवं विकासशील देशों में बढ़ता जा रहा है। सरकार उनके बडे-बडे व्यापारों को बिना कर लेके सहमति दे देता है। इस तरह लोककल्याणकारी एवं लोकहितकारी कार्यों पर सरकारी खर्च बंद हो जाता है। विदेशी शक्तियों की ओर लगाव रखनेवाले लोगों को सरकार के सभी उच्चपदों पर प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। इस प्रकार उदारीकरण एवं निजीकरण की नीति ने देशी सरकारों को अमरिका जैसी विदेशी शक्तियों का गुलाम बना दिया और उनके व्यापार केंद्र बना दिया।

विश्व व्यापार संगठन (WTO):- भारत के संदर्भ में जो नयी अर्थ व्यवस्था यहाँ पर कायम हुई है इसका खास संबंध कुछ देशी - विदेशी परिस्थितियों से है। इसका माध्यम है WTO (विश्व व्यापार संगठन) इसका लक्ष्य अमीर को अमीरी और गरीब को गरीबी देना होता है। इस संस्था का मूल उद्धेश्य व्यावसायिक गतिविधियों को अंजाम देने, माल और सेवाओं के आयात करने, आयातकों

और निर्यातकों को सुविधाएँ देना होता है। यह विश्व व्यापार केलिए दिशा निर्देश एवं ऋण के बंदोबस्त कराता है। यह नए व्यापार समझौतों एवं उनमें आनेवाले बदलावों केलिए उत्तरदायी है।

विश्व बैंक (IBRD) :- IBRD अंतरराष्ट्रिय पुनर्निमाण एवं विश्व बैंक से जाना जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व की अर्थव्यवस्था में भारी परिवर्तन आया। इसलिए इस क्षतिपूर्ति एवं अर्थव्यवस्था की पुन : स्थापना की ज़रूरत पड़ी। 1945 में ब्रेटन वुडस सम्मेलन के मुताबिक IMF के साथ IBRD का गठन हुआ। 1946 से लेकर यह कार्यरत है। उसका उद्धेश्य आर्थिक विकास हेतु सदस्थ देशों को अर्थ प्रदान करना है। दीर्घकालीन पूँजी निवेश को प्रोत्साहन देना, निजी त्रध्ण एवं अर्थ निवेश को प्रोत्साहन देना, उसको गारंटी प्रदान करना। अर्थ उपलब्धि में अड़चन पैदा होने पर कुछ शर्तों पर आधारित होकर उत्पादक गतिविधियों केलिए त्रध्ण पैदा करना, आर्थिक विकास की परियोजनाओं के कार्यत्वयन को सुनिश्चित करना आदि इसका मुख्य कार्य होता है।

अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष (IMF):- यह एक अंतरसरकारी संगठन है जिसकी स्थापना अंतरराष्ट्रीय व्यापर में विनिमय दर को स्थिर करने केलिए की गई थी। इसका मुख्य कार्य अंतर राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में स्थिरता बनाए रखने केलिए सदस्थ देशों की नीतियों, आर्थिक और वित्तीय विकास कार्यों की समीक्षा करना है। यह अपने 189 सदस्थ देशों की आर्थिक स्थिरता को बढ़ावा देने, आर्थिक एवं वित्तीय संकट को कम करने और जीवन स्तर को ऊपर उठाने वाली नीतियों को प्रोत्साहित करनेवाले उपाय के बारे में सलाह देता है।

अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्वबैंक एवं विश्व व्यापार संगठन ने मिलकर भारतीय अर्थ नीति को उदार बनाया एवं यहाँ गैर सरकारी व्यापार संस्थाओं एवं विदेशी पूँजी निवेश को एक सुनिश्चित ढाँचा प्रदान किया। अब भारत की स्वतंत्र अर्थनीति सपना मात्र बन चुका है। इन सबका मुख्य उद्धेश्य आर्थिक गतिविधियों मे से राज्य के हस्तक्षेप को दूर करना है। वित्तीय घाटे को कम करने केलिए इसकी ज़रूरत है। वित्तीय घाटे को कम करने में कामयाबी तभी हासिल होगा जब सरकारी खर्च कम होता है और इसकेलिए बुनियादी ढाँचे के विकास पर होनेवाले खर्च में कटौती करनी चाहिए। जैसे अतिविकसित देशों में होता है। एकपक्षीय विकास। मुद्राकोष एवं विश्वबैंक के दबाव में आकर भारत सरकार अपनी जनता के प्रति गैरजिम्मेदार बन रहा है। अब भी भारत की अधिंकांश जनता बढती निर्धनता, बढ़ती हुई कीमतों, खरीदने की ताकत में कमी और रोजगार की अनिश्चितता से गुज़र रहा है। जब तक एक देश अपनी जनता के स्वास्थ्य एवं बौद्धिक विकास की ओर ध्यान देने में कंजूसी करता है तब तक उस देश की प्रगति एवं विकास व्यावहारिक रूप से परिपूर्णता हासिल करने में हार जाता है। जिन साम्राज्यवादी शक्तियों ने पिछडे हुए देशों का स्वास्थ्य एवं शिक्षा में खर्च की कटौती की बात की वे स्वयं अपने देश में इस स्तर को खूब प्रोत्साहन दे रहे हैं। आर्थिक जीवन - मूल्यों के संरक्षण केलिए यह एक अनिवार्यता है। विदेशी पूँजी का अनियत्रिंत इस्तेमाल अगर देशी सरकारें द्वारा हो जाता है तो इस कर्ज को न चुकाने की नौबत पर देशी सरकार को समझौता करना पड़ता है और देशी - संपदा को विदेशों के हाथ बेचना होगा। ऐसी स्थिति में सबसे ज़्यादा नुकसान आवाम को ही होता है। यही नहीं इन सबकी पूँजीवादी अर्थनीति से तीसरी

दुनिया पर अब रोज़गार विहीन विकास एवं आर्थिक असमानता दर तेज़ी से बढ़ रहा है।

5.1.2 भूमंडलीकरण और बाजारीकरण

भूमंडलीकरण व्यापार, सेवा एवं तकनीक को पूरे संसार में व्यापक पैमाने पर फैलाने की प्रक्रिया है। यह विभिन्न व्यापारों या व्यवसायों को पूरे संसार के बाजार से जोडता है। अंतरराष्ट्रीय पूँजी निवेश को प्रोत्साहन देने में इसका बड़ा हाथ रहा है। नयी अर्थ व्यवस्था भूमंडलीकरण एवं बाजारीकरण की देन है। इससे हमारी सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक मूल्य व्यवस्था में भारी परिवर्तन आया। 20 वीं सदी आर्थिक जीवन मूल्यों की च्युति का समय रहा है। भूमंडलीकरण एवं बाज़ारवाद ने सामाजिक असमानता को दूर करके सबके लिए समान सुविधाएँ उपलब्ध कराने में सक्षम बन पाए लेकिन आर्थिक असमानता के कारण तीसरी दुनिया के 99% लोग इन सुविधाओं से वंचित रह गए। भूमंडलीकरण की दुनिया बाज़ार है। बाज़ार में विदेशी वस्तुओं का जमावड़ा है। इन वस्तुओं के विनिमय से अंतरराष्ट्रीय अर्थ - व्यवस्था में लाभदायक परिवर्तन उपस्थित हुआ लेकिन भारत जैसे कृषि एवं कुटीर उद्योग पर केंद्रित अर्थव्यवस्था पर धक्का लगा। भूमंडलीकरण के तहत हुए विकास ने विदेशी कंपनियों के पूँजीनिवेश के तरीकों को और भी हल्का बना दिया। घरेलू एवं लघु उद्योगों का सत्यानाश हुआ। ग्रामीण आबादी को गरीबी एवं बेरोज़गारी की हालत में छोड़ दिया। खेतीहर मज़दूर बन गए। भूमंडलीकरण एवं वैश्वीकरण के संदर्भ में मीडिया का बहुराष्ट्रीय कंपनियों का मुनाफा बढाने में सहयोग देना होता है। इसलिए विज्ञापन उन चीज़ों की अनिवार्यता पर ज़ोर दे रहा है कि जिनकी अनुपस्थिति से

मानव जीवन में विपत्तियाँ या असुविधाएँ खड़ी होने की कोई गुंजाइश नहीं। अब विश्व की अर्थ व्यवस्था को नियंत्रित करनेवाली शक्ति अमरीका है और उनका नया चाल है भारत जैसे विकासशील देशों में सांस्कृतिक आक्रमण करना। लोगों को लूभानेवाली बाज़ार तंत्र उनके इस चाल का एक सशक्त कदम है। इस तरह वह दिमागों का उपनिवेशीकरण चाह रहा है। इसका लक्ष्य भी उनकी आर्थिक सशक्तीकरण ही है। लेकिन यह आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन मूल्यों पर होने वाला सबसे बडा प्रहार लग रहा है। वैश्वीकरण की अर्थनीति से प्रभावित समाज अब पैसों के बल पर चल रहा है। यहाँ कालाबाज़ारी, मुद्रास्फीति, काले धन को वैध बनाना आदि अनैतिक कार्यों में वृद्धि हुई है। यही नहीं यह समय जो है बाज़ार का समय है। बाज़ार ही ईश्वर है। भूमंडलीकरण एवं वैश्वीकरण का मुख्य हथियार बाज़ार है यहाँ की सभी व्यापार व्यवस्था अनैतिक है। सबसे बड़ा व्यापारिक वह है जो मुफ्त में मुफ्त देकर लोगों के साथ छलावा कर रहे हैं। जो मनुष्य के इंन्द्रियों को सबसे अधिक लुभाता है एवं गुलाम बनाता हैं वह सबसे बडा प्रबंधक हैं। मनुष्य का ईमान भी अब के बाज़ार में बिक रहा है। विडंबना यह है कि स्वयं मनुष्य इस बाज़ार तंत्र से अनजान है। यह आर्थिक जीवन-मूल्यों की सबसे बडी त्रासदी है।

5.1.3 राजनीति और अर्थनीति

इक्कीसवीं सदी का भारत इस हालात से गुज़र रही है कि यहाँ की औसत जीवाशा अब लगभग 60 वर्ष की है। अन्य देशों की तुलना में भारत को जीवाशा संवृद्धि की ओर ध्यान देना बहुत ज़रूरी है। इसी प्रकार प्राथमिक शिक्षा, पोषण स्तर, रोग प्रतिरोध, सामाजिक सुरक्षा एवं सामान्य उपभोग स्तर

में भी भारत को वृद्धि चाहिए थी। तीसरी दुनिया कहे जानेवाले देशों में इन अनिवार्य आवश्यकताओं की कमज़ोरी दिखाई दे रही है। जबकि चीन में 78 और अन्य गरीब देशों में 55 प्रतिशत है। गरीबी, अज्ञानता, बीमारियों तथा अवसरों की विषमताओं को मिटाने में भारत की उपलब्धियाँ अन्य देशों की तुलना में बहुत ही कम रह गई हैं। कहने का ताप्तर्य यह है कि इन सबका प्रभाव देश की अर्थ व्यावस्था पर पड़ सकता है। देश का आर्थिक विकास मानव हितकारी कामों के ज़रिए होना अत्यंत आवश्यक है। यही आर्थिक जीवन मूल्यों का प्रमुख मुद्धा है। इसके लिए राजनीति का अर्थनीति पर नियंत्रण होना भी ज़रूरी बन जाती है। धन का संचय विभिन्न मार्गों से हो सकता है। देश का सही विकास धन संचय के सही एवं नैतिक मार्ग की माँग करता है। इसके लिए सुशिक्षित, स्वस्थ जनता की ज़रूरत पड़ती है। राज्य के आर्थिक विकास एवं आर्थिक समृद्धि इन दोनों का दायित्व राजनीति के ऊपर सौंपा गया है।

आर्थिक विकास एवं आर्थिक समृद्धि :- आर्थिक विकास किसी देश के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक गुणात्मक एवं मात्रात्मक सभी परिवर्तनों से संबंधित है। इसका प्रमुख लक्ष्य कुपोषण, बीमारी, निरक्षरता एवं बेरोज़गारी को खत्म करना होता है। आर्थिक समृद्धि का मतलब देश के सकल घरेलू उत्पाद, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि और गरीबों की जनसंख्या में कमी से होती है। जबकि आर्थिक विकास से आशय किसी देश की आधारभूत संरचना की तीक्षणता सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों से होता है। आर्थिक विकास के अंतर्गत आनेवाली एक लघु धारणा है आर्थिक समृद्धि। आर्थिक समृद्धि उत्पादन की वृद्धि से संबंधित है, आर्थिक विकास का संबंध देश के सर्वांगीण विकास से है। आर्थिक

विकास का संबंध विकासशील देशों से माना जाता है जबकि आर्थिक संवृद्धि का संबंध विकसित देशों से होता है।

भारत की अर्थ व्यवस्था की वृद्धि मुख्य रूप से सेवा क्षेत्र पर निर्भर है। कृषि क्षेत्र का योगदान हर साल घटता जा रहा है। वर्तमान समय में भारत के प्रति व्यक्ति आय 92,231 रूपये प्रति वर्ष हो गई है। कृषि, वानिकी और मात्सिकी क्षेत्र को आर्थिक भाषा में प्राथमिक क्षेत्र कहा जाता है। भारत की अर्थ व्यावस्था में इस क्षेत्र से होनेवाली आय साल दर साल घटती जा रही है। इसका कारण यह है की भारत की अर्थव्यवस्था अब कृषि आधारित अर्थव्यवस्था से सेवा क्षेत्र आधारित अर्थव्यवस्था बनने की ओर अग्रसर है। वर्तमान में भारत के सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 14% इसी क्षेत्र से आता है। हाल की वर्षों में इसकी वृद्धि दर इस प्रकार है ।

औद्योगिक वृद्धि दरः यह भारतीय अर्थ व्यवस्था का द्वितीय क्षेत्र है। अब भारत की अर्थ व्यवस्था का लगभग 16% इसी क्षेत्र से आता है। सरकार का लक्ष्य इस आय को 25% करने का है साथ ही इससे कम से कम 100 मिलियन रोज़गार भी मिलने की उम्मीद की जा रही है।

मुद्रास्फीति की दरः- वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों में लगातार होनेवाली वृद्धि को मुद्रास्फीति की स्थिति कही जाती है। इसमें वस्तुओं और सेवाओं की माँग अधिक परंतु पूर्ति कम होती है। इस कारण इसका मूल्य बढ़ता जाता है। बढ़ती मूद्रास्फीति की दर उपभोक्ताओं को हानि पहुँचाती है जबकि उत्पादकों को फायदा होती है।

चालू खाता घाटा :- वर्तमान स्थिति में वर्ष में निर्यात और आयात भुगतान के बीच के अंतर को चालू खाता घाटा कहते हैं। जब किसी देश को निर्यात से होनेवाली आय, आयात भुगतान से कम हो जाती है तो उस देश का चालू खाता घाटा बढ़ता जाता है। भारत में चालू खाता घाटा को बढाने में सोने (Gold) और पेट्रोलियम उत्पादों की बहुत बड़ी भूमिका है। ज्ञातव्य है कि भारत दुनिया का सबसे बड़ा सोना (Gold) आयातक देश है, साथ ही भारत अपनी ज़रूरत का करीब 80% पेट्रोलियम आयात करता है।

भारत की 134 करोड़ जनसंख्या में से केवल 1.5% लोग ही आयकर का भुगतान करते हैं साल दर साल इस संख्या में वृद्धि हो रही है। भारत सरकार ने 1 जुलाई 2017 से पूरे देश में वस्तु एवं सेवा कर लागू करने का फैसला किया है। इसके लिए कई मानदण्ड भी निर्धारित हुआ है लेकिन सच्चाई यह है कि अब छोटे व्यावसायिक से लेकर ऊपर तक के लोग जनता पर कर के नाम पर भारी रकम का कर वसूल कर रहे हैं। फर्जी जी.एस.टि नम्बर बिल पर छाप कर ग्रहकों से कर वसुल कर रहे हैं।कर के आने के बाद अब हर सामान और सेवा पर सिर्फ एक टैक्स लगेगा यानी Vat, Exise, सर्वीस टैक्स की जगह एक ही टैक्स। लेकिन इन सब कार्यों से अनजान लोग याने आम नागरिक व्यावसायिकों के जाल में फँस रहे हैं। अर्थ नीति पर नैतिकता बरकरार होने केलिए लोगों की चरित्र शुद्धि एवं सोच में बदलाव की ज़रूरत है।

किसी भी देश की अर्थ व्यवस्था आय एवं व्यय पर आधारित होती है। इससे परे होकर शिक्षा, रोज़गार अमीरी आदि भी आत्मनिर्भर देश की अर्थ व्यवस्था को सुदृढ़ बनानेवाले तत्त्व हैं। भारत के संदर्भ में पिछडेपन की अवस्था में वांछतीय परिवर्तन की ज़रूरत है। तभी यहाँ की सभी जनता अपनी आवश्यक ज़रूरतों के निर्वाह में सक्षम बन पाएगा। श्रमिक, दलित, नारी सब अपमानजनक एवं शोषित अवस्था से ऊपर उठ जाएगा। विधवा, नारी, बच्चे, भिखारी, रोगी, गरीब - बेरोज़गार जनता की ज़िन्दगी की क्लिष्टताएँ अर्थ व्यवस्था को उजाडनेवाली विषमताएँ हैं। यहाँ समाजवादी अर्थनीति का होना सबसे ज़रूरी है। तो इन सबकी सुरक्षा की अनिवार्यता भी देश के आर्थिक जीवन - मूल्यों की पुनः स्थापना की माँग बन जाती है। इनसे बचने केलिए बेरोज़गारी भत्ता, स्वास्थ्य बीमा, वृद्धावस्था पेंशन की सुविधा भारत में कायम है। लेकिन बेरोज़गारी भत्ता केवल शिक्षित वर्गों को ही मिल रहा है। जो श्रमिक मज़दूर एवं कृषक है उनकी स्थिति में इनसे कोई बदलाव नहीं आया है। आर्थिक जीवन मूल्य पर चर्चा इसलिए आवश्यक बन गयी है कि आजकल जो विकास चल रहा है, वहाँ आर्थिक वृद्धि, वित्तीय घाटा, सब्सीडी, मूद्रास्फीति, शेयर बाज़ार, भूमंडलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण, विश्वबैंक सबकुछ आ जाते हैं लेकिन कहीं भी आम आदमी नहीं। उनकी ज़रूरतें नहीं। आजकल की सबसे बड़ी विसंगति एवं विडंबना है कि अब अर्थ नीति को राजनीति से अलग रखने की माँग को काफी स्वीकार्यता मिल रही है। इससे बहुराष्ट्रीय कंपनीयों के पूँजी निवेश में काफी सहायता मिल रही है और देशी जनता को नुकसान हो रहा है। राजनीति के

माध्यम से ही आम जनता की इच्छाओं और आकांक्षाओं की सामूहिक अभिव्यक्ति होती है। अगर अर्थ नीति को राजनीति से मुक्त करने की बात पर ज़ोर दिया जाएगा तो अर्थ नीति से आम जनता वंचित रह जाएगी। इसपर समकालीन हिंदी कविता के प्रतिष्ठित कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से काफी चर्चाएँ उपस्थित की हैं - अगे के उपशीर्षकों में इसका विस्तृत परिचय दिया गया है।

5.2 आर्थिक असमानताएँ

आर्थिक असमानताएँ जीवन मूल्यों की च्युति के प्रमुख कारण बन जाती हैं। मनुष्य जीवन जब प्रगति करने लगा है तब से लेकर उसके जीवन की आवश्यकताएँ एवं आकांक्षाओं की पूर्ति केलिए वह आर्थिक - व्यवहार में प्रवेश करने लगा है। अर्थ के प्रति लालसा मानव जीवन की जड़ों को हिला देगा, प्राकृतिक संपदाओं को नष्ट करेगा। हमारे यहाँ के सेवा स्तर में पहले कुछ नैतिक मूल्य काम कर रहा था अब वह भी अर्थ केंद्रित बन गया। परिणामतः शिक्षक, डॉक्टर, वकील, इंजीनीयर, वैज्ञानिक, नेता, नर्स, पुलिस, कृषक, मज़दूर सबके सब पैसों के पीछे भाग रहे हैं। आज भोगवाद का उत्तरोत्तर विकास हुआ है। इसका प्रभाव किशोर, युवा, प्रौढ़, वृद्ध सबके ऊपर पड़ रहा है। पहले मनुष्य अपने आचरण के प्रति सजग था। अब भोग की अदम्य लालसा से प्रेरित होकर कौन किसके साथ क्या कर बैठता है यह भी जानना मुश्किल हो गया है। हमारे विशाल जन समुदाय को जिन बातों पर क्रोध एवं घुणा उत्पन्न होनी चाहिए उन्हीं बातों पर उनकी प्रतिक्रिया यह बन जाती है कि आजकल यह सब होना स्वाभाविक है। यहाँ इस भूमिका को बाँधना इसलिए ज़रूरी समझती हूँ कि आगे के उपशिर्षकों में आर्थिक जीवन मूल्य संबंधी जिन मुद्धों की चर्चा

की गई है वह सब आर्थिक असमानता के कारण पैदा हुई विद्रूपताएँ हैं।

यहाँ इस अध्ययन याने जीवन मूल्यों की जो परिकल्पना की गई हैं इसमें अर्थ को भी विशेष महत्त्व प्राप्त है। आदान- प्रदान की व्यवस्था ने सबके लिए एक मूल्य निर्धारित किया है। मनुष्य अपने वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन को इस मूल्य व्यवस्था याने अर्थव्यवस्था के मुताबिक चलाने को मज़बूर है। वित्त के स्रोत तक पहूँचना मानव जीवन की बाकी के समान धर्मी अनिवार्यता है। कभी-कभी आर्थिक असमानताएँ व्यक्ति से उसका अवसर छीन लेता है, सारी खूबीयों के बावजुद भी वित्त पर होनेवाले प्रतिबधों के कारण प्रतिभा संपन्न भी पीछे रह जाता है तो इसके लिए कारण बनी आर्थिक असमानता सबसे बडी विपत्ति एवं जीवन मूल्यों के पतन की ओर ले जानेवाली है। अकसर आर्थिक रूप से पिछड़े रह गए लोगों पर ही भारी विपत्तियाँ होती है। बालमज़दूरी, वेश्यावृत्ति यह सब इसके लिए उदाहरण है। इसने लोगों को प्राथमिक शिक्षा जैसे मूलभूत संवैधानिक अधिकारों से भी वंचित होने दिया। जो समाज सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत नहीं उस समाज में नैतिकता का बचाव असंभव है। मानवाधिकारों में प्रतिबंध लगानेवाली प्रमुख मुद्धा है आर्थिक असमानता।

भारत जैसे जनतांत्रिक देश में आजकल अमरीका जैसे अतिविकसित देशों की अर्थनीति चल रही है। पाश्चात्य देशों में विकास का दर तीव्र गति प्राप्त की है यह कहते हुए सबका सब वाहवाही दे रहा है। लेकिन इस परमार्थ से भी हमें मूँह नहीं मोड़ना चाहिए कि वहाँ भी है भूखे, नंगे, भिखमंगे लोग। बस वहाँ की नीति उनके साथ अनीति एवं उपेक्षा का दृष्टिकोण रखती है। आजकल भूमंडलीकरण उदारीकरण की नयी अर्थव्यवस्था में भारत ने भी अपनी जनता

के साथ यही रवैया अपनाया है। इस पर कवि शिवकुमार श्रीवास्तवजी ने अपनी कविता 'सुखाः एक प्रतिक्रिया' में कहा है -

"पहले देश में कुछ भिखारी थे
तब सब को चिंता थी -
कि देश का यह कलंक
कैसे दूर करें?
कानून से? आंदोलन से? शिक्षा से
कैसे मुक्ति मिले देश को भिक्षा से!
परंतू अब इस पर
सोचना भी बंद कर दिया है लोगों ने!
चेतना को डस लिया है
किन परदेशी रोगों ने?
नंगी और भूखी पीढ़ियाँ हैं
खुद अपने मज़ार तक जाने की
खण्डित सीढ़ियाँ है!
.....
.....
कहीं कोई विद्रोह नहीं हैं।
आज सारा देश भिखारी है।
भीख माँगने की पद्धति सरकारी है।" [1]

यही आज का यथार्थ है। जिस देश की जनता अपनी आवश्यक सुविधाओं से वंचित है वहाँ की जनता से जीवन मूल्यों की माँग कैसे की जा सकती है। यहाँ कवि मूल्यों के बचाव में अर्थ एवं राजनीति की महनीयता को व्यक्त कर रहा

1. शिवकुमार श्रीवास्तव - तुम ऋचा हो -पृ -106

है। आर्थिक असमानताओं को दूर करने केलिए अर्थनीति पर राजनीतिक हस्तक्षेप अनिवार्य है।

औद्योगीकरण के आधुनिक युग में जीनेवाले प्रजातंत्रीय व्यवस्था के भागीदार भारतीय जनता, जहाँ स्वतत्रंता, समता एवं भाईचारे के नारे गूँजती है वहाँ अब भी अशिक्षित, दमित, दलित, गरीब एवं पीड़ित जन समुदाय मौजूद है। यहाँ न उनका अपना घर है न उनके बच्चे को पढ़ने की सुविधा है। कम से कम उन्हें पेट भर खाने तक उपलब्ध नहीं। राजनीतिज्ञ फिर भी कह रहे हैं हम प्रगति कर रहे हैं विकास की गति में दौड़ रहे है। असमान अर्थ व्यवस्था के बारे में कवि उदय प्रकाशजी ने 'एक लिखी जा रही कविता का पहला ड्राफट' नामक कविता में लिखा है -

"एक - एक ईंट जोडी है
मिट्टी दुख बालू आँसू सिरमिट पसीना बदहवासी को
अपने जीवन में सानते हुए गारा बनाकर
अभावों के बेचैन उनींदे रंदे चलाए हैं हमने
शीशम - सागौन के बेशकीमती नक्काशीदार
चौखट - दरवाजों पलंगों - सिंहासनों पर
इसी राजधानी की किसी भी भाषा और
भवन की सीढ़ियों पर झुककर तो देखो जरा
हम, हमारे पुरखे, हमारी संतानें बाजाब्ता दफन हैं यहाँ
उन्हीं के ऊपर बूट धरते कामयाब लोग जाते हैं
संसद और शॉपिंग माँल
अकादेमी और संस्थान, विश्वविद्यालय और बिड़ला मंदिर।" [1]

1. उदय प्रकाश - एक भाषा हुआ करती है - पृ -13

हमारे यहाँ की अर्थ व्यवस्था धनवानों को खूब धन- दौलत देनेवाली और गरीब एवं कामकाज को भूखे रहने को विवश करनेवाली है। जिस देश की जनता ज़िंदगी की आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त होने में असमर्थ है वहाँ का सरकार एकदम गिरा हुआ होता है और ऐसे समाज में आर्थिक जीवन मूल्यों का संरक्षण होना कठिन है।

आर्थिक असमानताएँ इतनी बढ़ गयी है कि यहाँ पैसे न होने पर भूखे रहना पड़ता है। जिसके पास पैसा है उनको यहाँ जीने का अधिकार है मन पसंद सबकुछ खाने एवं सब कुछ करने का अधिकार है। बाकी लोगों के साथ अर्थात् जिनकी जेब खाली है वह धोखा खाने को जन्मा है। समाज से, संस्कृति से, राजनीति से, कवयित्रि अनामिकाजी की कविता 'धोखा' इस आर्थिक जीवन मूल्यों की च्युति को दर्शने की ओर प्रयत्न कर रही है-

"किस्सा चलता है कि कोई था
जिसे नहीं था माछ मांगुर खरीदने का पैसा!
नदी किनारे भात लेकर वह जाता था बैठ
और लहर पर उछलती मछली इंगित कर
खाता था एक - एक कौर उठाकर स्वाद से
अपने मन में बुदबुदाता हुआ -
.....
.....
तो क्या वह खुद को ही देता था धोखा?
कल्पना की जीभ का भला क्या मुकाबला!
भूखे ही ऐंठ रहे लोगों को भी
खाने को मिल जाता है धोखा!" [1]

1. अनामिका - खुरदुरी हथेलियाँ - पृ -162 - 163

हमारे भारतीय संविधान ने आर्थिक जीवन - मूल्यों को बनाये रखने केलिए हर किसी को ज़िंदा रहने का समान अधिकार दिया है। लेकिन वास्तविकता यही है कि अब वे ही ज़िंदा रह सकते हैं जिनके पास पैसा है।

भारत की अर्थनीति इतना विकराल है कि यहाँ पैसा बटोरने केलिए लोगों को अपने जीवन अनैतिक तौर तरीकों के साथ जीना पड़ रहा है। विधि नियम इतने होकर भी यहाँ अफीम की खेती चलती है, देह का धंधा चल रहा है। देश का विकास एवं समृद्धि अनैतिक एवं अमानवियता से नहीं बल्कि नैतिक आचरणों से होना चाहिए। उसमें ही देश की भलाई है। चन्द्रकांत देवतालेजी की 'इस पठार पर' नामक कविता में कवि कहते हैं -

"अफीम के खेतों के इलाके में बाँछेड़ औरतें
अपने बोदे पतियों की मौज़ूदगी में
देह का धंधा करती हैं
और बीड़ी केलिए माचिस माँगने के बहाने
मर्द धुँधलके में डूबी सड़कों पर
अपनी औरतों केलिए पानी के भाव
ग्राहक ढूँढते हैं।" [1]

जिनके पास ज़िंदगी की आवश्यक सुविधाएँ नहीं है उनका दिमाग अधार्मिक अर्थ प्राप्ति की लालसा में पड़ जाती है। आर्थिक असमानता के कारण भारत भर की गलियों में रहनेवालों की ज़िंदगी में कुसंस्कार चारित्रिक अनैतिकताएँ फैल गयी है और यह विश्व मानवीय संस्कृति केलिए खतरनाक है।

आर्थिक असमानता के विकराल चेहरे को दर्शानेवाली देवतालेजी की

1. चन्द्रकांत देवताले - उसके सपने - पृ - 49

कविता है 'थोडे से बच्चे और बाकी बच्चे' इसमें हमारे समाज की अर्थ व्यवस्था का सच्चा चेहरा निखर रहा है। कवि कहते हैं-

" एक मेज़ है
सिर्फ छः बच्चों केलिए
और उनके सामने
उतने ही अण्डे उतने ही सेब हैं
एक कटोरदान है सौ बच्चों केलिए
और हज़ारों बच्चे
एक हाथ में रखी आधी रोटी को
दूसरे से तोड़ रहे हैं।" [1]

हमारे राजनीतिज्ञों का बयान है हमारे लिए सभी जनता एक समान है। सबको सबकुछ बराबर मिलेगा। तब भारत के हज़ारों बच्चे ऐसी बदहालत में क्यों रह रहे हैं। जिस समाज में आर्थिक असमानता मौजूद है वहाँ विकास का होना सपना रह जाता है।

आर्थिक असमानता के समकालीन परिवेश में आम जनता का जीना मुमकिन नहीं हो सकता। विज्ञान की बढ़ती जड़ें साधारण लोगों तक पहुँचाने में हमारा सरकार भी एकदम असफल बन गया है। आर्थिक असमानता के जाल में फँसी जनता की विडंबनाओं को शब्दबद्ध कर रहा है कवि इन पंक्तियों के ज़रिए
-

"यह जो विज्ञान है, आविष्कार और खोजें नई-नई
इन पर तो मेरा इज़ारा नहीं
कितना भी हो बुखार नहीं घुस सकता होटेल जैसे आस्पताल में

1. चन्द्रकांत देवताले - उसके सपने - पृ - 68

जहाँ आ गई है इलाज की सबसे नई तकनीक

.....

.....

यही है मेरा समाज

छिनती जा रही है जिसमें

एक मनुष्य केलिए खडे होने की भी जगह।" [1]

आर्थिक असमानता के कारण ज़िंदगी की अवश्यक सुविधाओं से वंचित रह गए लोगों का आत्मालाप प्रस्तुत पंक्तियों में मुखरित है। अर्थ और जीवन मूल्य किस तरह जुडे हैं यह भी यहाँ स्पष्ट है।

असमान अर्थ व्यवस्था के बुरे प्रभाव जो आजकल के समाज को ग्रस लिया है इसका संवेदनात्मक चित्रण ज्ञानेन्द्रपतिजी की 'विज्ञान - शिक्षक से छोटी लड़की का एक सवाल' नामक कविता में उपलब्ध है। कवि यहाँ लड़की के मूँह से असमान अर्थ व्यवस्था पर सवाल उठाते हैं-

"एक बहुत छोटा - सा सवाल पूछा था विज्ञान - कक्षा की सबसे छोटी लड़की ने

पूछा था कि सारे आदमी जब

एक - से आदमी हैं

जल पर और स्थल पर एक साथ चलकर ही

बने हैं इतने आदमी

तो एक आदमी अमीर

एक आदमी गरीब क्यों है

एक आदमी तो आदमी है

दूसरा जैसे आदमी ही नहीं है...।" [2]

---

1. कुमार अंबुज - अनंतिम - पृ - 61 - 62

2. ज्ञानेन्द्रपति - कवि ने कहा - पृ - 18

यही भारतीय अर्थ व्यवस्था की सबसे बडी कमी है। यहाँ के बहुसंख्यक लोग गरीब की संज्ञा से अभिहित होने केलिए ही बने हैं। फिर भी कहते हैं कि भारत विकासशील है। आज की सबसे बड़ी विडंबना है असमान अर्थ वितरण, हमारे समाज में तीन तबके के लोग रह रहे हैं। एक है अमीर दूसरा मध्यवर्ग तीसरा गरीब। अमीर तो अपनी पूँजी को और भी बढाने के क्रियाकलापों में लगे रहते हैं और इसकेलिए दूसरों को तकलीफ देते रहते हैं। मध्यवर्ग सदा अपनी आकांक्षाओं एवं इच्छाओं की पूर्ति केलिए उदार ले लेकर गुज़ारा कर रहा है। जीवांत तक उन्हें कर्ज से मुक्ति मिलती ही नहीं। गरीब तो रोज़ी रोटी की तलाश में भटकनेवाले हैं 'उधारी लाल' नामक कविता में कवि पवन करणजी का कहता है-

"वैसे उसका असली नाम मुरारी लाल है
लेकिन सबकी सहमति से मैंने उसका नाम
उधारी लाल रख दिया है, हालाँकि
दफ़तर में ऐसे एक - दो शख्स और भी हैं
लेकिन उसकी टक्कर का कोई फिर भी नहीं
और इस उधारी लाल की तर्ज पर
दफ़तर में उसे कर्ज देनेवाले कुछ ब्याजी लाल भी है।" [1]

जब तक हमारा समाज उधारी लालों एवं ब्याजी लालों से मुक्त नहीं होंगे तब तक आर्थिक जीवन मूल्यों की स्थापना नहीं होगी।

गरीबी, बेरोज़गारी, रोग- शोकग्रस्तता आदि से पीड़ित हज़ारों लोग है हमारे भारत में। इनमें से आधिकांश लोग गंदी गलियों मे रहनेवाले है। आर्थिक

---

1. पवन करण - अस्पताल के बाहर टेलीफ़ोन - पृ - 33

असमानता वाले समाज में न ही ऐसी जनता का उद्धार संभव है और न ही आर्थिक जीवन मूल्यों का संरक्षण।

5.3 गलत अर्थनीति के प्रति सजगता

हमारे यहाँ मौजूद आर्थिक असमानताएँ सरकार की गलत अर्थनीति के कारण बढ़ रही हैं। जहाँ एक ओर कुछ प्रतिशत जनता असीम सुविधाओं में जी रहे हैं वहाँ उससे भी ज़्यादा प्रतिशत लोग गरीबी एवं असुविधाओं के घेरे में जी रहे हैं। अगर मनुष्य को मनुष्योचित जीवन स्तर प्राप्त नहीं तो उनसे मनुष्योचित व्यवहार की कामना भला कैसे की जा सकती है? समाज का एक हिस्सा अपने - आपको पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर समझ रहा है। उनके पास अकूत संपत्ति है, वे अपने भोजन, सुरक्षा, शिक्षा, न्याय आदि केलिए सरकारी सेवा का इंतज़ार नहीं करते। जबकि आबादी के 78 प्रतिशत लोग रोजी रोटी कमाने में भी असफल बने है। आज की आर्थिक असमानता से जुझने केलिए आर्थिक विकास मात्र की नहीं बल्कि राजनीति की सहायता भी अनिवार्य है। तभी जनता जागृत होगी। जनता में जनशिक्षा, जन संगठन एवं जन आंदोलन की प्रेरणा भराने में साहित्य भी सहायक सिद्ध हुआ है। राजनीति के अंतर्गत, जन शिक्षा, सुरक्षा, प्राकृतिक संपदाओं की रक्षा, जनसंख्या नियंत्रण, परमाणू निरस्त्रीकरण, प्रदूषण नियंत्रण, अंतरराष्ट्रीय संबंध, सैन्य शक्ति का परिचालन, भाषायी नीति, कृषि नीति आदि केलिए बहुत सारी योजनाएँ बनी है जिसका संबंध जन कल्याण एवं आर्थिक समानता से है। जब राजनीति समन्वयता, समता एवं उदारता के मूल्यों पर अधिष्ठित होगी तब आर्थिक समानता भी कायम रहेगी।

हम आजकल एक ऐसी संस्कृति में जी रहे हैं जहाँ सबके केंद्र में धन है।

वही सबका नियामक है, लेकिन कवि इस नियामक को धर्म पर आधारित, नैतिकता पर आधारित देखना चाहते हैं। इसलिए अपनी कविता में अर्थ को वह भूत के नाम से संबोधित करते है। समकालीन जीवन में सारी की सारी अनैतिकाताएँ इसी धन द्वारा निर्मित है। उसको पाने की लालसा ने युद्ध एवं अमानवीय हत्याओं को प्रोत्साहन दिया। कवि प्रभात त्रिपाठी ने अपनी कविता 'भूत के बारे में' में कहा है-

"रास्ते में बच्चे ने अचानक
उत्साह से बताया
कि सामने के पीपल के पेड़ में
एक भूत रहता है;
मैंने उससे धीरे से कहा
भूत मेरे सीने की करीब की जेब में हैं बेटे!
झूठ!
वहाँ तो पैसा है
दस का सिक्का
मैं एक बेहद हल्की बात करना चाहता था,
वही तो असल भूत है बेटे
और जिन भी और जादूगर भी।" [1]

प्रस्तुत कविता में कवि ने पापा के मुँह से बच्चे को धन केलिए हुए युद्धों की भीषणताओं के बारे में भी समझाया है। कवि यहाँ धन एवं अर्थ केलिए अधार्मिक एवं अनैतिक तरीकों को अपनाने का विरोध करता है साथ ही यह भी साबित कर देता है कि धन लोलुपता मनुष्य को अधर्मी एवं अनुशासनहीन बनाता है।

1. प्रभात त्रिपाठी - नहीं लिख सका मैं - पृ - 40

कुँवर नारायणजी की कविता है 'लूट-पाट आज भी जारी है' इसमें कवि ने अर्थनीति के अंदर होनेवाली अनैतिकताओं का पोल खोल दिया है। एक देश के संपूर्ण विकास केलिए आर्थिक विकास एवं आर्थिक समृद्धि सबसे महत्वपूर्ण है। आर्थिक विकास प्राप्त समाज से ही आर्थिक समृद्धि की माँग की जा सकती है। स्वयं देश की जनता भूख एवं दीनता के शिकार है, तथा देश आर्थिक पराश्रय से मुक्त नहीं है तो मूल्यों का संरक्षण भी वहाँ नहीं हो पाएगा। पहले तो राजा का धर्म था कि वह कुछ भी करके अपने देश की जनता को सुरक्षित रखें। लेकिन अब शासकों द्वारा देश की जनता के सबकुछ लूटकर विदेशियों के हाथों पहूंचाने की होड़ चल रही हैं। कवि का कहना है -

"लूट कर लाई गई दौलत से महमूद ने
गज़नी के लूटे सौदागरों के नुकसान की
उदारता से भरपाई की ।
लूटें आज भी ज़ारी है ...
अरबों तक पहूँचेगी
अगर डालरों में आँकी जाए
उस लूट और पाट की कीमत।"[1]

यही भारतीय अर्थनीति की सच्चाई है छोटे छोटे नेताओं से लेकर बडे-बडे मंत्रियों तक की दौलतों का हिसाब लिया जाए तो समझ सकेंगे इनकी आमदनी एवं इनके पास रखी गयी दौलतों के बीच का भारी अंतर। अगर इस स्थिति में सुधार आएँगे तो देश के हर एक नागरिक अपने जीवन की अनिवार्य सुविधाएँ प्राप्त कर पाएँगे। भारत में हवाला लेनदेन एवं money laundering के पीछे नेताओं का ही हाथ है। भले ही देश विदेशों के गुलाम हो लेकिन हम गुलाम नहीं

1. कुँवर नारायण - हाशिए का गवाह - पृ - 35

बनेंगे के झूठे सपने देखकर ये लोग काले धन को वैध बनाने की कोशिश में लगे रहते हैं। हर साल वैध बनाए जानेवाले काले धन की राशी अरबों में है। यह सरकारों केलिए, देश की अर्थ व्यवस्था एवं जनता केलिए महत्वपूर्ण नीति संबंधी चिंता का विषय है।

साहित्य मनुष्य को जीवन के सार तक ले जाने वाला है। आजकल की अनैतिक अर्थनीति के जाल में फंसकर वह भी एकदम मूल्यहीन बन चुका है। साहित्य भी बिकाऊ एवं धनोपार्जन का माध्यम बन चुका है। राजेन्द्र कुमार वर्मा जी ने अपनी कविता 'काया - कल्प' में कहा है -

"वे सब एक हैं
जो नहीं थे हो गये
एक ही मत के अनुयायी
एक ही देवता
देव पिण्डों के पूजक
आत्मसाधक लोकधर्मी
रचनाओं में पूँजी बिखेरते
हाथों से बटोरते।" [1]

अब अर्थ ही मानव जीवन की केंद्र बिंदू है। अर्थ को छोड़कर बाकी सब कुछ व्यर्थ बन गया है। धन बटोरना आज मानव जीवन का चरम लक्ष्य बन गया है। अब उनकी खुशी सिर्फ और सिर्फ अर्थ पर निर्भर है।

भारतीय अर्थनीति आरक्षण पर आधारित है। इसमें कौन गरीब एवं कौन अमीर है यह फैसला जाति के आधार पर हो रहा है। समाज में अनेकों लोग

1. राजेन्द्र कुमार वर्मा - सूर्य बनकर उगना है - पृ - 27

ऐसी बदहालत में जी रहे हैं जो ज़िदगी की आवश्यक सुविधाएँ भी पा नहीं सकते हैं। 'गुरुदक्षिणा' नामक अपनी कविता में लीलाधर मंडलोईजी ने बताया है -

"नीतियाँ इतनी कागज़ी कि जाति भेद में डूबीं
सेहतमंद रहने केलिए घरेलू बजट नाकाफ़ी
सोचते कभी जो इसके बारे में
घेर लिया शयर बाजार की रक्ताल्पता ने
और संसद हुई अभिजनमुखी।" [1]

यही आज की अर्थनीति की वास्तविकता है। इसमें रहने केलिए जन्म से गरीब होना पड़ता है, जीवन से नहीं, जो जाति में नीचे हैं उनको सरकार की ओर से सारी सहायताएँ मौजूद हैं। बाकी के लोग सरकार के हिसाब से अमीर है। आज की अर्थनीति विदेशी पूँजी पर निर्भर होने के कारण जाने अनजाने हमारे समाज के सारे नागरिक एवं हमारा देश अमरीका जौसे अतिविकसित शक्तियों के गुलाम है।

भारत की अनैतिक अर्थनीति का पोल खोलनेवाली कविता है 'प्यारा हिंदुस्तान' इसमें कवि सुरजपाल चौहानजी भारत में हो रही मूल्य च्युति में अर्थतंत्र याने धन तंत्र एवं राजनीति की भूमिका को दर्शाया है।

"हत्याएँ, चोरी, ठगी, लूटमार
और नेता मालामल
जातियों का जाल
विदेशी कर्जे से
डूब चुका
बाल-बाल।

1. लीलाधर मंडलोई - देखा - अदखा - पृ - 32 - 33

.....

.....

देश का नागरिक

विदेश का नित करता गुणगान

हाँ, हाँ बस यही है

मेरा हिंदुस्तान!

प्यारा हिंदुस्तान!" [1]

राजनीतिज्ञ एवं विदेशी पूँजीपतियों ने भारत जैसे विकासशील देश में आर्थिक कमज़ोरी बरकरार रखना चाहा है। यह समझते हुए भी हर एक भारतीय नागरिक उनके ही गुणगान में मुग्ध रहते हैं। समकालीन भारतीय अर्थनीति की बदहालत उपर्युक्त पंक्तियों में दृष्टव्य है।

हमारा राज्य विकास कर रहा है। लेकिन यह विकास एकतरफा विकास है। समाज में ऐसे भी कई लोग हैं जिनकी उपेक्षा हुई है समाज द्वारा, सरकार द्वारा तो ऐसे अनेकों लोगों को कौन सी सूची में रखता है हमारा सरकार। यह उनकी नियति बन जाती है कि यूँ ही भूखे नंगे मरे। लीलाधर मंडलोईजी की 'नया बजट' नामक कविता इसपर कहती है-

"जब मुदित हो रहे थे

नये बजट पर

लोग

एक भूखा कुत्ता

पागल की गोद में

रो रहा था।"[2]

---

1. सूरजपाल चौहान - क्यों विश्वास करूँ - पृ - 37

2. लीलाधर मंडलोई - लिखे में दुक्ख- पृ - 25

इस तरह की अर्थनीति चलनेवाले देश में आर्थिक विकास का होना नामुमकिन है। यहाँ कितने भी सरकार आये हैं उन सबके बजट में विकास योजनाएँ एवं गरीबी, बेरोजगारी आदि को घटाने की विभिन्न पद्धतियाँ एवं उनके लिए धन की व्यवस्था भी मौजूद रहती है लेकिन इन उपेक्षितों के जीवन में कोई सकारात्मक परिवर्तन हम नहीं देख पाएँगे। अनैतिक अर्थनीति के जाल में फँसे हुए लोगों में यहाँ के किसान भी आते हैं। कर्ज से कभी भी मुक्ति न मिलनेवाले किसान आत्महत्या कर देता है इसकी कई वजहें हैं। सरकार द्वारा कर्ज पर छूट देने पर उनकी ज़िदगी में से समस्याएँ दूर नहीं हो रही है। किसानी के सिवा और कोई काम वे नहीं जानते हैं, तो जीवन में आगे बढ़ना मुश्किल बन जाता है। 'अपमान' नामक कविता में कवि लीलाधर मंडलोईजी कह रहे हैं-

"एक किसान और मर गया
इसे आत्महत्या कहना
अपमान होगा
मरने के समय
वह बैंक का दरवाज़ा खटखटाता रहा था" [1]

देशी खेती को नुकसान देने वाली विभिन्न योजनाएँ आजकल बन रही हैं। कृत्रिम बीज एवं खाद के ज़रिए अनियंत्रित लाभ कमानेवाले बहुत सारे पूँजीवादी उद्योगपतियों के सामने साधारण किसान का टिकाव मुश्किल बन जाता है।

अर्थ जीवन की अनिवार्यता है। जब इसको पाने का उचित मार्ग मानव ढूँढ लेता है तब वह मानवकल्याणकारी जीवन मूल्य के रूप में परिणत होता है। आजकल सेवा क्षेत्र भी मानव कल्याणकारी रूप बदल कर सिर्फ स्वार्थ पर

1. लीलाधर मंडलोई - लिखे में दुक्ख- पृ - 52

केंद्रित हो गया है। अब सबकुछ बिकाऊ बन चुका है - 'होम्योपैथी' नामक कविता में कुमार अंबुज कहते हैं।

"या फिर यह सोचकर हो रहा हो परेशान
कि प्रदूषित होते जा रहे इस संसार में
आखिर कैसे जिवित रह पाएगी नाजुक औषधि
या इस समय उसे मथ रहा हो कोई जटिल पुराना रोगी
होम्योपैथी एक सदय मनुष्यता
जो फँसती ही जा रही है
नक्कालों और बिक्रेताओं के जाल में।"[1]

आजकल सभी सेवा क्षेत्रों की स्थिति ऐसी है। मानव कल्याण को लक्ष्य बनाकर शिक्षा दी जाती है। और शिक्षा के माध्यम से सेवा क्षेत्र में लोगों की नियुक्ति होती है और सभी सेवा क्षेत्रों में कुछ नैतिक तत्त्व अवश्य काम करता है। आजकल इन सब के स्थान पर सभी सेवा क्षेत्र एकदम अराजक एवं पैसे को पाने का आसान तरीका बन गया है। सबकी सेवाएं चाहे डॉक्टर, अध्यापक, इंजनीयर, वकील हो सबका काम पूँजी बटोरना बन गया है।

पुरूषार्थों में अर्थ को जीवन के साध्य तक ले जानेवाले साधन माना गया है। समकालीन उपभोगी संस्कृति ने अब अर्थ को ही जीवन का साध्य बनाया। अब इस साध्य तक पहूँचने केलिए मानवीयता का विध्वंस हो रहा है। सारी अनैतिकताओं का मूल स्रोत मनुष्य की लालसा है। आर्थिक जीवन मूल्य अर्थ के नैतिक स्वरूप को महत्ता दे रही है। व्यक्ति में नैतिक सोच का होना सबसे ज़रूरी है कि अर्थ जीवन का लक्ष्य नहीं बल्कि उस लक्ष्य तक पहूँचने का मार्ग है। इसका उपभोग भी इस सोच पर आधारित होकर करना आज की अहम अनिवार्यता है।

1. कुमार अंबुज - अनंतिम - पृ - 33

5.4 गरीबी बेरोज़गारी और जीवन मूल्यों का ह्रास

21 वीं सदी में पहूँचकर भी भारतीय जनता अपनी दीनता की स्थिति से मुक्ति नहीं पायी है। यहाँ के राजनीतिज्ञ आर्थिक विकास के नाम पर जनता को और भी गरीबी प्रदान कर रहा है। सरकार द्वारा बनाये गये अनेक योजनाओं के बावजूद भी यहाँ के 78 % लोग गरीबी से मुक्ति पाया नहीं। अमीर और गरीब के बीच की खाई को भरने में न ही विकास कामयाब हुआ न उदारवाद। भूमंडलीकरण के आज के यूग में गरीब को गरीबी एवं अमीर को अमीरी देने की अर्थनीति चल रही है। फलस्वरूप यहाँ के गरीबी एवं बेरोज़गारी दर पहले से भी बढ़ गया।

रघुवीर सहायजी की कविता है 'गरीबी', इसमें वे दीन - हीन भारतीय जनता को संबोधित करके बताते हैं -

"हम गरीबी हटाने चले
और उस समाज में जहाँ आज भी दरिद्र होना दीनता नहीं
भारतीयता की पहचान है, दासता विरोध है दमन का प्रतिकार हैं
हम गरीबी हटाने चले
हम यानी गरीबों से नफरत हिकारत परहेज़ करनेवाले
हम गरीबी हटाते हैं तो गरीब का आत्मसम्मान लिया करते है
इसलिए मैं तो इस तरह गरीबी हटाने की नीति के विरुद्ध हूँ
क्योंकि वही तो कभी-कभी अपने सम्मान की अकेली रचना रह जाती है।"[1]

यह सब एक राजनीतिक खेल है आज की अर्थनीति एकतरफा है। समाज सेवक ही समाज का विध्वंसक बन रहा है। तो फिर जनता के बीच जीवन मूल्यों का संरक्षण होना नामुमकिन है। जिस देश की जनता भूख, अशिक्षा एवं

1. रघुवीर सहाय - एक समय था - पृ - 22

रोगों से मूक्त नहीं वह देश सभ्य एवं सुसंस्कृत नहीं रह सकता। इसलिए जीवन मूल्यों के संरक्षण केलिए देश की निचले तबके की जनता के जीवन में परिवर्तन अनिवार्य है। अर्थनीति जीवन - मूल्यों से जुड़ जाएगा।

भारत में गरीबी दर इतना बढ़ चुका है कि 'एक जल्दबाज़ बुरी कविता में आँकडे' नामक कविता में कवि उदय प्रकाशजी को यह कहना पड़ रहा है कि -

"कविता का एक वाक्य लिखने में दो मिनट लगते हैं
इतनी देर में चालीस हज़ार बच्चे मर चुके होते हैं
ज्यादतर तीसरी दुनिया के
भूख और रोग से।" [1]

भारतीय अर्थनीति का यथार्थस्वरूप इन पंक्तियों में व्यक्त है। जीवन मूल्यों एवं संस्कृति को बनाये रखने केलिए देश की जनता में नैतिकता बोध का बीज बोना ज़रूरी होता है, लेकिन जो भूखे हैं उनके पेट में नैतिकता एवं आध्यात्मिकता पचता नहीं। अर्थ का वास्तविक मूल्य वहीं पर होता है जहाँ इसका उपयोग सही कामों केलिए होता है। यह कहना संकोच का अनुभव कराता है कि जीवन मूल्यों को तहस नहस करने में हमारी तत्कालीन अर्थ व्यवस्था ने खूब प्रयास किया है।

जिस तरह गरीबी जीवन मूल्यों के संरक्षण में अड़चनें उपस्थित करती है ठीक वैसे ही अमीरी भी इस ओर काम कर रहा है। सब कुछ पाने केलिए पैसा होकर भी हमारे यहाँ ऐसे अनेक लोग है जो चरित्र की दृष्टि से गरीब है। गरीब होकर भी चरित्र की दृष्टि से सबसे धनवान व्यक्ति भी हमारे समाज में मौजूद है। व्यक्ति का नैतिक चरित्र सबसे बडी संपत्ति हे। ज़रूरत से ज़्यादा अर्थ मनुष्य को

1. उदय प्रकाश - एक भाषा हुआ करती है - पृ - 28

अनैकि बना देता है। कवयित्री अनिता वर्माजी अपनी कविता 'अमीर' में कह रही है-

"कोई घृणा नहीं करता तुमसे
क्योंकि अमीरी भी उसी तरह वरदान है
जैसे गरीबी अभिशाप
फुरसत का एक खाली कमरा
हर वक्त तुम्हारे पास होता है
भर सकते हो उसे तुम किसी वासना
शराब या हँसी से पैसों के एक बडे जंगल में
खोती रहती है तुम्हारी आत्मा
तुम कर नहीं सकते किसी दुख का इज़हार
क्योंकि भूख और ज़मीन से बाहर के दुखों पर
कोई नहीं करता विश्वास।" [1]

इस सच्चाई एवं यथार्थ से कोई अपना मूँह नहीं मेड़ सकता। गरीबी एक अभिशाप है वह मनुष्य को मूल्यों से दूर रहने को विवश करता है, और अमीरी ऐसा वरदान है वह भी मनुष्य को मूल्यों से दूर रहने की प्रेरणा देता है, जब नैतिक अर्थनीति की स्थापना होगी, तभी इसमें संतुलन उपस्थित होगा।

भारतीय जनता का 80 प्रतिशत आज भी गरीबी में जीनेवाले हैं। सुदूर प्रांतों में जहाँ विकास का दर बहुत नीचे हो वहाँ की जनता आज भी गरीबी की बदहालत का शिकार है। 'लकड़हारा' नामक कविता में कवि रामदरश मिश्रजी कहते हैं-

"और जब वह घर लौटता है
तो एक ठण्डा चूलहा उसका इंतज़ार कर रहा होता है

1. अनिता वर्मा - एक जन्म में सब - पृ - 103

जिसके इर्दगिर्द बैठे होते हैं

बच्चे, पत्नी और ठण्डा सन्नाटा।"[1]

विकास की गति में आगे बढ़ रही भारतीय जनता में ऐसे मज़दूर एवं गरीब लोग भी शामिल है, जो रोज़ी रोटी भी नहीं कमा सकते हैं। गरीबी की बदहालत को दर्शानेवाली और एक कविता है 'अपने हिस्से में लोग आकाश देखते हैं' इसमें विनोदकुमार शुक्लजी ने असमान अर्थनीति के शिकार हुए भूखे लोगों के बारे में कहा है। जिनकी संख्या 21 वीं सदी में पहूँचकर भी बढ़ती जा रही है। इतनी सारी योजनाएँ सरकार द्वारा बन रही है फिर भी गरीबी दर में कोई कमी नहीं दिखती। कवि कहते हैं-

"अपने हिस्से की भूख के साथ

सब नहीं पाते अपने हिस्से का पूरा भात

बाज़ार में जो दिख रही है

तंदूर में बनती हुई रोटी

सबके हिस्से की बनती हुई रोटी नहीं है।"[2]

यहाँ जो अर्थ व्यवस्था चल रही है उसमें भूखे लोग भूखे ही मर जाते हैं बाकी लोग खा - खाकर कई रोगों के साथ मरता है। कुछ लोग फास्ट फुड खाने केलिए दौडते हैं। कुछ लोग रेशन खरीदने केलिए कड़ी धूप में घण्टों तक एक ही कतार में इंतज़ार करते रहते हैं। 'भूख का हिसाब' नामक कविता में वीराजी ने भारत भर के उन तमाम बच्चों की हालत दर्शा रहे हैं जो एक जून रोटी के इंतज़ार में रह रहे हैं। साहित्यकार साहित्य के द्वारा भूख का वर्णन करते हैं। सरकार भूख मिटाने के खातिर कई योजनाएँ बना रहे हैं। जो भूख का अनुभव

1. रामदरश मिश्र - बारिश में भीगते बच्चे - पृ - 45

2. विनोदकुमार - शुक्ल - अतिरिक्त नहीं - पृ - 17

ही नहीं किया हो उन लोगों केलिए भूख जैसे विषय से जुडे साहित्य घृणा के हकदार हैं, और कुछ लोगों केलिए सत्ता को बनाये रखने का खेल। कवि का कहना है -

"तमाम नन्हें बच्चे
उत्सुकता से
मेरे झोले के भीतर
झाँकते हैं
मैं उनसे यह
कैसे कहूँ कि
मेरे झोले में उनके
भोजन का हिसाब है उनकी
भूख का कोई
जवाब नहीं।"[1]

हमारे सरकार के हाथों ऐसे अनेक रिपोर्ट है जो ठीक हिसाब - किताब हमारे सामने रख रहा है कि यहाँ कितने लोग अमीर है, कितने लोग गरीब है, कितने रोगों से पीडित है आदि से लेकर कितने बच्चे, बूढ़े, जवान, स्त्री, पुरुष आदि सब, और सबके जीवन स्तर को ऊँचे उठाने केलिए बनायी गयी कई योजनाएँ भी लेकिन वास्तविकता कागज़ी रिपोर्टों से कोसों दूर है।

समकालीन कवि गोरख पाण्डेयजी की कविता है 'सोचो तो' प्रस्तुत कविता में कवि ने गरीबी एवं जीवन मूल्यों के बीच के संबंध से परिचित कराने की कोशिश की है। साथ ही गरीबी केलिए उत्तरदायी लोगों के प्रति असहमति जताई है -

"जो अनाज उगाते हैं

1. वीरा - उतना ही हरा भरा - पृ - 76

उन्हें दो जून अन्न ज़रूर मिलना चाहिए
उनके पास कपड़े ज़रूर होना चाहिए
जो उन्हें बुनते हैं
और उन्हें प्यार मिलना ही चाहिए
जो प्यार करते हैं
मगर सोचो तो
यह भी कितना अजीब है
कि उगाने वाले भूखों रहते है
और अनाज पचा जाते हैं
चूहे और बिस्तरों पर
पड़े रहनेवाले लोग
बुनकर फटे चीथडों में रहते हैं
और अच्छे-से अच्छे कपड़े
प्लास्टिक की मूर्तियाँ पहने होती हैं
गरीबी में प्यार भी नफरत करता है
और पैसा नफरत को भी
प्यार में बदल देता है।" [1]

अर्थ का मानव जीवन में जो स्थान है यह व्यक्त कर रही है प्रस्तुत पंक्तियाँ। आज ही नहीं वर्षों पहले से ही जो परंपरा चल रही है उसके हिसाब से गरीबी को पाप माना जाता है और यह भी कहा है कि धनोपार्जन का मार्ग धर्म पर आधारित हो और दान कर्म भी पुण्य माना गया है लेकिन आजकल धन एवं अर्थ मनुष्य केलिए नहीं बल्कि मनुष्य धन एवं अर्थ केलिए बन गया है। सारी संवेदनाएँ भी धन पर केंद्रित हो गया।

1. गोरख पाण्डेय - जागते रहो सोने वालो - पृ - 65 - 66

मंडलोईजी अपनी 'पानी' नामक कविता में गरीबी जैसे अभिशाप को बहुत ही सख्त शब्दों में अंकित करते हैं। कवि कहते हैं -

"यह चावल मोटा है
इसके पकने के साथ
पानी पकता हुआ
सफेद हो उठेगा
आप इसे फेंक देंगे यकीनन
देखो पिछावाडे की झोंपडी की स्मित
इसे पीकर निकल रहा है
आपके नौकर का बेटा
बस्ता उठाये स्कूल की तरफ।" [1]

एक ही अर्थनीति में रहते हुए भी अमीरी और गरीबी के बीच की खाई को भर पाने में हम आज भी असमर्थ रह गए हैं। यह आर्थिक जीवन मूल्यों की सबसे बडी चुनौती है। भूखे व्यक्ति से मूल्यों की प्रतीक्षा करना सबसे बड़ी मूर्खता होती है। इस तथ्य को स्थापित करनेवाली कविता है 'मूल्य' इसमें मंडलोईजी कहते हैं -

"मेरा मूल्य है
मुझे लाया गया
मैंने नारे लगाये
नारे झूठे थे
झूठ की कमाई से
मैंने आज रोटी खायी।" [2]

---

1. लीलाधर मंडलोई - लिखे में दुक्ख - पृ - 42
2. लीलाधर मंडलोई - लिखे में दुक्ख - पृ - 99

गरीबी मनुष्य को मूल्य हीनता की ओर ले जाती है। जो भूखे है उनके लिए सबसे बढ़कर रोटी ही महान है। उसे पाने केलिए करनेवाले सभी कर्म में वह नैतिकता ढूँढ लेता है। यह हमारे सरकार का दायित्व है कि वह समान अर्थनीति के ज़रिए आर्थिक जीवन मूल्यों को संरक्षण दे।

भीड़ भरे इक्कीसवीं समाज में रोज़ी रोटी के बचाव केलिए जद्धोजहद करनेवाले आम आदमी आज भी है हमारे समाज में। 'थैला' नामक कविता में कवि इब्बार रब्बीजी ने इस वास्तविकता को यों उजागर किया है -

"सड़क पर भागम भाग
इधर से उधर
हाय हाय
लाल हरी बत्तियाँ
सार्वजनिक शौचालय
भागता बचता पिचता
बचाता है वह
थैला!
थैले में रोटी है!" [1]

सब कहीं विकास हुआ है। विकास की नयी दिशाएँ अब भी खूली जा रही है साथ ही साथ भारत में गरीबी का दर भी विकसित होता जा रहा है।

जनतांत्रिक शासन व्यवस्था समाज के हर तबके के लोगों को समान सुविधाएँ प्रदान करने का दावा करते हैं। वास्तविकता कुछ और ही नज़र आती है। यहाँ रहनेवाले अधिकांश लोग अब भी रोज़ी - रोटी केलिए तड़प रहे हैं। कुमार

1. इब्बार रब्बी - लोगबाग - पृ - 82 - 83

अंबुजजी ने अपनी कविता 'एक राजनीतिक प्रलाप' में भारतीय जनता की बदहालत को यों दर्शाया है -

"अंत में मेरे पास फिर वही कुछ निराश शब्द बचे रहते हैं
चमक-दमक और रईसी के बीच चमकते हैं करोडों पैबंद
अनंत आश्वासनों के बीच मेरे पास कोई नारा नहीं है
न मैं मारो - काटो - बचाओ कर सकता हूँ
मैं ही क्या करोडों लोग हैं जो इतनी आपाधापी में हैं
कि रोज़ी - रोटी के अलावा बमुश्किल ही कर सकते हैं
कोई और काम!" [1]

आर्थिक असमानताएँ मूल्यों को कुचलकर देते हैं। सबसे बडी विडंबना है कि भूख की समस्या ने बालमज़दूरी एवं वेश्यावृत्ति जैसे असामाजिक एवं अमानवीयाताओं को बढ़ावा दे रहा है 'खून का रिश्ता' नामक कविता में कवि ज्ञानेन्द्रपति का कहना है -

"वे बच्चे
मूँड़ी गोंतकर
जिन्हें बारह घण्टे करना होता है काम
दरिद्रता के कोख - जाए बेटे
लक्ष्मी की अमरबेल
जिनकी खिच्ची उँगलियों से
लिपटती है।" [2]

जीवन मूल्यों के संरक्षण केलिए गरीबी की समस्या का सुनिश्चित परिणाम अनिवार्य है नहीं तो स्वस्थ समाज की स्थापना नहीं होगी।

---

1. कुमार अंबुज - अनंतिम - पृ - 10
2. ज्ञानेन्द्रपति - कवि ने कहा - पृ - 21

गरीबी और बरोज़गारी परस्पर आपेक्षिक है। गरीबी की वजह बेरोज़गारी है। बेरोज़गारी की वजह हमारी अर्थ व्यवस्था की अनैतिकता है। इस व्यवस्था से आजकल के युवा लोगों को तंग आ चुका है। 'उस घर में' नामक कविता में इब्बार रब्बीजी कहते हैं -

" 30 साल का बच्चा
अखबार में 'वान्टेड' ढूँढते ढूँढते
अनवाँटेड हो गया होगा।
कुछ करने को नहीं रहा होगा
उस घर में 13 साल बाद
कितना गैर ज़रूरी हो गया होऊँगा मैं।" [1]

आजकल हमारे समाज में पढे लिखे लोगों का नहीं धनी लोगों का मूल्य बढ़ रहा है। चाहे जितने भी मूर्ख हो अगर उनके पास पैसा है तो वह डॉक्टर, इन्जीनीयर आदि बन सकता है। जो अपनी बौद्धिक क्षमता से आगे आता है उनको नौकरी मिलती ही नहीं। सालों इंतज़ार करने पर भी और रोज़गार कार्यालय (employment exchange) की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए उनका उम्र गुज़र जाता है। लोक सेवा आयोग (PSC) की सारी परीक्षाएँ लिखकर सूची में आने के बाद भी उन्हें काम के इंतज़ार में रहना पड़ रहा है।

यही है भारत का निजी स्वरूप। अब ऐसी स्थिति में अगर अर्थ को जीवन मूल्यों से जुड़े रखना है तो सबसे पहले गरीबी, बेरोज़गारी जैसी समस्याओं को मिटाना होगा।

---

1. इब्बार रब्बी - लोगबाग - पृ - 78

5.5 पूँजीवाद का विरोध

समकालीन एवं उत्तराधुनिक समय में भारत स्वतंत्र हुए लेकिन यहाँ की जनता का दिल एवं दिमाग और सारी संवेदनाएँ उन साम्राज्यवादी शक्तियों का गुलाम बनकर जी रहे हैं। समकालीन हिंदी कवियों ने इन सबका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

आजकल निजीकरण के फलस्वरूप भारतीय आर्थिक व्यवस्था में विदेशी पूँजी निवेश का हिस्सा बढ़ चुका है। हमारे यहाँ आर्थिक विकास केलिए विश्व बैंक से लेनेवाले कर्ज का हिस्सा साल - दर - साल बढ़ रहा है। फिर भी हमारे यहाँ के राजनीतिज्ञ एवं अर्थशक्तियों का कहना है हम विकास कर रहे हैं। 'उन्नति' नामक कविता में रघुवीर सहायजी कहते हैं -

"आस पास में पुलिस
सेना पड़ोस में
ऐश में धँसे जन
उतराए अफसोस में
मेलों में धन लगे
विदेश से मिले साधन
हम उन्नति करते हैं
बार-बार निर्धन बन
राष्ट्र सिकुड़ता है
विपदा से जुड़ता है ।"[1]

---

1. रघुवीर सहाय - एक समय था - पृ - 37

यही भारतीय अर्थनीति की वास्तविकता है। विदेशी साम्राज्यवादी शक्ति भारत को लूटने एवं उनपर निर्भरता बनाये रखने की बेरहम कोशिश करते रहते हैं।

हम सब जानते हैं भारत एक विकासशील देश है। हमारी अर्थ व्यवस्था विश्व बैंक एवं अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के हिसाब से चल रहा है। इसके आगे पूँछ हिलाने के बजाय हमारे सरकार के पास और कोई चारा नहीं। हमारी अर्थनीति पर नियंत्रण जमानेवाली और एस शक्ति शेयर बाज़ार है। इसका मूल आधार विदेशी पूँजी है। शेयर बाज़ार में होनेवाले उतार - चढ़ाव का सीधा प्रभाव हमारी अर्थ व्यवस्था पर पड़ती है। इसपर 'शेयर-व्यवस्था' नामक कविता में कुँवर नारायणजी कहते हैं।

"खबर है कि दुनिया भर के शेयर लुढ़के
खबर पढ़ के
कई ऐसी भी लुढके
जिन्होंने खरी दे शेयर
कभी आगे बढ़ के:
सरकार कहती
तो ठीक ही कहती होगी
कि पुख्ता है हमारी अर्थ व्यवस्था।
क्योंकि वह शेयरों पर नहीं
उन पर निर्भर है जिनका
कोई शेयर ही नहीं
हमारी शेयर - व्यवस्था में।" [1]

यही वास्तविकता एवं सच्चाई है। वास्तव में हमारी जो नई अर्थ व्यवस्था है

1. कुँवर नारायण - हाशिए का गवाह - पृ - 81

उसमें सरकार की भूमिका नहीं के बराबर है। विदेशी पूँजी ने देशी सरकार एवं अर्थ व्यवस्था को पंगू बना दिया। और देशी सरकार जनता की आखों में धूल फेंक रहा है।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के चेहरे को दिखाने वाली सशक्त कविता है उदय प्रकाशजी की 'चंकी पांडे मुकर गया है' इसमें कवि वर्तमान पूँजीवादी नई अर्थ व्यवस्था के बारे में कहते हैं।

"साथियो, यह एक लुटेरा समय है
नई अर्थव्यवस्था की यह नई सामाजिक संरचना है
आवारा हिंसक पूँजी की यह एक बिलकुल नई ताक्त है
और इसमें जो कुछ भी
कहीं लोकप्रिय है
वह कोई न कोई अमरीकी ब्रांड है
गुलाम होने और गुलाम बनाने के सारे खेलों में
अब बहुत बड़ा पूँजी निवेश है।" [1]

परस्पर निर्भरता कोई पाप या गलती नहीं लेकिन शोषण सबसे बड़ा पाप होता है। जो अपने हित केलिए दूसरों पर कब्जा जमाना चाहता है वह आजकल सबसे बडी ताकतवाला होता है जैसे अमरीका। यह सब उनकी चाल है कि वे लोग किसी भी हालत पर तीसरी दुनिया को आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त होने नहीं देगा, क्योंकि इसमें उनका नुकसान है। तीसरी दुनिया की अविकसित हालत ने ही अमरिका को विकसित बनाया है। हमारे देशी सरकार भी देश को गिरवी रखने में पीछे नहीं हटता। अब देश से भी ज़्यादा महत्त्व व्यक्ति को है, संपत्ति एवं धन को है।

समकालीन मानव जीवन पूँजी के पीछे है। यहाँ न मानवीयता बचता है

1. उदय प्रकाश - एक भाषा हुआ करती है - पृ - 32

और न जीवन मूल्य। मनुष्य केलिए बन गए सभी साधन अब मनुष्य से भी ज़्यादा महत्त्व प्राप्त कर लिया है। मनुष्य उन साधनों केलिए हो गया है। 'कायाकल्प' नामक अपनी कविता में राजेन्द्र कुमार वर्माजी ने पूँजीपति बनने को इच्छुक एवं उत्साही लोगों के बारे में यों कह उठते हैं -

"सब तन्मय हैं
स्वामी की लाल के विग्रह बन
सिद्ध मंत्रों के नियमित पाठ से
शक्ति अर्जित कर
सब तत्पर हैं
कायाकल्प करने केलिए
मनुष्य की योनि में
पूँजीपति बनकर।" [1]

मानव जीवन में सभी साधनों केलिए एक विशेष स्थान एवं परिधि निर्धारित है। जब यह साधन उससे परे हो जाता है तब वह भी मूल्य च्युति का माध्यम बन जाता है। अर्थ के संदर्भ में भी यह तथ्य बराबर है। ज़रूरत से ज़्यादा धन मनुष्य को पूँजीपति बनाता है और उसमें पाशविकता को बढ़ावा देता है। इस तथ्य पर ज़ोर देती है अनिता वर्माजी की 'अमीर' नामक कविता-

"हरगिज़ यह तुम्हारा पक्ष लेना नहीं है
जब तक चीज़ें साफ नहीं है
जब तक पैसा बडा है आदमी से
और बड़ी है भूख और रहनुमाई
एक निश्चिंतता जो तुम्हारे सपनों में सोती है

1. राजेन्द्र कुमार वर्मा - सूर्य बन कर उगना है - पृ - 27

वह दरअसल एक परेशानी है
तुम दीवालिया हो जाओ तो सुखी होंगे लोग
सिर्फ इसी कारण।" [1]

यहाँ कवयित्री ने पूँजीवाद पर विद्रोह का स्वर अपनाया है। देश को नुकसान केवल विदेशियों से ही नहीं देश के अंदर रहकर देशद्रोह करनेवाले देशी अमीरों एवं पूँजीपतियों से भी हो रहा है।

आज की उत्तराधुनिक सभ्यता में सब कहीं पूँजी ही पूँजी है। विश्व बाज़ारीकरण की अर्थनीति विदेशी साम्राज्यवादी शक्तियों से मिलकर आम जनता को लूट रहा है। 'कस्बे की दूकान में मनमोहनजी' नामक कविता में कवि लीलाधर मंडलोईजी का वक्तव्य है-

"क्रोडिट कार्डस हवा में उछल रहे थे और मध्यवर्ग के चेहरे पर
बनावटी हँसी के पार्श्व में कोई लगातार रो रहा था
घटनाओं के पूर्वानुमान का उछाल ज़ोरों पर था और
भविष्यफल के पन्नों पर
आर्थिक भविष्यफल पुनः उठाए नर्तन कर रहा था
शेयर बाज़ार में लोग खुलेआम लूट रहे थे
और चीज़ों को आघातों से बचाने की होड़ थी
होड़ में पूरी शक्ति किसी डालर के पीछे लगी थी।" [2]

अब का बाज़ार विदेशी है। जहाँ वे वस्तुएँ मौजूद है जिनके क्रय-विक्रय से विदेशी पूँजी शक्तिशाली एवं देशी अर्थव्यवस्था कमज़ोर बन रही है। डालर का मूल्य बढता है और रूपये का मूल्य गिरता है। 'मानचित्र' नामक कविता में

1. अनिता वर्मा - एक जन्म में सब - पृ - 104
2. लीलाधर मंडलोई - देखा अदेखा - पृ - 21

मंडलोईजी ने विदशी पूँजीपतियों के आगे लड़खडाने वाले तीसरी दुनिया की अर्थ व्यवस्था पर चर्चा की है। कवि कहते हैं ।

"यह नार्थ ब्लाक है
यह साउथ
यहाँ बनते हैं
आनेवाले समय के मानचित्र
हर नये मानचित्र में
अमरिका विशाल होता दिखता है।" [1]

अबकी भारतीय अर्थ व्यवस्था में आयात ज़्यादा एवं निर्यात कम हो रहा है। यह देशी अर्थ व्यवस्था के संतुलन को बिगाड़ देगी और पूर्ण रूप से देश को विदेशियों के गुलाम बना देगा। अब भी तीसरी दुनिया के अर्थतंत्र का लगाम अमरिका जैसी पूँजीवादी साम्राज्यवादी शक्तियों के हाथ में है।

विकास के उत्ताराधुनिक समाज में भारत के सभी धरोहरों पर विदेशी कंपनियों का पेटेंट कायम है। अब हमें अपनी जड़ी बूटियों एवं आयुर्वेदिक संसाधनों का उपयोग विदेशी पूँजीपतियों के हिसाब से करना पड़ रहा है। हमारे यहाँ की जड़ी बूटियों के नामपर उत्पन्न होनेवाली सभी वस्तुओं को हमें विदेशी कंपनियों से उच्चदाम पर हासिल करना पड़ रहा है। विदेशी साम्राज्यवादी पूँजीवादी शक्तियों के नए अर्थतंत्र पर कुमार अंबुज की अपनी कविता 'आयुर्वेद' में वे कहते हैं -

"हरे, बहेड़ा, आँवला, सौंठ, तुलसी, पीपल
पर्यावरण ही आयुर्वेद
जो डूब रहा है सभ्यता के उत्तर औद्योगिक समुद्र में
विस्मृति की सीमा पर खडा है अनुपान भेद का ज्ञान

1. लीलाधर मंडलोई - लिखे में दुक्ख - पृ - 93

वंशलोचन, पारद, शिलाजीत, भृंग, महासुदर्शन
तोजोमय रूप सभी
डूबते हुए अधैर्य के पोखर में गिरते हुए पूँजी के गर्त में
अब कोई नहीं पहचानता जड़ी बूटियाँ
जो कहते हैं कि हम पहचानते हैं वे उद्योग हैं
शहद बनाती हैं मधुमक्खियाँ
और कंपनियों के डंक।" [1]

अब हमारा आयुर्वेद, हमारी जड़ी बूटियाँ बहुराष्ट्रिय पूँजी बढ़ाने में काफी योगदान दे रहे हैं। इससे देशी अर्थ व्यवस्था बिगड़ रही है और विदेशी पूँजी दर बढ़ता जा रहा है।

अमरीकी साम्राज्यवादी एवं पूँजीवादी शक्तियों के दबाव में भारत जैसे तीसरी दुनिया का भविष्य एकदम विकृत बनता जा रहा है। आर्थिक विकास के नाम पर यहाँ पर स्थापित सभी विदेशी कंपनियों एवं कारखानों से भारतीय जनता यहाँ की संस्कृति एवं प्रकृति सबको विनाश की ओर खींच रहा है। 'अधरात घास - गन्ध' नामक कविता में ज्ञानेन्द्रपतिजी का कहना है -

"जब वियतनाम की वनस्पति पर
एजेण्ड आरेन्ज का कहर टूटता
सघन जंगल जब
झाड़ - झंखाड़ होते हैं
निष्कवच होते हैं जन - योद्धा
वध्य केवल वियतनामी गुरिल्ला ही नहीं
हम भी होते हैं

1. कुमार अंबुज - अनंतिम - पृ - 30

हम सब जो दुनिया के तीन चौथाई देशों में अलग - अलग
अपने देश की माटी को गूँथ
बनाना चाहते देश की प्रतिमा नई
देश की माटी खनिजोर्वर
लगी जिसमें साम्राज्यवाद की सेंध
जिसके वक्ष के अमृतकुण्ड में
गहरे धँसा शोषण का अदृश्य साइफन
अमरीकी अर्थपिशाच की आक्टोपसी सूँड।" [1]

अमरीका जैसी अति विकसित साम्राज्यवादी शक्ति अपनी आर्थिक समृद्धि केलिए तीसरी दुनिया का इस्तेमाल कर रहा है। पूँजीवादी ताकतों ने भारत की पारंपरिक कृषि व्यवस्था को उजाड़कर पश्चिम के जीन बैंक से संकर बीजों को भारत के खेतों पर उगाने का षड्यंत्र रचाया है। इसके पीछे का एकमात्र लक्ष्य उनकी अर्थ व्यवस्था सुदृढ़ बनाना होता है। इसपर ज्ञानेन्द्रपतिजी ने अपनी कविता 'बीज व्यथा' में यों कहा है -

"वहाँ - सुदूर पच्छिम के जीन बैंक में
बीज संग्रहालय में
सुदूर पच्छिम जो उतना दूर भी नहीं है
बस उतना ही जितना निवाले से मुँह
सुदूर पच्छिम जो पुरातन मायावी स्वर्ग का है
अधुनातन प्रतिरूप
नन्दनवन अनिन्द्य
जहाँ से निकलकर
आते हैं वे पुष्ट दुष्ट संकर बीज

1. ज्ञानेन्द्रपति - कवि ने कहा - पृ - 89 - 90

भारत के खेतों पर छा जाने
दुबले एकल भारतीय बीज़ों को बहियाकर
आते हैं वे आक्रांत बीज टिड्डी दलों की तरह छाते आकाश
भूमि को अँधराते
यहाँ की मिट्टी में जड़ें जमाने
फैलने - फूलने।"[1]

भारत के कुटीर उद्योगों, कृषि, छोटे - छोटे व्यवसाय सबकुछ नष्ट करके पाश्चात्य शैली में बने कृत्रिम बीजों एवं चीज़ों का इस्तेमाल करने से भारत की अर्थ व्यवस्था बिगड चुकी है। 'खेसाडी दल की तरह निंदित' नामक कविता में कवि ने विदेशी साम्राज्यवादी शक्तियों के कायाबल में फँसे तीसरी दुनिया का ही चित्रण किया है। कवि कहते हैं -

"मानव - संसाधन - मंत्रालय के अंतर्गत
संस्कृति विभाग में
गुपचुप खुला है एक प्रकोष्ट
कृषि - मंत्रालय के खाद्य - प्रस्संस्करण प्रभाग के साझे में
क्योंकि अब लक्ष्य है निर्यात और अभीष्ट है विदेशी पूँजीनिवेश।"[2]

अब भारतीय अर्थनीति का लगान विदेशियों के हाथ में है हमें कैसे जीना है, क्या करना है सब कुछ वे ही तय कर रहे हैं - कवि ज्ञानेन्द्रपति की 'समरकांत उचाव' नामक कविता देखिए -

" स्वप्न सुंदरियों के सौंदर्य का रहस्य
एक चुंबन - दिलाऊ टूथपेस्ट आत्मविश्वास है जिसकी झाग का नाम

1. ज्ञानेन्द्रपति - कवि ने कहा - पृ - 116
2. ज्ञानेन्द्रपति - कवि ने कहा - पृ - 118

मायावी घोषणाएँ खयाली पोषणाएँ
ब्योपारी ही नहीं, सरकारी भी
गरीब - गुरबों केलिए गरबीली कर्जमाफी
जबकि अजन्मे बच्चों की भावी पीढ़ियाँ तक
ऋणजाल में कसी हुई अंतरराष्ट्रीय महाजनों के
ऐसे में परमात्मा आत्माओं का मैनुफैक्चरर या आढ़तिया भर बन रहता है
और शैतान उसका कमीशनखोर एजेंट बहुरूपिया
बेरोजगारों केलिए रोजगार जुटाने के धंधे में लगा हुआ
और तब ऐसे में क्या अचरज जो पथराकर
प्रतिमा बने कोई भी परम आत्मा
कहीं बजरंगबली की, कभी अंबेड़कर की
सब सार्वजनिक जमीन पर निजी कब्जा करने के हित।"[1]

चार पुरुषार्थों में अर्थ को जीवन के साध्य तक ले जानेवाले साधन माना गया है। समकालीन उपभोगी संस्कृति ने अब अर्थ को ही जीवन का साध्य बनाया। अब इस साध्य तक पहूँचने केलिए मानवीयता का विध्वंस हो रहा है। सारी अनैतिकताओं का मूल स्रोत मनुष्य की लालसा है। आर्थिक जीवन मूल्य अर्थ के नैतिक स्वरूप को महत्ता दे रहा है।

व्यक्ति में यह नैतिक सोच का होना सबसे ज़रूरी है कि अर्थ जीवन का लक्ष्य नहीं बल्कि उस लक्ष्य तक पहूँचने का मार्ग है। इसका उपयोग भी इस सोच पर आधारित होकर करना आजकल की अनिवार्यता है।

5.6 विकास-योजनाएँ एवं भारतीय जनता

आजकल तीसरी दुनिया के राष्ट्रों पर जिन विकास योजनाओं का

1. ज्ञानेन्द्रपति - गंगातट - पृ - 83

आयोजन हो रहा है वह आर्थिक समता, गरीबी एवं बेरोज़गारी से आम जनता की मुक्ति विदेशी कर्ज से मुक्ति एवं आत्मनिर्भता पर केंद्रित नहीं बल्कि विदेशी पूँजी निवेश का दर ऊँचा करनेवाली है। इसमें देशी सरकारों का भी हस्तक्षेप है।

आम जनता की ज़िंदगी की मुसीबतों को टालने केलिए सरकार के द्वारा विभिन्न विकास योजनाएँ आयोजित होती है। लेकिन इन सबका वास्तविक प्रयोजन आम जनता तक पहूँचता नहीं। कवि देवतालेजी अपनी कविता 'सबसे ज़रूरी काम' में बता रहे हैं -

"मच्छरों के प्रकोप
और सब्जी - बाजार के कीचड़ पर
किसी की नज़र नहीं जाती
क्योंकि मच्छरों को मारने केलिए
जो टैंक बुलाये गये थे
वे इमारतों और बगीचों में बदल गये
कॉलनी बसानेवालों के ईर्द - गिर्द
कल मैंने जिस कुत्ते को देखा था
वह आज मोटरसाइकिल पर मिला
मुआयना करते हुए
उसने मुझे देखकर कहा-
इन्कलाब ज़िंदाबाद।" [1]

समाज की जनता को संरक्षण, सुरक्षा एवं जीवन की अवश्यक सुविधाएँ देने का दायित्व जिसके ऊपर सौंपा गया है, वे ही जनता को बदहालती में रख रहे हैं। आज की विकास योजनाएँ एवं अर्थनीति राजनीतिज्ञों के तरफदार है।

1. चन्द्रकांत देवताले - उसके सपने - पृ - 157

आज भारतीय जनता उत्तराधुनिक बाज़ार द्वारा प्रायोजित जीवन जी रहे है। अब सब कहीं उत्तराधुनिक काउटर ही दिख रहा है। नयी - नयी सरकार आ जाती हैं। नये - नये समझौते बन रहे हैं और नयी विकासयोजनाएँ एवं अर्थ व्यवस्था बन रही है फिर भी तीसरी दुनिया की अर्थव्यवस्था विश्वबैंक एवं अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष की अर्थ नीतियों पर चल रही है। न ही इसके बीच राजनीति आता है न ही जनता। कवि लीलाधर मंडलोईजी ने अपनी कविता 'कस्बे की दूकान में मनमोहन जी' में बताया है -

"मेरा कस्बा इस तरह पारंपरिक बाज़ार में उत्तर
आधुनिक काउटर हुआ।" [1]

सब कहीं विकास है, शेयरों का उतार - गिराव है गाँव एवं कस्बे विकसित होकर नगर एवं बाज़ार बन रहा है फिर भी जनता अब भी दरिद्रता में जी रहे हैं। विकास के नाम पर अनेकों को विस्थापित कर रहा है, प्रकृति का अंधाधुंध दोहन हो रहा है। इसका लाभ विदेशी पूँजी के रूप में जमा हो रहा है।

विकास की लाभ केंद्रित अर्थनीति से प्रकृति पर होनेवाले अमानवीय हस्ताक्षेप पूरे विश्व को ग्रस रहा है। अब जो विकास चल रहा है इसके पीछे विदेशी शक्तियों का हाथ है। उनका लक्ष्य भारतीय जनता की मानसिक संवेदनाओं पर वार करना है, और हमारी प्राकृतिक संपदा को नष्ट करना है। 'आपत्ति' एक ऐसी कविता है इसमें कवि लीलाधर मंडलोईजी ने विकास की अनियंत्रित अर्थनीति पर यों कहा है -

"मेरी उम्र सात ही बरस सही

1. लीलाधर मंडलोई - देखा - अदेखा - पृ - 22

दिमाग न हो दिग्गजों जैसा, मगर हक है मेरा कहना
अगर रेगिस्तान में बहे लहू का दरिया
अगर समुद्र में मरे अनगिनत जल - जीव
अगर जल उठें पेड़, पौधे, पत्तियाँ
अगर हवा में घुले जहर ओर - छोर
और कोई अगर चाहे करना इस धरती को नेस्तानाबूद
मुझे आपत्ति है, सख्त आपत्ति।"[1]

हमें विकास को पाना है मगर हमारे सबकुछ नष्ट करके नहीं। हर देश की भौगोलिक परिस्थितियों के अनुकूल वहाँ की संस्कृति, मूल्य, नैतिकता आदि का विकास होता है भौगोलिक परिस्थियों में आनेवाला परिवर्तन इन सब पर अपना प्रभाव छोड़ता है।

21 वीं सदी विकास के नए - नए उपादान ढूँढ रहे हैं। अब विकास ही एकमात्र लक्ष्य बन गया है। उसके लिए जो कुछ भी कर रहे हैं वह सब नैतिक है। चाहे मानव समाज एवं प्राकृतिक संपदाओं को कुचलकर विकास आगे बढ़े फिर भी कोई रोकनेवाला नहीं क्योंकि आज के जमाने में गैरज़रूरी की बात उठती नहीं सब कुछ ज़रूरी बन चुकी है - 'विधेयवादी की चीख' नामक कविता में कैलाश वाजपेयीजी कह रहे हैं -

"हर धड़कती हुई नब्ज के
उठा हुआ हाथ
मत रोको कसाई का
पृथ्वी का चेहरा
सभ्य बनाने में लगे हैं वे

---

1. लीलाधर मंडलोई - देखा - अदेखा - पृ - 40

रुकेंगे नहीं
उन्हें जाने दो
मिट्टी की कोख तक पटाखा छुड़ाने।
जहर घोलने दो
समुद्र में
मरीनों को
डूबने
मशीनों को दर्शन की भाषा बोलने दो।"[1]

अब की राजनीति भी मल्टीनैश्नलों से मिलकर विकास के नाम पर प्रकृति का अंधाधूंध दोहन में लगे रहे हैं। जंगल का नामोनिशान तक नहीं अब पृथ्वी के ऊपर, वायु, जल सब कुछ ज़हर बनकर मानव जीवन को धमका रहा है।

विकास योजनाओं के तहत गाँव का नगर में परिवर्तित होना भी आर्थिक जीवन मूल्यों की च्युति केलिए कारण बन गया। किसानी संस्कृति का नष्ट होना पारंपरिक खाद्य पदार्थों एवं जड़ी बूटियों का सत्यानाश सबकुछ शहरीकरण की सबसे बडी चुनौती है। ये सब योजनाएँ मानव समुदाय एवं प्रकृति दोनों पर प्रहार कर रहे हैं। कवि एकांत श्रीवास्तवजी 'कन्हार' नामक कविता में कहते हैं-

"कभी देखो, महाजनी की महीन पैंतरे बाजियाँ
जलती हुई फसलें
नीलाम होते गए बैल
बिकते हुए खेत
और उसकी मिट्टी से लिपटकर सोता हुआ किसान
झर - झर झरते आँसुओं में

1. कैलाश वाजपेयी - देहांत से हटकर - पृ - 25

भीगती गई कन्हार कभी देखो
कभी देखो, केवल सात जिलों में नहीं
छत्तीस टुकड़ों में बँटता छत्तीसगढ़
रोजी - रोटी की तलाश में
दूर दराज के शहरों की तरफ जाते लोग
रेलगाड़ियों में बैठकर
अपनी - अपनी पोटलियाँ लिये।" [1]

आर्थिक विकास केलिए जो योजनाएँ बनायी जा रही हैं। असल में योजनाओं के आयोजन कर्ता एवं राजनीतिज्ञ कहते हैं, यह सब आम जनता केलिए हो रहा है लेकिन जब योजना साकार हो जाता है तब उसी की वजह से आम जनता एवं प्रकृति को नुकसान पहूँचता है। जनता को विस्थापित होना पड़ता है और प्राकृतिक संपदाएँ मिट जाती हैं।

विकास योजनाओं के तहत मिटती हमारी प्राकृतिक संपदा पर चिंतित है ज्ञानेन्द्रपतिजी उनकी कविता 'नदी और नगर' में उन्होंने इस संदेश को प्रस्तुत किया है कि विकास एवं अर्थ का मानववादी होने से जीवन मूल्यों का बचाव स्वतः हो जाता है।

"नदी के किनारे नगर बसते हैं
नगर के बसने के बाद
नगर के किनारे से
नदी बहती है।" [2]

विकास की वास्तविकता एवं परिणति यही है। जो विकास केलिए नारे

1. एकांत श्रीवास्तव - बीज से फूल तक - 134
2. ज्ञानेन्द्रपति - कवि ने कहा - पृ - 23

लगाये जाते हैं उन्हें मैली पानी पीने की एवं गंदी बस्तियों में रहने की नौबत नहीं आती। हर विकास योजनाएँ आम जनता को हाशिये पर छोड़नेवाली है। 'नदी और साबुन' नामक कविता में भी कवि इसी तथ्य पर ज़ोर दे रहे हैं। विकास योजनाएँ प्रकृति पर आफत बनकर उपस्थित हो रही है। कवि कहते हैं -

"आह! लेकिन
स्वार्थी कारखानों का तेज़ाबी पेशाब झेलते
बैंगनी हो गयी तुम्हारी शुभ्र त्वचा
हिमालय के होते भी तुम्हारे सिरहाने
हथेली भर की एक साबून की टिकिया से
हार गयीं तुम युद्ध।" [1]

आजकल हर नदी, नाले एवं तालाब से हमें यही सवाल करना पड़ रहा है। विज्ञान एवं टेकनोलॉजी के आज के ज़माने में प्राकृतिक संपदाओं को भी आर्थिक एवं धन केंद्रित संस्कृति के शिकार बनना पड़ता है। आज के उत्तराधुनिक समाज में भारतीय जनता विकसित होकर यहाँ तक पहूँच गये कि घर बैठे ग्राहक बन गए। आज की सभ्यता ने सब कहीं सुविधाएँ उपलब्ध करके मनुष्य को मनुष्य की हैसियत से यंत्र बना दिया है।

अब का विकास आर्थिक लाभ हेतु जनता के दिल एवं दिमाग पर वार कर रहा है। 'आज़ादी उर्फ गुलामी' नामक कविता में ज्ञानेन्द्रपति कहते हैं -

"यांत्रिक सभ्यता के शीर्ष पर
उन्होंने केवल कंप्यूटर ही नहीं बनाये हैं
आपके दिमाग को भी कंप्यूटर में बदल दिया है

1. ज्ञानेन्द्रपति - कवि ने कहा - पृ - 24

जिसका सोफ्टवेयर वे सप्लाई करते हैं
घर बैठे होम डिलीवरी
मुफ़्त, बिलकुल मुफ़्त।" [1]

भूमंडलीकरण की वस्तुवादी सभ्यता ने विकास के नाम पर मानवीयता की श्रेष्ठ मूल्यों का हनन किया। मूल्यों से भी ज़्यादा महत्त्व अब चीज़ों को मिल रहा है। भूमंडलीकरण बाज़ारवाद, औद्योगीकरण, उपभोक्तावाद यह समकालीन परिवेश को नया मोड़ दे रहा है। सरकार एवं शासक कहते हैं यह है विकास, लेकिन कवि को कहना पड़ रहा है -

"ओह! उनके लिए
गंगा का जी काँपता है
अपने जल जीवों केलिए
और अपने थलजीवों केलिए भी
जिनके कंठ की प्यास बुझाने से भी आगे बढ़कर
भीतर की कोई गहरी प्यास तिरपती रही हैं गंगा
और कल की अमरित - बूँद आज
चंगे को बीमार करनेवाली
और बीमार केलिए तो
सचमुच मोक्षदा साबित होनेवाली अकाल ही।" [2]

पूँजीवादी सभ्यता से उभर आये साबुन की टिकिया से गंगा को भी डर लगने लगा। भूमंडलीकरण ने सारी दुनिया को एक मंडी में तब्दील कर दिया और वहाँ मनुष्य को यही सिखा रहे हैं कि आसान जीवन कैसे जिया जाए।

---

1. ज्ञानेन्द्रपति - कवि ने कहा - पृ - 99
2. ज्ञानेन्द्रपति - गंगातट - पृ - 21 - 22

पालिथिन ने मनुष्य के डैनिंग डेबुल पर भी अपना कब्जा जमा लिया है। अब बरतन धोने के काम से छुटकारा मिल चुका है। उपयोग करो और फेंक दो, मुफ़्त में कैन्सर भी हासिल हो जाएगी यही पालिथिन की श्रेष्ठता है। इस तरह की विकास योजनाएँ आर्थिक जीवन मूल्यों को बचाने केलिए नहीं बल्कि संपूर्ण मानव जीवन एवं प्रकृति को भी बरबाद कर देगी। भूमंडलीकरण एवं विदेशी पूँजीवादी शक्तियों द्वारा आविष्कृत सारी विकास योजनाएँ हमारी प्रकृति, जीवजालों एवं जैविक चक्र में काफी बदलाव लायी हैं। सिर्फ अर्थ प्राप्त करना आर्थिक विकास एवं प्रगति नहीं बल्कि समाज एवं जनता केलिए उपयोगी तथा पर्यावरण एवं प्रकृति के हितकारी आविष्कारों से विकास को बढ़ना चाहिए - 'पालिथिन' नामक कविता में ज्ञानेन्द्रपतिजी कहते हैं -

"चिरजीवा मरजीवा पालिथिन!
हमारे समय की सभ्यता का पर्याय है
हमारे समय की सभ्यता का दूसरा नाम है - पालिथिन
इसने नियुक्त किया है कितने ही लोगों को
अपनी बेच - खरीद में
(और न जाने कितने लोगों को इसने बोरोज़गार किया है)
इसके एजेंट हैं, उनके पेमेंट हैं
इसके कबाड़ हैं, वहाँ हड़ते हाड़ हैं
पालिथिन - पूँजीवाद की त्वचा है
यहाँ से वहाँ तक
गाँव से महानगर तक
.....
.....

जहाँ देखो वहाँ पालिथिन

जिधर देखो उधर पालिथिन।" [1]

विकास का मानवोपयोगी होना सबसे ज़रूरी है और इस तरह के विकास से आर्थिक जीवन मूल्यों का संरक्षण हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से इक्कीसवीं सदी में पहूँचकर भारत जैसे जनतंत्र का विकास कहाँ तक हो पाया है इसकी अंदाज़ा हमें हो जाता है। विकास तो हमें प्राप्त हुआ है लेकिन वह सकारात्मक नहीं रहा, क्योंकि इस विकास के केंद्र में मनुष्य एवं जीवन मूल्य नहीं था। सिर्फ अर्थ है।

निष्कर्ष

जीवन मूल्यों की दिशा को भटकानेवाले प्रमुख कारण के रूप में आजकल अर्थ को लिया जा सकता है। चार पुरुषार्थों में अर्थ की संकल्पना को भी रखा गया है। उसका प्रमुख लक्ष्य जीवन को बनाये रखने केलिए भौतिक संपत्ति को इकट्ठा करना होता है। वह भी धर्म पर अवलंबित होकर अर्थात् सही तरीके से कमाई करना आर्थिक जीवन मूल्यों की महत्त्वपूर्ण मुद्धा है।

अर्थशुचिता की बात समकालीन भारतीय मानव जीवन में काफी प्रासंगिक लग रहा है। क्योंकि यहाँ शासन उन लोगों के हाथ में हैं जो अर्थ पर अनियंत्रित अधिकार रखता है, और उनके जो अनुचित एवं गलत तरीके से धन संग्रह करके शक्ति शाली बनना चाह रहे हैं। हमारे यहाँ अर्थात् भारत में जो विकास कार्यक्रम चल रहा है वह मानवीयता के पक्ष में नहीं और बिलकुल एकपक्षीय है। विकास का मतलब संपूर्ण जनता के पूरे जीवन स्तर में आनेवाले सकारात्मक एवं

1. ज्ञानेन्द्रपति - गंगातट - पृ - 96 -97

कल्याणकारी परिवर्तन से है। मगर आजकल अल्पसंख्यकों एवं धनवानों के पक्ष में विकास आगे बढ़ रहा है और बहुसंख्यकों को इससे नुकसान पहूँच रहा है। मानव जीवन के हर स्तर पर अब अर्थ का सर्वाधिकार हो गया है। मनुष्य - मनुष्य के बीच का संबध टूट रहा है। मानवीयता का भी हाशिएकरण हो गया है। अब जीवन स्तर का नियामक एवं निर्णय उपभोग कर रहा है। उपभोग की सीमाएँ निर्धारित नहीं है तो भी प्रकृति के संसाधनों की परिधि निश्चित है। अब कृत्रिमता का आगमन एकदम आसान बन गया। जीने की आसान तरीकाएँ ढूँढ़कर अब मनुष्य के हाथ में पैसा बच रहा है लेकिन ज़िंदगी नहीं। समकालीन कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से धन केंद्रित मानव समाज में जीवन मूल्यों के प्रति जागृति पैदा करने का काम किया है। जीवन के नियंता के रूप में पैसे को नहीं बल्कि मानवीयता को रखने की सलाह दे रही है। उनके हिसाब से ऐसे करने पर आर्थिक जीवन मूल्यों का संरक्षण कर पाने में हम कामयाब बन सकेंगे।

****

उपसंहार

उपसंहार

किसी भी साहित्य मानव सापेक्ष्य होता है। उसका लक्ष्य मानव जीवन का कल्याण है। साहित्य की सार्थकता भी मानव जीवन के साथ उसका जुड़ाव है। कभी भी वह मूल्यहीन नहीं होता। जब वह मूल्यहीन होता है तब उसका जीवन से संबंध मिट जाता है। कहीं भी साहित्य जीवन को नकारात्मक दृष्टि से नहीं देखता। यही साहित्य की सफलता है उसकी संप्रेषणीयता है। इसलिए मानव जीवन में उसका प्रभाव सदा विद्यमान है। यह बात कविता के संदर्भ में भी मायने रखती है। कविता भी वह साहित्यिक विधा है जिसका मानव जीवन के साथ गहरा संबंध है। इसमें ताल है, लय है, प्यार है, ममता है, न्याय है, नीति है, दया है, करुणा है। अर्थात् जीवन के सभी मूल्य सन्निहिति है। समय - समय पर मानव जीवन में घटित होनेवाली सभी असंगतियों एवं विसंगतियों के प्रति प्रतिक्रिया जताना कविता अपना कर्तव्य समझती है। इसमें समकालीन कविता एक कदम आगे है। जीवन मूल्य के संदर्भ में समकालीन हिंदी कविता पर संपन्न प्रस्तुत अध्ययन इस तथ्य को प्रमाणित करता है।

समकालीन हिंदी कविता वह प्रतिरोधी स्वर है इसका प्रभाव मानव जीवन के सभी पक्षों पर पड़ा है। मानवीयता के स्थान पर पाशविकता को, मानवीय संबंधों के स्थान पर धन को, धर्म के स्थान पर अर्धम को, संस्कृति के स्थान पर उपभोग को प्रमुखता देनेवाले आज के ज़माने में प्यार, ममता, दया, करुणा, अहिंसा, निस्वार्थता, निष्कपटता आदि मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा समकालीन

कविता का मुख्य स्वर है। आज हम एक ऐसे ज़माने में जीने के हिमायती है कि जहाँ माँ - बाप केलिए बन रहे वृद्ध आश्रमों की संख्या मे वृद्धि हो रही है, बिलकुल आधार हीन एवं छोटी- छोटी बातों को लेकर एक दूसरे के बीच खाइआँ पैदा करनेवाले पति - पत्नियों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई है, प्रेम के नाम लड़कियों पर अत्याचार करनेवालों की संख्या भी बढ़ रही है, पैसों केलिए दोस्तों को, धन - दौलत केलिए भाई -बहन को मारनेवालों की संख्या में वृद्धि नज़र आती है। सुशिक्षित होकर भी अपने समाज के कायदे - कानून को पैरों तले कुचलनेवाले युवा पीढ़ियों की संख्या में वृद्धि हुई है। सभी नियम कानून जानकर भी जनता के साथ छल करनेवाले उन्हें धोखा देनेवाले कर्मचारियों की संख्या बढ़ रही है। सभी अधिकारों के हिस्सेदार जनता को उन अधिकारों से दूर करनेवाले शासकों की संख्या भी आगे बढ़ रही है।

ऐश और आराम परस्त जीवन जीने में मज़ा लेनेवाली आज की जनता के आगे माँ - बेटे, भाई - बहन, बाप- बेटी जैसे रिश्ते एकदम अर्थहीन बन चुका है। इसलिए हमें इन बुरी खबरों से गुज़रना पड़ रहा है कि भाई ने बहन पर यौन आक्रमण किया, बाप - बेटी पर, बेटा माँ पर आदि। इन सबके पीछे एक ही कारण है कि आज स्त्री का स्वरूप बदल गया वह केवल काम तृष्णा बुझाने का साधन मात्र रह गई है। इसके प्रचार - प्रसार में सभी सामाजिक माध्यम भी बहुत आगे निकल चुके हैं। नैतिक मूल्य संबंधी परिकल्पना अब बदल चुकी है। सदाचार के नाम पर संग्राम छोड़नेवाले खुद दुराचारी एवं आचरण शून्य स्थापित होते हैं। हर कहीं पैसा है। एक प्रकार की होड है। शिक्षा प्रदान करनेवाले ही एक दूसरे के प्रति हीनता एवं श्रेष्ठता ग्रंथी बनाए रखते हैं तो आनेवाली पीढ़ी में आचरण की

शुचिता की कामना से कोई प्रयोजन नहीं। विद्यार्थियों को सही मार्ग दर्शन देनेवाले ही उनके दुर्व्यवहार को छुपाने या समर्थन देने में शामिल है तो समाज का कल्याण कैसे संभव हो पाएगा।

अब हमारा समाज एक ऐसी व्यवस्था गढ़ने में कड़ी मेहनत कर रहा है कि जहाँ अच्छाइयों की नहीं बल्कि मात्र बुराईयों की जीत संभव हो। इसका प्रभाव वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक पक्षों पर हम देखते हैं। जीवन मूल्य की परिकल्पना श्रेष्ठ आचरण को महनीयता दे रही है। जीवन सदा गतिमान होता है। इसलिए इसमें परिवर्तन की गुंजाइश है। क्योंकि समय एवं परिस्थितियों के अनुकूल सब में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। अब जो व्यवस्था बन रही है यह भी इसी परिवर्तन का प्रतीक है। यह परिवर्तन जीवन - मूल्यों में भी हो रहा है। लेकिन उसका आधार सनातन एवं चिरस्थायी है। चाहे जितने भी परिवर्तन आयें इन मूल्यों को बदलना मानव जीवन केलिए चुनौती बन जाती है। भारत पुरुषार्थ चतुष्ट्य को मानता है, लेकिन आज के माहौल इसमें भी बदलाव लाया है। विज्ञान एवं तकनीक से मनुष्य कुछ ज़्यादा भौतिक बन गए। मनुष्य अपनी संवेदनाओं के गुलाम है और सबसे बड़ी कमी है सदा आनंद की प्रतीक्षा रखना। अति भौतिकता ने उन्हें केवल आनंदित होना ही नहीं बल्कि आनंद को प्राप्त करने एवं बनाये रखने में मानवीयता को खोने का मार्ग दिखलाया। अब उसमें वह डर नहीं जो मनुष्य को कुकर्म करने पर होता था।

आज का युग विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी द्वारा प्रायोजित है। इसका प्रभाव जीवन के हर क्षेत्र पर पड़ता है, संस्कृति, धर्म, भाषा, राजनीति आदि सभी सामाजिक पहलुओं पर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी ने अपना कब्जा जमाया है। परिणाम स्वरूप हम

किसी अद्वितीय जगत् की कल्पना भी नहीं कर सकते और दिव्य को भी मानवीय धरातल पर लाने की कोशिश में लगे रहते हैं। फलस्वरूप आज मानव जीवन से विश्वास, दया, करुणा, अहिंसा, सत्य, धर्म आदि सब कुछ छूट गया है और व्यक्ति अपनी आचरण हीनता को ही श्रेष्ठता मानने लगा है। चार पुरुषार्थ व्यक्ति के आचरण की सभ्यता एवं जीवन की शुचिता, पवित्रता पर ज़ोर देनेवाले है। मोक्ष की प्राप्ति केलिए धर्म, अर्थ, काम की ज़रूरत है। धर्म मनुष्य को कुकर्मों से बचाता है। अर्थ जीवन की सुख सुविधाओं की उपलब्धि करवाता है। काम इन्द्रिय निग्रह को साकार करता है। आजकल इन सब व्याख्याओं का स्थान केवल पुस्तकीय पन्नों तक सीमित है। आज कुकर्मी को धार्मिक मान रहे हैं। अर्थोपलब्धि की लालच में पड़कर मनुष्य अपने सभी मानवीय गुणों से दूर हो गया है। काम के संदर्भ में एकदम खुला छूट मिल गया है। समकालीन मानव जीवन इन विषमताओं एवं विसंगतियों का खज़ाना है। इनसे मुक्ति पाने केलिए जीवन-मूल्यों की पुनःस्थापना, उसका पालन एवं संरक्षण अनिवार्य है। समकालीन हिंदी कविता इसी चाहत के साथ हमारे सामने उपस्थित है।

समकालीन हिंदी कविता में वे सारे तत्त्व मुखरित हैं जो विश्वमानवीय कल्याण केलिए आवश्यक हो। यह कविता सामाजिक बुराइयों को दूर करके एकता की पुनः स्थापना पर ज़ोर दे रही है। इसका उद्धेश्य मानव जीवन को खण्डित करना नहीं बल्कि एक सूत्र में वाँधना है। जहाँ जातिगत, धर्मगत, वंशगत, लिंगगत, वर्ण एवं वर्गगत भेदभाव नहीं होगा, जहाँ मनुष्य मनुष्य के बीच सिर्फ प्यार एवं जुडाव का माहौल बना रहेगा। धर्म को संकुचित नज़रिए से नहीं बल्कि विशाल मानसिकता से देखने की संस्कृति बनेगी। चीज़ों का उपभोग एवं मनुष्य से प्यार

होगा। केवल अर्थकेंद्रित आनंद मात्र नहीं बल्कि सहज, स्वाभाविक एवं स्वच्छ मानसिक आनंद को भी महनीयता प्राप्त होगी। जहाँ शासक शोषक नहीं बल्कि जनता का रक्षक बन जाएगा। न्याय व्यवस्था की आँखें निर्दोष के आगे नहीं गुनेगार के आगे बंद रहेगी। पुलिस से आम आदमी नहीं गुंडे, चोर एवं कुकर्मी डरेंगे। एक व्यवस्थित एवं मूल्यों से अनुप्राणित समाज की स्थापना ही आज की सभी समस्याओं का समाधान है। यही समकालीन हिंदी कविता का सर्वोत्तम लक्ष्य है। इस लक्ष्य को साकार करने में समकालीन हिंदी कविता का योगदान अविस्मरणीय है।

समकालीन हिंदी कविता जीवन मूल्यों के माध्यम से एक नई जीवन दृष्टि दे रही है। उसका आधार मानवीयता है। इस दृष्टि को जन सामान्य तक पहुँचाने में प्रस्तुत शोध कार्य एक माध्यम बन जाएगा। जीवन मूल्य संबंधी अध्ययन हर समय एवं काल में प्रासंगिक है।

प्रस्तुत अध्ययन केलिए जीवन मूल्यें के जिन पहलूओं को लिया गया है, जैसे वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन - मूल्य, सांस्कृतिक जीवन मूल्य, राजनीतिक जीवन मूल्य और आर्थिक जीवन मूल्य आदि पर गहन अध्ययन की संभावना निहित है। यही नहीं प्रत्येक काल एवं रचनाओं के आधार पर भी जीवन - मूल्यों के अनुसंधान की गुंजाइश है।

****

संदर्भ ग्रंथ - सूची

संदर्भ ग्रंथ - सूची

(क) आधार ग्रंथ

अतिरिक्त नहीं - विनोदकुमार शुक्ल
वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2000

अनंतिम - कुमार अंबुज
राधाकृष्ण प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1998

अन्न हैं मेरे शब्द - एकांत श्रीवास्तव
आधार प्रकाशन
हरियाणा, प्रथम संस्करण - 1994

अनुष्टुप - अनामिका
किताबघर प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1998

अपनी केवल धार - अरुण कमल
वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली
तीसरा संस्करण - 1999

अबूतर - कबूतर - उदय प्रकाश
राधाकृष्ण प्रकाशन
नयी दिल्ली
प्रथम संस्करण - 1984

अस्पताल के बाहर टेलिफोन - पवन करण
राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2009

अक्षितिज सूरजमुखी का देश - प्रकाश दीक्षित
कोणार्क प्रकाशन
कपलानागर
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1984

आवाज़ - प्रभात त्रिपाठी
राधाकृष्ण प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1994

इसी दुनिया में - वीरेन डंगवाल
नीलाभ प्रकाशन
इलाहाबाद
प्रथम संस्करण - 1991

उतना ही हरा भरा - वीरा
शिल्पायन प्रकाशन
नयी दिल्ली, संस्करण - 2004

उसके सपने - चन्द्रकांत देवताले
वाणी प्रकाशन
दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1997

एक जन्म में सब - अनिता वर्मा
राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2003

एक भाषा हुआ करती है - उदय प्रकाश
किताबघर प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2009

एक समय था - रघुवीर सहाय
राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1995

क्यों विश्वास करूँ - सूरजपाल चौहान
वाणी प्रकाशन
दिल्ली, संस्करण - 2004

कवि ने कहा - ज्ञानेन्द्रपति
किताबघर प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2007

कहाँ मिलेगी कविता - सुनिता जैन
साहित्य प्रकाशन
दिल्ली, संस्करण - 1995

खत्म नहीं होती बात - बोधीसत्व
राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2010

खुरदुरी हथेलियाँ - अनामिका
राधाकृष्ण प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2005

गंगातट - ज्ञानेन्द्रपति
राधाकृष्ण प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2000

चट्टानों का जल गीत - वेणु गोपाल
शीर्षक प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1980

चौथा शब्द - परमानंद श्रीवास्तव
राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1993

चलने से पहले - हेमंत कुकरेती
वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1996

जागते रहो सोने वालो - गोरख पाण्डेय
राधाकृष्ण प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण

जादू नहीं कविता - कात्यायनी
वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2002

ठोस होते हुए - वीरेन्द्र सक्सेना
सुनील साहित्य सदन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1988

तुम ऋचा हो - शिवकुमार श्रीवास्तव
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1980

दिन एक नदी बन गया - रामदरश मिश्र
नाशनल पब्लिशिंग हाउस
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1984

देखा - अदेखा - लीलाधर मंडलोई
शिल्पायन
दिल्ली, संस्करण - 2002

देहांत से हटकर - कैलाश वाजपेयी
वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2010

नहीं लिख सका मैं - प्रभात त्रिपाठी
संभावना प्रकाशन
दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1981

नेपथ्य में हँसी - राजेश जोशी
राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1994

पिछला बाकी - विष्णु खरे
राधाकृष्ण प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1998

बारिश में भीगते बच्चे - रामदरश मिश्र
वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1996

बीज से फूल तक - एकांत श्रीवास्तव
राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2003

बीते कितने बरस - प्रयाग शुक्ल
वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1992

भीड़ सतर में चलने लगी है - रमणिका गुप्ता
रमणिका फाउडेशन
नयी दिल्ली, संस्करण - 2002

ये आकृतियाँ तुम्हारी - विजेन्द्र
कोणार्क प्रकाशन
दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1980

रात - पाली - विजयकुमार
वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2006

रात में हारमोनियम - उदय प्रकाश
वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1998

रिश्तों की पगडंडियाँ - रेखा मैत्र
वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2007

लिखे में दु:ख - लीलाधर मंडलोई
राधाकृष्ण प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2010

लोगबाग - इब्बार रब्बी
राधाकृष्ण प्रकाशन
दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1985

संपति - भवानीप्रसाद मिश्र
किताबघर प्रकाशन
दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1982

सलीब से नाव तक - रवीन्द्रनाथ त्यागी
पराग प्रकाशन
दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1983

सूर्य बनकर उगना है - राजेन्द्र कुमार वर्मा
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद
प्रथम संस्करण - 1995

हवाएँ चुप नहीं रहती - वेणु गोपाल
संभावना प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1980

हाशिए का गवाह - कूँवर नारायण
मेधा बुक्स
दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2009

होशियारपुर - विनोद भारद्वाज
वाणी प्रकाशन
दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1990

(ख) आलोचनात्मक ग्रंथ

अशोक के फूल - आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद
संस्करण - 1990

आधुनिक काव्य में - हुकुम चंद राजपाल
नवीन जीवन मूल्य भारतीय संस्कृत भवन
जालन्धर, संस्करण - 1972

आस्था और सौंदर्य - डॉ. रामविलास शर्मा
किताब महल
इलाहाबाद, संस्करण - 1958

ईश्वर और धर्म निरपेक्ष
संस्कृति - शंभूनाथ
आधार प्रकाशन
हरियाणा, प्रथम संस्करण - 1994
उत्तर आधुनिकता कुछ
विचार - संपादक - देव शंकर नवीन
सुशांत कुमार मिश्र
वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2000
कविता क्या है - विश्वनाथ प्रसाद तिवारी
राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1999
काव्यास्वाद के नव्य निकष - डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्र
नरेश प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2001
कुटज - हज़ारी प्रसाद द्विवेदी
लोक भारती प्रकाशन
इलाहाबाद, संस्करण - 2006
चिंतामणि भाग -1 - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
प्रकाशन संस्थान
नयी दिल्ली, संस्करण - 2007
नयी कविता - देवराज
वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1994

नयी कविता में
मूल्यबोध - शशि सहगल
अभिनव प्रकाशन
दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1976

पश्चिमीय आचारविज्ञान का
आलोचनात्मक अध्ययन - डॉ. ईश्वरचंद्र शर्मा
राजपाल एण्ड सन्ज़
दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1961

प्रयोगवाद और नयी कविता - डॉ. शंभूनाथ सिंह
समकालीन प्रकाशन
वाराणसी, संस्करण - 1966

बदलते मूल्य और आधुनिक
हिंदी नाटक - ओम प्रकाश सारस्वत
मंथन पब्लिकेशन्स
रोहतक, संस्करण - 1984

भारत और पश्चिम
संस्कृति के अस्तिर संदर्भ - रामस्वरूप चतुर्वेदी
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद
प्रथम संस्करण - 1999

भारतीय संस्कृति - संतोष कुमार चतुर्वेदी
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद
प्रथम संस्करण - 2011

भारतीय सौंदर्यशास्त्र की
भूमिका - डॉ. नगेन्द्र
नाशनल पब्लिशिंग हाअस
नयी दिल्ली, संस्करण - 2005

माखनलाल चतुर्वेदी की
रचनाओं में मानव मूल्यों की
अवधारणा - डॉ. के. वनजा
सूर्य भारती प्रकाशन
नयी दिल्ली, संस्करण - 1995

मानव मूल्य और साहित्य - धर्मवीर भारती
भारतीय ज्ञानपीठ
काशी, प्रथम संस्करण -1995

मूल्य मीमांसा - गोविन्द चंद्र पाण्डे
राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी
जयपुर, संस्करण - 1973

विकास का समाजशास्त्र - श्यामाचरण दूबे
वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण -2001

विश्व की प्राचीन सभ्यता
एवं संस्कृति - ओम प्रकाश जोशी
कल्पना पब्लिकेशन
जयपुर, संस्करण - 2013

संस्कृति का दार्शनिक विवेचन- डॉ. देवराज
प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण - 1957

संस्कृति के चार अध्याय - रामधारीसिंह दिनकर
लोकभारती प्रकाशन
नयी दिल्ली, नवीन संस्करण - 2006

समकालीन कविता - वीरेन्द्र मोहन
पंचशील प्रकाशन
जयपुर, प्रथम संस्करण - 1987

समकालीन कविता के बारे में - नरेन्द्र मोहन
वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली, संस्करण - 1994

समकालीन कविता प्रकृति और परिवेश - रतन कुमार पाण्डेय
अनंग प्रकाशन
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2002

समकालीन कविता में मानव मूल्य - डॉ. हुकुमचंद राजपाल
शारदा प्रकाशन
नयी दिल्ली, संस्करण - 1999

समकालीन कहानी की पहचान - डॉ. नरेन्द्र मोहन
प्रवीण प्रकाशन
प्रथम संस्करण - 2002

समकालीन सिद्धांत और
साहित्य - विश्वंभरनाथ उपाध्याय
मॉक मिलियन कंपनी
ऑफ इंडिया लिमिटड
दिल्ली, संस्करण - 1976

समकालीन हिंदी साहित्य
आलोचना को चुनौती - डॉ. बच्चन सिंह
ओम प्रकाश बेरी
हिंदी प्रचारक प्रकाशन
वारणासी, प्रथम संस्करण - 1968

सौंदर्यमूल्य और मूल्यांकन - रमेश कुंतल मेघ
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2008

स्वाधीनताकालीन हिंदी
साहित्य में जीवन - मूल्य - डॉ. रामगोपाल शर्मा दिनेश
रिसर्च पब्लिकेशन्स इन
साशयल स्टडीज़
नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1993

श्रृंखला की कडियाँ - महादेवी वर्मा
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद, संस्करण - 2008

हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली - हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, खण्ड - 9
राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली, संस्करण - 1981

(ग) कोश ग्रंथ

भारतीय साहित्य कोश	-	डॉ. सुरेश गौतम, संजय प्रकाशन नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2008
मानव हिंदी कोश (दूसरा खण्ड)	-	संपादक रामचंद्र वर्मा, संस्करण - 1964
लघु हिंदी शब्द सागर	-	संपादकः करुणापति त्रिपाठी नागरी प्रचारिणी, सभा काशी, प्रथम संस्करण - 5100
विश्वविज्ञान संहिता	-	मोटूरी सत्यनारायण हिंदी विकास समिति नयी दिल्ली
संस्कृत हिंदी कोश	-	वामन शिवराम आप्टे मोतीलाल बनारसी दास प्रथम संस्करण - 1966
हिंदी साहित्य कोश	-	डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ज्ञान मण्डल लिमिटड प्रथम संस्करण -1958
Dictionary of Psychology	-	Phillip Lawrence Harriman Citadel Press, Inc U.S.A Edition - 1971
EncycloPaedia Americana	-	Volume -27, International Edition

EncycloPaedia Britanica - William Benton Publisher Volume - 22, Chicago, London

Encyclopaedia of Ethics and Logic - Edited by John H, Piet and Ayodhya Prasad, Cosmo publications. Volume - 4

New Standard Encyclopaedia- Volume - 16 Standard Education Corporation, Chicago

Webster's Third New International Dictionary - Volume - III, William Benton

(घ) पत्रिकाएँ

आलोचना पत्रिका अक्तूबर/ दिसंबर (www.rajkamal.prakashan.com)

जन विकल्प अंक 2, 2012

दस्तावेज़ अंक 2, 1994

नवनीत जुलाई 1984

वागर्थ - अंक 209, 2012

साक्षात्कार अंक - 191 - 192, 1995

साक्षात्कार जुलाई 1998

साहित्य अमृत, वर्ष - 9, अंक -12, जुलाई 2004

साहित्य अमृत वर्ष - 10 अंक -1, आगस्त 2004

साहित्य अमृत, वर्ष - 9, अंक - 7, 2004

(ङ) (i) अंग्रेज़ी ग्रंथ

Indian Village	-	E Lowell kelly, Prentice Hall of India PVT Ltd New Delhi - 1969
Indian Philisophy	-	S. Radhakrishnan Volume - I Oxford University Press New Delhi, Edition - 1929
Sociology A Systematic Introduction	-	H.M Johnson Allied Publishers Private Ltd Indian Edition - 1966
The Development of Social Thought	-	Bogardus Longmans Green and Co.N.Y London Toronto 4 th Edition - 1960
The Position of women in Hindu Civilization	-	Dr. A.S Altaker Sundarlal Jain, Motilal Banarasidas Delhi, 3rd Edition - 1962

(ii) मलयालम् ग्रंथ

अधिकारत्तिन्टे मतज़ल कावी, पच्चा, चुवप्प्	-	के. अरविंदाक्षन, डी.सी बुक्स संस्करण - 2004

अरविंद दर्शनम् - डॉ. के. वेलायुधन नायर
ट्रस्ट पब्लिकेशन्स
तिरुवनंदपुरम्, प्रथम संस्करण -1981

चाणक्य दर्शनम् विवर्तनवुम्
विशकलनवुम् - पी.आर.एस वर्मा, टी.टी तोमस,
एन.सी बुक्स, कोट्टयम
प्रथम संस्करण - 2016

परिणामत्तिन्टे परिणामम् - डॉ. एन.एन नंबूतिरी
डी.सी बुक्स, संस्करण - 1999

****